

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186818

UNIVERSAL
LIBRARY

राज्य का सैद्धान्तिक
और
व्यावहारिक स्वरूप

[State in Theory & Practice]

हेरल्ड जे० लास्की

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H323.4/L34R Accession No. #282

Author लारसी, हेरल्ड जे०/

Title राज्य का सैन्य हिम स्वल्प

This book should be returned on or before the date last marked below.

1956

8 JUN 1968 ✓

12 JUN 1968 ✓

21 MAY 1986

राज्य का सैद्धान्तिक

और

व्यावहारिक स्वरूप

(हेरल्ड जे० लास्की कृत *The State in Theory and Practice* ग्रंथ का हिन्दी रूपान्तर)

लेखक

हेरल्ड जे० लास्की

अनुवादक

विश्व प्रकाश,

एम० ए०, डी० पी० ए०

सम्पादक

के० आर० बम्वाल

एम० ए०, यू० पी० ई० एस०

सहायक प्रोफेसर; राजनीति विभाग

डी० वी० एस० राजकीय डिग्री कालेज;

नैनीताल ।

एस० चंद एंड कम्पनी

दिल्ली—जालन्धर—लखनऊ

Hindi translation of H. J. Laski's *State in Theory and Practice* Published in India by S. Chand Co., Delhi by arrangement with M/s. George Allen & Unwin Ltd., London.

दिल्ली—फव्वारा
लखनऊ—लाल बाग
जालंधर—माई हीरां गेट

प्रथम संस्करण, १९५६
मूल्य ७।।)

प्रकाशक :
गौरीशंकर शर्मा,
एस० चंद एण्ड कम्पनी,
फव्वारा, दिल्ली ।

मुद्रक :
उपसेन दिगम्बर
इण्डिया प्रिन्टर्स
एसप्लेनेट रोड, देहली-६

विषय-सूची

अध्याय	पृष्ठ
१. राज्य का दार्शनिक अवधारण	१
२. यथार्थ संसार में राज्य और शासन तंत्र	७१
३. राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय समाज	१३८
४. हमारी पीढ़ी के लिए दृष्टिकोण	१७४

प्रस्तावना

जिस समय जून, १९५० में मैक्स बेलोफ (Max Beloff) ने हेरल्ड जे० लास्की के सम्बन्ध में एक अभिनन्दनात्मक निबन्ध प्रकाशित किया था और उसे 'लास्की का युग' (The Age of Laski) शीर्षक दिया था, उस समय वे वर्तमान शताब्दी के एक प्रमुख राजनीतिक विचारक को केवल भावनापूर्ण श्रद्धांजलि ही समर्पित नहीं कर रहे थे। लास्की के प्रशंसकों की संख्या असीम है; उनके प्रतिपक्षी भी नितान्त नगण्य नहीं हैं। तथापि, सचाई यह है कि लास्की का स्थान आधुनिक युग के चोटी के मनीषियों में भली विधि सुरक्षित है। वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे और उन्होंने अपनी शतधार प्रतिभा के प्रकाश से जीवन के विविध क्षेत्रों को आलोकित किया था। वे एक महान् तत्त्वचिंतक, प्रवीण अध्यापक, प्रथम कोटि के राजनेता और ओजस्वी वक्ता थे तथा यदि उन्होंने कोई उच्च पद स्वीकार नहीं किया, तो इसका हेतु अवसरों का अभाव नहीं था। लेकिन भावी पीढ़ियां लास्की को मुख्य रूप से एक ऐसे राजनीतिक विचारक के रूप में ही याद करेंगी, "जिसने हमारे युग के कतिपय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों, राज्य के स्वरूप एवं व्यक्ति के साथ उसके सम्बन्धों, स्वतन्त्रता और समानता, प्रभुत्व-शक्ति और आदेश पालन तथा जनतन्त्रवाद, साम्यवाद एवं फासिज्म की विचारधाराओं पर लिखा था।" अतः लास्की के कुछ ग्रन्थों के हिन्दी अनुवादों का प्रकाशन एक ऐसा प्रयास है, जिसका राज्य-विज्ञान के भारतीय छात्रों को स्वागत करना चाहिए।

'राज्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप' को ठीक से समझने के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि लास्की ने इस पुस्तक को उस समय (१९३४ में) लिखा था, जब वे अपने बहुवाद (Pluralism) को पीछे छोड़ चुके थे। लास्की के बहुवाद पर बेंथम की परम्परा के व्यक्तिवादी उदारवाद (individualistic liberalism) का गहरा प्रभाव पड़ा था और इसके अधीन उन्होंने राज्य के उस परम्परागत दार्शनिक सिद्धान्त की जो राज्य को प्रभुत्व शक्ति का एकमात्र उपभोक्ता बना देता है, तीव्र आलोचना की थी। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक ऐसा सर्वशक्तिसम्पन्न निकाय हो जाता है, जिसके सम्मुख नागरिक को सदैव ही नतशिर रहना चाहिए। लास्की ने जॉन स्टुअर्ट मिल की परम्परा को कायम रखा था और इसी कारण हम उन्हें

यह घोषणा करते हुए पाते हैं कि “आपको अपना व्यक्तित्व सभी वस्तुओं के केन्द्र में रखना चाहिए।” उपयोगितावादी व्यक्तिवाद (utilitarian individualism) ने लास्की के ऊपर कितना प्रबल प्रभाव डाला था, यह उनके इस कथन से स्पष्ट है कि, “अन्ततोगत्वा व्यक्ति का पृथक्त्व ही वह आधार है, जहाँ से राजनीति के किसी उपयुक्त सिद्धान्त को प्रारम्भ होना चाहिए।” आजकल व्यक्ति राज्य के ऊपर अधिकाधिक आश्रित होता जा रहा है। लास्की इस प्रवृत्ति को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखते थे। यही कारण है कि बहुवादी (Pluralist) के नाते उन्होंने राज्य की प्रभुत्व शक्ति का प्रतिवाद करने का प्रयास किया।

यह सही है कि लास्की का अपने बहुवादी काल में भी समाजवाद की ओर प्रबल झुकाव था। उन्होंने १९४० में स्वयं कहा था, “मेरा विचार है कि मैं अपने छात्र-जीवन के अन्तिम दिनों से सदैव ही समाजवादी रहा हूँ।” तथापि, १९३१ तक लास्की का समाजवाद मार्क्सवाद में उनकी निष्ठा का परिचायक न होकर उनके मानवतावादी दृष्टिकोण का ही विशेष रूप से द्योतक था। वे पूँजीवाद की नैतिक दुर्बलताओं का स्पष्ट रूप से उद्घाटन करते थे और इस प्रकार मार्क्स एवं एंगेल्स की अपेक्षा स्वप्नदृष्टा समाजवादियों के अधिक निकट थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे मार्क्स की महती सफलताओं को अभिज्ञात करते थे लेकिन साथ ही यह दृष्टव्य है कि वे मार्क्सवादी दर्शन के कतिपय आधारभूत पहलुओं के आलोचक थे। उनका विचार था कि मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में मार्क्स का दृष्टिकोण भावात्मक, भौतिकवादी तथा अवास्तविक था। वे मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (materialistic interpretation of history) के सिद्धान्त को अस्वीकार करते थे और उसे एकांगी मानते थे। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि “सम्पूर्ण व्याख्या की आर्थिक पृष्ठभूमि पर बल देना बिल्कुल गलत है।” १९२० में उन्होंने लिखा था, “राजनीतिक दर्शन में विशाल जटिलता की स्वीकृति बुद्धिमत्ता का सूत्रपात है।” इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि वे हिंसक क्रान्ति की अपरिहार्यता तथा श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व के सिद्धान्तों का, जिनमें मार्क्सवादियों की दृढ़ आस्था होती है, निषेध करते थे।

संक्षेपतः, लास्की का प्रारम्भिक समाजवाद मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार नहीं था। यह ध्यान देने योग्य है कि जब उन्होंने यह तर्क किया था कि “राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की अनुचरी होती है” तब उन्होंने

मार्क्स को नहीं, प्रत्युत हैरिंगटन को उद्धृत किया था । लेकिन, बाद में मार्क्सवाद के प्रति उनका झुकाव इस प्रकार के वक्तव्यों में ध्वनित होता है, “आज यह सामान्य सी बात हो गई है कि सत्ता का वास्तविक स्रोत आर्थिक शक्ति के नियन्ताओं के हाथ में रहता है ।” यह स्पष्ट है कि १९३० तक लास्की का मस्तिष्क राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त की ओर आकृष्ट होने लगा था और वे उसे उस वर्ग का एक उपकरण मानने लगे थे जिसके हाथों में उत्पादन के साधन होते हैं । लेकिन वे यह बराबर कहते रहे थे कि सार्वभौम मताधिकार की वृद्धि के साथ-साथ राज्य सम्पत्तिहीन वर्गों की आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करता जा रहा है । “सम्पत्तिहीन नागरिक राज्य को इस बात के लिए विवश करता जा रहा है कि वह अपना न्याय सम्बन्धी अवधारण इस प्रकार विस्तृत करे कि उसमें सम्पत्ति के स्वामियों के हितों के साथ-साथ उसके अपने हित भी समाविष्ट हो जायें ।” वे राज्य की परिभाषा अब भी यह कहकर कर सकते थे कि “वह एक ऐसा संगठन है जो मानव समाज को अधिक से अधिक विस्तृत आधार पर सामाजिक न्याय प्राप्त करने में समर्थ बनाता है ।” और, लास्की का फेबियन ‘शनैः शनैः वाद’ में अब भी अटूट विश्वास था ।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब १९३१ में महान् आर्थिक संकट के विनाशक परिणाम दिखाई देने लगे थे, उस समय लास्की ने राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त को प्रायः पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया था । इंग्लैण्ड, अमेरिका और जर्मनी में इस संकट ने और इसके राजनीतिक परिणामों ने लास्की के सम्मुख राज्य के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर दिया । इंग्लैण्ड में १९३१ में श्रमिक सरकार के पतन ने और जर्मनी में नात्सीवाद के उत्थान ने यह निश्चित रूप से प्रमाणित कर दिया था कि राज्य का वास्तविक कार्य आर्थिक शक्ति के नियन्ताओं के हितों की रक्षा करना है ।

लास्की ने ‘राज्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप’ में राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त की व्याख्या की है । उन्होंने प्रचुर उदाहरणों तथा साम-सामयिक राजनीतिक घटना-चक्र के मार्मिक विश्लेषण द्वारा अपने इस कार्य में सराहनीय सफलता प्राप्त की है । वे अब इस निष्कर्ष पर पहुँच गए हैं कि, “मार्क्स के समय तक अधिकांश राजनीतिक चिंतन अनुपयुक्त था क्योंकि वह राज्य के प्रयोजनों को निश्चित करने में सम्पत्ति-सम्बन्धों के प्रबल प्रभाव को नहीं समझ सका था । राजनीतिक दायित्व का कोई उपयुक्त सिद्धांत तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि हम उसके प्रभाव को अच्छी तरह से समझ लें ।

लास्की ने 'राज्य का सिद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप' में सबसे पहले राज्य के दार्शनिक अवधारण की विस्तृत आलोचना की है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य समाज का एक ऐसा संगठन है जो "सर्वश्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियों को बनाए रखता है।" लास्की की शिकायत यह है कि राज्य का इस प्रकार का सिद्धान्त राज्य को अत्यधिक गौरव प्रदान कर कुछ ऐसा भ्रम उत्पन्न कर देता है मानो राज्य समस्त समूहों और वर्गों से ऊपर हो एवं अपने समस्त नागरिकों का निष्पक्ष एवं समान रीति से हितसाधन करता हो। वस्तुतः, आदर्शवादी विचारक राज्य के आदर्श स्वरूप का वर्णन करते हैं लेकिन यह राज्य के वास्तविक स्वरूप से काफी दूर है।

लास्की के अनुसार राज्य का वास्तविक स्वरूप यह है कि राज्य एक ऐसा राष्ट्रीय समाज है जिसके पास बल-प्रवर्ती शक्ति है और यह शक्ति कानूनी दृष्टि से समाज के प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह से ऊपर होती है। राज्य अपनी इसी सर्वोच्च बलप्रवर्ती शक्ति अथवा प्रभुसत्ता के कारण अन्य समस्त मानव-संवासी से भिन्न होता है। यह स्पष्ट है कि राज्य के सम्बन्ध में इस विचार को स्वीकार करते समय लास्की राज्य के अपने प्रारम्भिक बहुवादी दृष्टिकोण से अलग हट रहे हैं।

राज्य की यह सर्वोच्च बलप्रवर्ती शक्ति किन प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होती है? लास्की का उत्तर यह है कि "राज्य का प्राथमिक कर्तव्य समाज की उत्पादन प्रक्रिया को सुव्यवस्थित रखना है। ऐसा करते समय वह उन उत्पादन सम्बन्धों की रक्षा करता है जिन्हें यह प्रक्रिया आवश्यक कर देती है।" प्रत्येक समाज में ऐसे समूह अवश्य होते हैं जो उत्पादन प्रक्रिया के प्रति मूलतः भिन्न सम्बन्ध रखते हैं। एक ओर तो वे लोग होते हैं जिनके हाथों में उत्पादन के साधन होते हैं और इसलिए जो उत्पादन प्रक्रिया को इस प्रकार नियंत्रित करते हैं जिससे कि उन्हें अधिक से अधिक लाभ मिल सके। दूसरी ओर, वे व्यक्ति होते हैं जो उत्पादन के साधनों से और इसके परिणाम स्वरूप उत्पादन के लाभों से वंचित रहते हैं। इन समूहों में संघर्ष स्वाभाविक है और इन संघर्षों में राज्य तटस्थ नहीं रहता। उसकी बलप्रवर्ती शक्ति सदैव उस वर्ग की सेवा करती है, जो आर्थिक दृष्टि से प्रबल होता है।

लास्की ने उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के मार्क्सवादी भेद को स्वीकार करने के साथ-साथ यह मार्क्सवादी सिद्धान्त भी स्वीकार किया है कि कुछ अवसरों पर उनके बीच अन्तर्विरोध पैदा हो जाते हैं। यह

उस समय होता है जब कि उत्पादन के सम्बन्ध अर्थात् सम्पत्ति के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों का पूर्णरूप से सदुपयोग करने के मार्ग में एक बाधा बन जाते हैं। इस स्थिति में उत्पादन की शक्तियों से पूरा लाभ उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन करके ही उठाया जा सकता है। लेकिन, इन सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या करने के लिए यह आवश्यक होता है कि पहले का शासित वर्ग राज्य की प्रभुत्व-शक्ति को अपने हाथ में लेने का प्रयास करे। इन वर्गों के बीच इस प्रकार के संघर्षों के फलस्वरूप ही सामाजिक व्यवस्थाओं का उत्थान एवं पतन हुआ है। लास्की का कहना है कि राज्य आर्थिक वर्गों के इन संघर्षों में ऐसा तटस्थ उपकरण नहीं है “जो संघर्षरत समूहों से ऊपर उठा हो एवं उन पर निष्पक्ष रीति से विचार कर सके।” राज्य तो स्वभावतः एक ऐसी शक्ति है जो वर्तमान समाज-व्यवस्था के वर्ग-सम्बन्धों को यथावत् कायम रखना चाहती है।

संक्षेप में, लास्की के विचार से राज्य उस वर्ग के हाथों में एक उपकरण है, जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व है। समाज की सम्पूर्ण वैधानिक व्यवस्था एवं न्यायालयों आदि का एक ही उद्देश्य होता है और वह यह कि वे समाज के शासक वर्ग के हितों की रक्षा करते हैं। प्रचलित विचारधाराएँ और सामाजिक कल्याण व न्याय के सम्बन्ध में लोगों की मान्यताएँ आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग के स्वार्थों के साथ समीकृत होने लगती हैं। इस प्रकार, पूंजीवादी समाज में विधान पूंजीपति वर्ग के स्वार्थों की रक्षा करता है। राज्य का वर्गगत स्वरूप उस समय तक तो पृष्ठभूमि में पड़ा रहा जबतक कि पूंजीवाद निरन्तर विस्तार कर रहा था। जबतक मुनाफा कमाने की सम्भावनायें वृद्धि पर होती हैं, पूंजीपति श्रमिकों के साथ रियायतें कर सकते हैं। इस अवधि में पूंजीवादी समाज की ये विशेषताएँ होती हैं कि वह लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्रताओं एवं मतभेद को सहन कर सकता है। लेकिन, पूंजीवाद तथा लोकतन्त्र का गठबन्धन यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि राज्य सम्पूर्ण समाज के कल्याण का और जनता की अधिकतम माँगों की संतुष्टि का प्रयास करता है।

लेकिन, जैसे ही पूंजीवाद का पतन प्रारम्भ हो जाता है और वह संकुचित होने लगता है, लोकतन्त्र और पूंजीवाद की मिश्रता में शिथिलता आ जाती है। लास्की के विचार से प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् से और विशेष रूप से १९३० के पश्चात् से पूंजीवाद का पतन-काल प्रारम्भ हो जाता है। लास्की का विचार था कि १९३० का संकट ऐसा मामूली वाणिज्य संकट नहीं था जिसके पश्चात् पूंजीवाद की समृद्धि का काल पुनः प्रारम्भ हो जायेगा। उनके मत से

तो यह पूंजीवादी व्यवस्था का अन्तिम और अनिवार्य विनाश था। अतः, उन्होंने यह मान लिया था कि पूंजीवादी लोकतंत्र के अन्दर उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों का अन्तर्विरोध अब एक ऐसी सीमा पर पहुँच गया था जब कि समाज की उत्पादन-शक्तियों का पूर्ण सदुपयोग सम्भव नहीं रहा था और वर्तमान वर्ग-सम्बन्धों में जीवन-स्तर की वृद्धि असम्भव हो गई थी। उत्पादन-शक्तियों के सदुपयोग और जीवन-स्तर की वृद्धि के लिए समाजवाद की स्थापना आवश्यक थी।

लेकिन, समाजवाद पूंजीवाद का स्थान किस प्रकार ले सकता है ? लास्की का उत्तर है कि समाजवाद शनैः शनैः कार्य करने की फेबियन पद्धति के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। राज्य से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह अपने हस्तक्षेप द्वारा मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति को सामाजिक आवश्यकताओं के आश्रित कर देगा और इस प्रकार धीरे-धीरे समाजवाद की स्थापना करेगा। यह आशा इस गलत धारणा पर आधारित होगी कि राज्य वर्ग-संघर्ष की स्थिति में निष्पक्षता से कार्य कर सकता है। अपने Parliamentary Government in England (इंग्लैण्ड का संसदीय शासन) नामक ग्रन्थ में लास्की ने यह प्रदर्शित किया था कि इंग्लैण्ड में संसदीय शासन कितनी संकटापन्न स्थिति में पहुँच गया है। Parliamentary Government in England में लास्की ने यह दिखाने का प्रयास किया था कि संसदीय शासन उस समय तक तो सुचारु रूप से संचालित होता रहा था जबतक कि इंग्लैण्ड के प्रमुख राजनीतिक दल समाज-रचना के मूलाधारों के सम्बन्ध में एकमत थे और वे वर्तमान वर्ग-सम्बन्धों को यथावत् कायम रखना चाहते थे। लेकिन इंग्लैण्ड में एक शक्तिशाली श्रमिक दल के आविर्भाव ने जो समाजवाद की स्थापना के लिए वचनबद्ध है, स्थिति को बदल दिया है। अब समाज रचना के मूलाधारों के सम्बन्ध में समझौता सम्भव नहीं है। लास्की को भय था कि यदि श्रमिक दल ने सत्ता प्राप्त करने की चेष्टा की, तो वे लोग जो स्थिति को यथावत् बनाए रखना चाहते हैं, संसदीय शासन के सिद्धान्तों की हत्या तक कर देंगे और अवैधानिक उपायों का आश्रय लेंगे। यदि श्रमिक दल ने सत्ता प्राप्त कर ली और अपने कार्यक्रम को गम्भीरता से पूरा करने की चेष्टा की, तो हो सकता है कि उसके विरोधी हिंसा पर उतर आयें।

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अपने संकट-काल में पूंजीवाद उत्पादन के साधनों के स्वामियों के विशेषाधिकारों को त्यागने की अपेक्षा लोकतन्त्र का दमन करना अधिक पसन्द करेगा। १९३८ में लिखित एक

निबन्ध में लास्की ने लिखा था, “जब पूँजीवादी लोकतन्त्र अपने संकुचन-युग में प्रवेश करता है तो या तो लोकतन्त्र पूँजीवाद को बदल देगा या पूँजीवाद लोकतन्त्र का हनन कर देगा।”

लास्की जर्मनी में नात्सीवाद के उत्कर्ष को राज्य विषयक अपने इस दृष्टि-कोण की सत्यता का एक उदाहरण समझते थे। वस्तुतः उनकी राय तो यह थी कि “फासिज्म पूँजीवाद के संकुचन युग में पूँजीवाद की संस्थागत अभिव्यक्ति है,” और इसलिए वह, “एक ऐसी महत्त्वपूर्ण संघटना है जो राज्य के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करती है।” फासिज्म ने यह स्पष्ट कर दिया था कि राज्य एक ऐसा उपकरण है जिसे उत्पादन के साधनों के स्वामी अपने विशेषाधिकारों की रक्षा करने में प्रयुक्त करते हैं। फासिज्म ने उत्पादन के साधनों के स्वामियों एवं नियन्ताओं को असीम शक्ति देदी और विरोधी दलों, श्रमिक संघों, भाषण स्वातंत्र्य तथा स्वतन्त्र चुनावों का अन्त कर एवं चर्च, शिक्षा संस्थाओं, समाचार पत्रों, रेडियो व सिनेमा पर शासन का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लोकतन्त्र का हनन कर दिया था। जहाँ फासिज्म “स्वतन्त्र वाणिज्य” में हस्तक्षेप करता प्रतीत होता था, वहाँ यह हस्तक्षेप “पूँजीवाद के उत्थान के लिए पूँजीपतियों का हस्तक्षेप था।” इसी प्रकार फासिस्ट राज्यों की आक्रामक विदेश नीति और साम्राज्यवादी कुचेष्टाओं का भी यही उद्देश्य था कि जनता का ध्यान घरेलू कठिनाइयों से दूर हट जाये और वह जीवन स्तरों के अधःपतन को स्वीकार कर ले।

पूँजीवाद के ‘क्रमिक क्षय’ और पूँजीपति वर्ग के अन्तिम रक्षक के रूप में फासिज्म के अवतरण ने लास्की के मन में कुछ निराशा की भावना उत्पन्न कर दी थी। वह समाजवाद के प्रादुर्भाव के लिए एक हिंसक क्रान्ति की अपरिहार्यता का संकेत करती प्रतीत होती थी। अब उन्होंने मार्क्स के इस सिद्धान्त को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया था कि राजनीतिक परिवर्तनों में वर्ग-संघर्ष आधारभूत तत्व है और इन संघर्षों में राज्य की शक्ति निश्चिततः सम्पत्तिशाली वर्ग के पक्ष में प्रयुक्त होती है। लास्की के विचार से यह कहने से कोई लाभ नहीं है कि हिंसा और संघर्ष की तुलना में समझौता और विवेक अधिक श्रेयस्कर हैं। यह कोई अस्वीकार नहीं करता, लेकिन “विवेक के समर्थकों द्वारा विवेक के पक्ष में प्रस्तुत की गई युक्ति की मुख्य दुर्बलता यह है कि वे परिस्थितियाँ जिनके अन्दर विवेक सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है उस व्यवस्था में अनुपस्थित हैं जिसके अन्दर हम निवास करते हैं।” “कटु सत्य यह है कि जिन लोगों के पास शक्ति है, वे उसे त्यागने का इरादा नहीं

रखते ।" लास्की ने 'राज्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप' में क्रान्ति को सामाजिक परिवर्तन का आवश्यक साधन माना है । "आर्थिक विकास के इस युग में वर्गों के अन्तर केवल शक्ति द्वारा ही सुलझाये जा सकते हैं ।" वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे क्रान्ति का समर्थन या उसका औचित्य सिद्ध नहीं कर रहे हैं । "इस पुस्तक का उद्देश्य औचित्य सिद्ध करना नहीं, प्रत्युत विश्लेषण करना है ।" वे यहाँ तक कह देते हैं कि आजकल जिन परिस्थितियों में शासन का संचालन होता है, उनको देखते हुए क्रान्ति की सफलता संदिग्ध है । वस्तुतः श्रमिक क्रान्ति की कोई चेष्टा जहाँ समाजवाद का पथ प्रशस्त कर सकती है, वहाँ यह भी सम्भव है कि वह बर्बरता की ओर ले जाये ।

उस दल की जो समाज के आर्थिक मूलाधारों को बदलना चाहता है क्या नीति हो, इस प्रश्न का विवेचन करते हुए लास्की का कहना है कि "उस दल को जहाँ तक हो सके एक ऐसी वैधानिक व्यवस्था कायम रखनी चाहिए जो उसे मुक्त रूप से अपनी शक्ति का संग्रह करने की अनुमति देती हो ।" जर्मनी में हिटलर के उदय के पूर्व वहाँ के साम्यवादी दल ने जिस विघटनकारी नीति का अनुसरण किया था, लास्की ने उसका प्रतिवाद किया है । जर्मनी के साम्यवादी दल ने वहाँ के सामाजिक लोकतन्त्रवादियों को सामाजिक फासिस्ट समझ लिया था और उनके विरुद्ध संघर्ष किया था । लास्की के विचार से यह जर्मन साम्यवादी दल की एक भयंकर भूल थी । इस प्रकार की नीति का केवल यह फल निकला कि श्रमिक वर्ग के अन्दर फूट पड़ गई और फासिज्म की विजय का पथ प्रशस्त हो गया । लास्की के मत से सही नीति यह होती कि उपलब्ध वैधानिक अवसरों का पूरा सदुपयोग किया जाता और समस्त श्रमिक दलों का एक संयुक्त मोर्चा बनाया जाता । केवल यही वह उपाय था जिसके द्वारा श्रमिक वर्ग स्वयं को तैयार कर सकता था और अनिवार्य संघर्ष के उपस्थित होने पर उसका डट कर सामना कर सकता था । यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि १९३४ में लास्की ने मार्क्सवाद को प्रायः पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया था, लेकिन फिर भी उदारवाद उनके चिंतन का अभिन्न अंग बना रहा था और यह इस तथ्य से भली प्रकार प्रकट हो जाता है कि लोकतन्त्रात्मक उपायों में उनकी दृढ़ आस्था थी । तथापि, उस संघर्ष के सम्बन्ध में जो उन्हें अपरिहार्य मालूम पड़ता था, वे बड़े निराश थे । उनका विचार था कि समाजवादी समाज की स्थापना क्रांतिकारी संघर्ष के एक कष्टपूर्ण युग के उपरान्त ही हो सकती थी । उन्हें सारे संसार में बर्बरता के एक ऐसे युग के आविर्भाव के चिन्ह दिखाई देते थे जिसमें स्वतन्त्रता सर्वत्र निराहत होगी ।

उन्होंने निराश भाव से सिद्धान्तहीन अधिनायकवाद के तमोयुग की भविष्यवाणी की थी। उन्हें भय था कि इंगलैण्ड जैसा देश भी निरंकुशता की इस सर्वग्रासी लहर से अछूता न रह सकेगा। इस प्रकार वे हर्बर्ट ए० डीन के शब्दों में, “क्रान्ति तथा अधिनायकवाद के यदि प्रतिपादक नहीं तो पैगम्बर अवश्य हो जाते हैं।”

‘राज्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप’ में लास्की ने इसी विचारधारा को विस्तार से व्यक्त किया है। इस संक्षिप्त प्रस्तावना में लास्की की विचारधारा की आलोचना करना सम्भव नहीं है। अपनी बाद की रचनाओं में लास्की ने अपने कुछ विचारों का संशोधन किया था। उदाहरण के लिए उन्होंने ‘राज्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप’ में ब्रिटिश लोकतन्त्र को पूँजीवादी प्रभुत्व का एक आवरण मात्र माना है लेकिन अपनी बाद की कृतियों में उसके गुणों की सराहना की है। उन्होंने फासिज्म के विषय में भी अपने विचारों को बदल दिया था। युद्धकाल की अपनी रचनाओं में लास्की ने मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त का प्रतिवाद किया था कि फासिज्म केवल पतनशील एकाधिकार पूँजीवाद (monopoly capitalism) की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। तथापि, लास्की ने मार्क्सवाद के उन कुछ मूल सिद्धान्तों को जो उनके राजदर्शन के अभिन्न अंग बन गए थे, नहीं त्यागा। लास्की की मुख्य असफलता यह थी कि वे अपने मार्क्सवाद एवं प्रारम्भ के बेंथमवादी उदारवाद के बीच समन्वय की स्थापना कर एक सुसंगत और सांगोपांग राजनीतिक दर्शन का विकास नहीं कर सके। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि ‘राज्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप’ में राज्य की प्रकृति, लोकतन्त्र के स्वरूप और सामाजिक परिवर्तन की साधन-प्रणाली के सम्बन्ध में लास्की के परिपक्व विचार सन्निविष्ट हैं। यद्यपि हमें उनके सामान्य दर्शन में कुछ असंगतियाँ दृष्टिगत होती हैं, लेकिन फिर भी हमें यह समझ लेना चाहिए कि वे जो कुछ कहते हैं, वह महत्त्वपूर्ण है। अतः यह निश्चित है कि इस पुस्तक का अनुशीलन एक फलदायी अनुभव होगा।

इसलिए, यह हर्ष का विषय है कि लास्की के ‘The State in Theory and Practice’ ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। वे लोग जो लास्की की कृतियों को मूलरूप में नहीं पढ़ सकते, इस हिन्दी-संस्करण से उनके कुछ आधारभूत विचारों को समझने में सहायता पा सकते हैं। यह अनुवाद मेरे भूतपूर्व शिष्य श्री विश्वप्रकाश ने तय्यार किया है। वे इसके पूर्व

ब्रास्की की 'The Parliamentary Government in England' (इंग्लैण्ड का संसदीय शासन) पुस्तक का भी सफल हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर चुके हैं। मैं आशा करता हूँ कि भारतीय विश्वविद्यालयों के शिक्षक एवं छात्र तथा सामयिक समस्याओं के सुचारु अनुशीलन में रुचि रखने वाले अन्य व्यक्ति इस प्रकाशन का उचित स्वागत करेंगे।

—के० आर० बम्बाल

अध्याय : १

राज्य का दार्शनिक अवधारणा

(१)

जब से प्लेटो ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया कि न्याय शक्ति-शालियों का शासन है तभी से लोग राज्य का समर्थन उन महान् उद्देश्यों के आधार पर करते रहे हैं जिन्हें वह सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है। मानव-मन वस्तुतः इस विचार से विद्रोह करता है कि बल-प्रवर्तक-शक्ति के आधिपत्य का समर्थन किया जा सकता है, बिना इस बात पर ध्यान दिये हुए कि इस शक्ति का प्रयोग किन उद्देश्यों के लिए होता है। अरस्तू की भांति हमारा यह तर्क है कि राज्य का अस्तित्व श्रेष्ठ जीवन के उन्नयन के लिए है। हॉब्स के साथ हमारा यह आग्रह है कि उस सुरक्षा के बिना जिसकी व्यवस्था राज्य नागरिकों पर जीवन-मरण के अपने अधिकार द्वारा करता है, सम्पत्ता का अस्तित्व असम्भव है। हम लॉक के इस कथन से सहमत हैं कि हमें जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के वे अधिकार, जिनके शान्तिपूर्वक उपभोग के बिना हमारा जीवन दयनीय हो जाता है, एक ऐसी सामान्य नियम-विधायक संस्था द्वारा ही उपलब्ध हो सकते हैं जिसके विधि-निषेध सर्वमान्य हों। जिस प्रकार रूसो ने राज्य का निरूपण किया है, उससे सिद्ध होता है कि राज्य के नियमों का पालन करने से मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था से कहीं अधिक स्वतन्त्रता मिल सकती है। हीगेल ने एक प्रसिद्ध वाक्य में कहा है कि, “राज्य ईश्वर का वह स्वरूप है जो धरती पर विद्यमान है,” और उसका दावा है कि मनुष्य की सारी महत्ता राज्य के कार्यों में समाहित होने में ही निहित है।^१

जितनी गरिमायुक्त प्रशस्तियाँ राज्य को प्राप्त हुई हैं, उतनी किसी अन्य संस्था को नहीं, और यह जानना आवश्यक है कि उनका आधार क्या है। इन प्रशस्तियों का सम्बन्ध वास्तविक राज्यों से कदाचित ही होता है, यद्यपि ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब प्रशस्तिकार ने किसी वास्तविक समाज को ही अपने आदर्शों का मूर्त रूप मान लिया हो। अधिकतर ये प्रशस्तियाँ उन उद्देश्यों की प्रतिरक्षा हैं जिन्हें विचारक श्रेष्ठ समझता है और जिनकी पूर्ति, उसके विचार से

उस विशिष्ट समुदाय द्वारा ही हो सकती है, जिसे हम राज्य कहते हैं। इन उद्देश्यों का, राजनीति-दर्शन के इतिहास में, न्यूनाधिक स्थायी रूप रहा है। ये उद्देश्य उन दशाग्रों को स्थिर करने का प्रयास हैं जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक स्त्री-पुरुष अधिकाधिक आत्मोन्नति कर सकता है। क्योंकि विभिन्न व्यक्ति परस्पर-विरोधी इच्छाओं की संतुष्टि के लिए विभिन्न मार्गों का अवलम्बन करते हैं, इसलिए समाज में एक ऐसे सामान्य संगठन का होना आवश्यक है जो प्रत्येक की इच्छा-पूर्ति का समुचित मार्ग निर्धारित करे। इस संगठन का रूप कैसा हो, इस पर तीव्र मतभेद है। किस आधार पर यह कार्य करे, इसका अधिकार-क्षेत्र क्या हो, ये ऐसे प्रश्न हैं जिन पर मतैक्य अब तक नहीं हो पाया है। किन्तु दार्शनिक अराजकतावादी को छोड़कर (और राजनीति दर्शन में यह महाशय बहुत कम दिखाई पड़े है) समाज में एक ऐसी बल-प्रवर्तक शक्ति की आवश्यकता को लगभग सबने स्वीकार किया है जो सामाजिक आचरण के नियम स्थिर करे। मनुष्य की प्रकृति को जानते हुए, उपर्युक्त व्यवस्था का विकल्प वैयक्तिक निर्णयों से उत्पन्न एक ऐसी अव्यवस्था होगी जो सुनिश्चित जीवन के लिए घातक बन जायगी। राज्य से सुरक्षा मिलती है और सुरक्षा पर ही मनुष्यों की इच्छाओं की संतुष्टि निर्भर है।

परन्तु समाज में एक बल-प्रवर्तक शक्ति की आवश्यकता पर जिसका आज्ञा-पालन समान रूप से होता है, बल देने से समस्या का सूत्रपात होता है, न कि उसका समाधान। लोग उस शक्ति का आज्ञा-पालन केवल आज्ञा-पालन के लिए नहीं करते। वे उसका आज्ञा-पालन करते हैं उन उद्देश्यों के लिए जो, उनके मत से, राज्य के कार्यों द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। वे राज्य के आदेशों को उन ध्येयों की प्राप्ति के लिए शिरोधार्य करते हैं जिन्हें वे उन आदेशों में निहित समझते हैं। वे राज्य के इन आदेशों की परख उन संतुष्टियों की कसौटी पर करते हैं जिनकी वे जीवन से अपेक्षा करते हैं; और कभी-कभी वे उन आदेशों को इसलिए तिरस्कृत कर देते हैं कि उनसे उनकी आकांक्षाएँ तृप्त नहीं होतीं। गोया, आज्ञा-पालन मानव-जाति की सामान्य प्रवृत्ति है। पर ऐसे सीमान्त दृष्टांत घटित होते रहते हैं जिनमें आज्ञोल्लंघन का निर्णय खेदपूर्वक किया जाता है और सोत्साह उसकी प्रतिरक्षा की जाती है।

इन सीमान्त दृष्टांतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोग राज्य का आज्ञा-पालन केवल सुव्यवस्था के लिए नहीं करते, वरन् उसके निमित्त भी जो, वे समझते हैं, वह सुव्यवस्था सम्भव बनाती है। यथार्थ में वे राज्य का परीक्षण उन संतुष्टियों के आधार पर करते हैं जिन्हें, उनकी राय में, राज्य को सुलभ बनाना चाहिए। निस्सन्देह उनके निर्णय समय और स्थान के साथ परिवर्तित

होते रहते हैं। जो समुचित आशाएँ लोग राज्य से रखते हैं वे अनुभव से ही उत्पन्न होती हैं; किसी समाज की एक समय की माँगों, किसी अन्य समाज की अन्य समय की माँगों से भिन्न होती हैं। परन्तु यह अन्तर्भाव स्पष्ट है कि समाज में बल-प्रवर्तक शक्ति का प्रयोग अप्रतिबंध नहीं होता। इसका प्रयोग नियमानुसार ही होना चाहिए। इसे उन उद्देश्यों की अवश्य पूर्ति करनी चाहिए जिसे इसके कार्यों पर आश्रित नागरिक मूलभूत मानते हैं। फलतः राज्यों की प्रकृति के विषय में किए गए किसी भी अनुसंधान का अभिप्राय जितना उन ध्येयों की जाँच करना है जिनके आधार पर शक्ति-प्रयोग का औचित्य सैद्धान्तिक रूप से सिद्ध किया जाता है उतना ही राज्य-सत्ता के अर्जित लक्ष्यों की जाँच करना भी है। राज्य का औचित्य उसके राज्य होने मात्र से नहीं सिद्ध होता, अपने नागरिकों की दृष्टि में राज्य की कसौटी उसके कार्य हैं। उसके कार्यों को नागरिकों की स्वीकृति कहाँ तक प्राप्त होती है, यह नागरिकों द्वारा उन कार्यों के परिणामों के मूल्यांकन पर निर्भर है। नागरिकों को इस बात की उतनी चिन्ता नहीं होती कि राज्य के दार्शनिक उद्देश्य क्या हैं जितनी इस बात की कि राज्य की प्रक्रियाओं का उनके दैनिक जीवन पर क्या प्रभाव होता है।

एक दार्शनिक, बर्क की भाँति, राज्य को समस्त सदगुणों एवम् सब प्रकार की परिपूर्णता की प्राप्ति के लिए सांभोदारी भले ही कह ले। एक साधारण मनुष्य के लिए तो राज्य एक ऐसी शासन-व्यवस्था है जो उसकी उचित संतुष्टियों की आशा को पूर्ण करती है। गोया, दार्शनिकों ने राज्य के आदर्श रूप का चित्रण करने और उसके उपलक्षणों को वास्तविक राज्यों के अनुभव से सम्बद्ध कर देने पर ही संतोष किया है। राज्य का वह आदर्श रूप, बहुत हद तक, दार्शनिक की वह व्यक्तिगत अवधारणा है, जिसे, अपने अनुभव के प्रकाश में, वह वांछनीय समझता है, मानो उसने अपनी आत्म-कथा की बाह्य अभिव्यक्ति यथार्थता के कार्यक्रम और निष्कर्ष के रूप में की है। हॉब्स का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त, मूलतः व्यवस्था को ही, बिना इस बात पर ध्यान दिए कि उस व्यवस्था से क्या प्राप्त होता है, परम कल्याण-प्रद वस्तु मान लेने पर आधारित है। गृह-युद्ध के युग में ऐसा सोचना स्वाभाविक ही था। हीगेल का यह मन्तव्य कि राज्य का व्यक्तित्व ज्येष्ठाधिकार द्वारा निर्वाचित नरेश के बिना अपूर्ण रहता है, एक शाश्वत तथ्य नहीं है, वरन् उसका अपनी इस अधिमान्यता को कि प्रशा राज्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है, उस उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करने का एक प्रयास है। या तो हम बोसॉके के इस कथन को स्वीकार करें कि व्यावहारिक राज्य ही राज्यों के यथार्थ रूप की संक्षिप्त अभिव्यक्ति है, इसलिए

राज्य का सिद्धान्त-गत उद्देश्य निरन्तर जीवित सत्य में अनुभूत होता रहता है और जिन असफलताओं का हमें सामना करना पड़ता है उनका उत्तरदायित्व राज्य पर नहीं बल्कि उन अ-राज्य स्रोतों पर है जिनके परिष्कार में राज्य सचेष्ट है; अन्यथा यह स्पष्ट है कि राज्य का सिद्धान्त ऐसा होना चाहिए जिस से हम व्यावहारिक राज्यों की उपलब्धियों का मूल्यांकन कर सकें, वह सिद्धान्त सफलता का मापदण्ड होना चाहिए न कि यथार्थ का विवरण। हम हीगेल के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हो सकते कि व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य राज्य का सदस्य बनना है, जब तक हम उस वास्तविक राज्य के गुणों का परीक्षण न कर लें जिसका कि व्यक्ति सदस्य है।

प्रस्तुत पुस्तक में मैं राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त को, जिसने विगत शताब्दी में पश्चिमी सभ्यता को प्रमुख रूप से प्रभावित किया है, यथाशक्ति निरूपित करने का प्रयत्न करूँगा। तत्पश्चात् मैं इस सिद्धान्त का परीक्षण उन राज्यों के प्रकाश में करूँगा जिनसे हमें प्रतिदिन के जीवन में काम पड़ता है। इस प्रकार मैं राज्य के सम्बन्ध में ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सकूँगा जो आज के प्रचलित सिद्धान्त की अपेक्षा यथार्थ के अधिक निकट है। अन्त में इस सिद्धान्त के प्रकाश में मैं कुछ ऐसे व्यावहारिक निष्कर्षों पर पहुँचने की चेष्टा करूँगा जिनकी सहायता से हम भविष्य में होने वाली घटनाओं के संभाव्य मार्ग का पूर्णानुमान कर सकते हैं। यह इसलिए आवश्यक है कि पूर्णानुमान ही किसी सामाजिक सिद्धान्त की कसौटी है।

मेरी दलील साद्यन्त एक ही धारणा पर आधारित होगी। यह मैं मान कर चलूँगा कि बल-प्रवर्त्तक शक्ति का समर्थन वहीं तक हो सकता है जहाँ तक वह अपने अधीनस्थ नागरिकों की माँगों को अधिकाधिक पूरा करने का प्रयत्न करती है। केवल इसी आधार पर राज्य को नागरिकों द्वारा आज्ञा-पालन का अधिकार प्राप्त हो सकता है, न कि उसके ऐसा करने के संकल्प मात्र से ही। संकल्प का सिद्धान्त कभी भी सम्यक राजनीतिक दर्शन का आधार नहीं बन सकता। मानवीय संस्थाओं के महत्व का मूल्यांकन केवल उनके कठिन उद्देश्य से नहीं हो सकता, देखना यह पड़ता है कि उस उद्देश्य को संभाव्य उद्देश्यों की तुलना में वे संस्थाएँ कहाँ तक प्राप्त कर पाती हैं।

(२)

हमें परिभाषाओं से आरम्भ करना है। राजनीति दर्शन की निष्क्रियता का बहुत कुछ कारण लोगों का अपने शब्दों के आशय के विषय में एक-मत न होना है। हम अपने आपको समाज में एक-दूसरे के साथ रहते हुए पाते हैं। यह समाज

अन्य प्रकार के मानवीय संवासों से मिल कर एक ऐसी एकता में सम्बद्ध हो जाता है जिसे राज्य कहते हैं। इस राज्य के कार्य-कलाप का संचालन मनुष्यों के एक ऐसे समूह द्वारा होता है जिसे हम सरकार कहते हैं। इन शब्दों का अभिप्राय क्या है ?

समाज से मेरा आशय व्यक्तियों के ऐसे समूह में है जो अपनी पारस्परिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक साथ रहते हैं और कार्य करते हैं। उन आधारभूत आवश्यकताओं का, जिनकी संतुष्टि के लिए वे चेष्टाशील होते हैं, स्वरूप आर्थिक होता है; सुख-सम्पन्न जीवन व्यतीत करने के पूर्व जीविको-पार्जन आवश्यक है। परन्तु केवलमात्र आर्थिक आवश्यकताओं के परे ऐसी विभिन्न धार्मिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक आवश्यकताएँ भी होती हैं जिनकी संतुष्टि मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति द्वारा सम्भव होती है। सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाय तो कोई कारण नहीं कि यह व्यक्ति-समूह (समाज) समस्त मानव जाति का समकक्ष न हो। वस्तुतः, जैसा मैं आगे चल कर सिद्ध करूँगा, हमारे आर्थिक उत्पादन के तरीकों के अन्तर्भाव हमारे लिए यह स्वीकार करना आवश्यक कर देते हैं कि इस समकक्षता का संस्थागत महत्व बहुत गहन है। किन्तु विभिन्न ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से, जिनके विस्तार में जाना यहाँ असम्भव है, जिन समाजों से हमारा सम्बन्ध है वे ऐसे मानव-समूह हैं जो अपनी सामान्य राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, भाषा-सम्बन्धी या अन्य परम्पराओं के आधार पर शेष मानव-समाज से स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, संयुक्त-राज्य, रूस आदि ऐसे ही समाज के उदाहरण हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध विशेष रूप से ऐसे समाजों से रहेगा जिन्होंने दीर्घ-काल से राष्ट्रीय-राज्य का रूप धारण कर लिया है।

राज्य से मेरा आशय ऐसे ही समाज से है जो एक ऐसी बल-प्रवर्तक शक्ति द्वारा संगठित है जो उस समाज में सम्मिलित सभी व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों में सर्वोपरि होती है। किसी भी राष्ट्रीय-समाज के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जायगा कि इसकी सीमा के अन्तर्गत न केवल व्यक्ति वरन् व्यक्तियों के संघ अथवा संवास भी होते हैं जिनका संगठन ऐसे धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि विभिन्न उद्देश्यों के उन्नयन के निमित्त होता है जिनमें उनकी अभिरुचि होती है। इस प्रकार के समाज को तभी राज्य कहा जायगा जब कि वह जीवन-विधि, जिसके अनुकूल व्यक्तियों और संवासों को चलना अनिवार्य है, एक ऐसी बल-प्रवर्तक शक्ति द्वारा निर्धारित की जाय जिसकी सत्ता सर्वमान्य है। उदाहरणार्थ फ्रांस राज्य एक प्रादेशिक समाज है जो कि शासन और

शासितों में, चाहे वे व्यक्ति हों या व्यक्तियों के संवास हों, विभक्त है, जिनके सम्बन्ध उसी सर्वोपरि बल-प्रवर्त्तक-शक्ति द्वारा निश्चित होते हैं ।

इस शक्ति को संप्रभुता कहते हैं और इसी के कारण राज्य शेष सभी मानव-संगठनों से भिन्न है । एक नगरपालिका भी प्रादेशिक समाज है जो कि शासन और शासितों में विभक्त है, यही बात एक श्रमिक संघ या चर्च के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । किन्तु इनमें से किसी के भी पास सर्वोच्च बल-प्रवर्त्तक शक्ति नहीं है । इनमें से प्रत्येक को साधारणतया अपना व्यवहार उन मानदंडों के अधीन रखना पड़ता है जिन्हें वह बल-प्रवर्त्तक शक्ति बंध घोषित करती है । औपचारिक रूप से उस शक्ति की इच्छा अनुलंघनीय है, अन्यथा वह सर्वोपरि नहीं रहेगी । इसीलिए इसकी इच्छा का न तो विभाजन हो सकता है न स्वत्व-हस्तांतरण । जैसाकि बोदाँ ने कहा है कि राज्य संप्रभुता-सम्पन्न है क्योंकि यह सबको आदेश देता है और किसी से आदेश लेता नहीं । इसलिए इसके आदेश ही कानून हैं जिनको मानने के लिए इसके अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक बाध्य है ।

यह समझ लेना आवश्यक है कि राज्य को संप्रभुता-सम्पन्न मानने का अभिप्राय केवल उसको निर्दिष्ट करने की एक औपचारिक विधि-मात्र है और इससे अधिक कुछ नहीं । यह एक आकार का विवरण है, न कि मूल्यांकन का निष्कर्ष । राज्य को संप्रभुता-सम्पन्न मानने से यह अभिप्रेत नहीं है कि राज्य की इच्छा का आधार विवेक और न्याय है । इसका आशय केवल यही है कि राज्य अन्य सभी प्रकार के समुदायों से सर्वोपरि है क्योंकि औपचारिक रूप में इसको, स्वयं को बाध्य किये बिना, उन सबको आज्ञा-पालन के लिए बाध्य करने की क्षमता प्राप्त है । ऐसा हो सकता है कि इसके आदेश अविवेकपूर्ण अथवा न्याय-शून्य हों, परन्तु इससे राज्य के अपने आदेशों के मनवाने के औपचारिक बंध अधिकार में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

अस्तु, राज्य किसी समाज के सामुदायिक जीवन को संगठित करने की एक विधि है । वस्तुतः राज्य को ही विविध संश्लिष्टताओं से युक्त समाज नहीं समझ लेना चाहिए, वरन् राज्य समाज का एक विशिष्ट रूप है जिसमें उसके जीवन की सम्पूर्णता कम से कम यदाकदा, परिलक्षित होती है । चूँकि राज्य की बल-प्रवर्त्तक शक्ति सर्वोपरि है, इसलिए सैद्धान्तिक रूप से इसके अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसका रूप राज्य निर्धारित न कर सके । जो भी एक क्षण के लिए आधुनिक राज्य के कार्य-कलाप पर विचार करता है वह राज्य की संप्रभुता की वास्तविकता का अधोमूल्यन नहीं कर

सकता। प्रतिरक्षा और आरक्षा, उद्योग पर नियंत्रण, सामाजिक विधि-नियमन, जिसके अन्तर्गत शिक्षा, रोग-बीमारी का बीमा आदि महत्त्वपूर्ण कार्य आते हैं, वैज्ञानिक अनुसन्धान को प्रोत्साहन, मुद्रा-पद्धति का संचालन और उसके गहरे प्रभाव, कर लगाने की शक्ति, उन पणों का निर्धारण जिनके आधार पर मनुष्य अपने विविध उद्देश्यों के लिए संगठन बना सकें, न्यायालयों का संधारण जिनके द्वारा राज्य के वैध सिद्धान्तों को निष्पक्षता से कार्यान्वित किया जाय; राज्य व्यक्ति के जीवन में किस सीमा तक व्याप्त है, यह राज्य के प्रमुख कार्यों पर एक दृष्टि निक्षेप से ही स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक नागरिक पग-पग पर राज्य के कार्य-जाल में जकड़ा रहता है।

यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि नागरिक को किस प्रकार राज्य का सामना करना पड़ता है। सब संस्थाएँ व्यक्तियों के माध्यम से ही कार्य करती हैं। उनकी शक्ति का संचालन और किसी विधि से नहीं हो सकता। इसलिए राज्य को व्यक्तियों के एक ऐसे मण्डल की आवश्यकता होती है जो राज्य के नाम से ही उसकी सर्वोच्च बल-प्रवर्त्तक-शक्ति को संचालित करे। व्यक्तियों के ऐसे मण्डल को राज्य की सरकार कहा जाता है। अतः यह राज्य-विज्ञान का एक आधारभूत स्वसिद्ध है कि हमें राज्य और सरकार में स्पष्ट भेद करना चाहिए। सरकार तो राज्य का अभिकर्ता मात्र है; इसका अस्तित्व राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए है; यह स्वतः सर्वोच्च बल-प्रवर्त्तक-शक्ति नहीं है, यह केवल प्रशासन का यंत्र है जो उस शक्ति के उद्देश्यों को कार्यान्वित करता है। कहा जाता है कि सरकार उस अर्थ में संप्रभु नहीं है जिसमें राज्य। इसकी शक्ति, इसको राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों तक सीमित होती है; यदि सरकार अपने अधिकार का सीमोलंघन करती है, तो इसके लिए जहाँ इसकी व्यवस्था हो उसे जवाबदेह होना पड़ता है। सरकार अपने उन कार्यों के लिए जो उसकी निश्चित शक्तियों के बाहर हैं, उत्तरदायी होती है; यह विचार हर ऐसे राज्य का मूल सिद्धान्त है जिसमें निरंकुश स्वेच्छाचारिता के स्थान पर वैध शासन राजनीतिक कार्य का आधार बन गया है। चौदहवें लुई का अपने व्यक्तिगत उद्देश्य को राज्य की इच्छा मान लेना सर्वथा अन्याय्य नहीं था, परन्तु संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति जैसे शक्तिशाली शासक को भी अपनी इच्छा को कार्यरूप देने के लिए संविधान या उसके अधीन वहाँ काँग्रेस द्वारा दी गई शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे भी देश हैं, जिनका संयुक्त राज्य स्वयं एक उदाहरण है, जिनमें राज्य सरकार को विधान द्वारा, जिसके अनुसार उसे चलना अनिवार्य है, किन्हीं शक्तियों के उपयोग अथवा किन्हीं शक्तियों का

कुछ विशेष प्रकार से प्रयोग करने से स्पष्ट रूप में रोक देती है।

कहा जाता है कि राज्य और सरकार में भेद करने का अभिप्राय सरकार पर लगे इस प्रतिबंध पर बल देना है कि उसे उस लक्ष्य पर ध्यान देते हुए कार्य करना चाहिए जिसके लिए राज्य का अस्तित्व है। वह लक्ष्य, चाहे उसकी परिभाषा कैसी ही की जाय, उन परिस्थितियों का निर्माण करना है, जिनमें राज्य के सदस्य अपनी इच्छाओं की अधिकाधिक संतुष्टि कर सकें। परिसीमन के विविध उपकरण—लिखित संविधान, नागरिक अधिकार सूची, शक्तियों का पृथक्करण इत्यादि—सरकार द्वारा राज्य की प्रभुत्व-शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के अनुभव-सिद्ध उपाय हैं, क्योंकि हर सरकार ऐसे ही मनुष्यों से बनती है जो भूल कर सकते हैं। ऐसा हो सकता है कि वे जान-बूझकर अपने प्राधिकारों का उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करें। संकल्प शुभ होने पर भी सरकार अविवेक से थोड़े लोगों के निजी हित को ही समस्त समुदाय का कल्याण मान सकती है। जिन परिस्थितियों का उसे सामना करना पड़ता है उनसे वह अनभिज्ञ हो सकती है अथवा उनको संभालने में असमर्थ। इस तरह की परिस्थितियाँ हर राजनीतिक समाज के इतिहास में आती ही हैं। राज्य और सरकार में भेद करने का महत्व इसी संभावना में है कि राज्य के अभिकर्ता अर्थात् सरकार को, यदि वह अपना दायित्व निभाने में असमर्थ हो, बदल देने की संस्थायी व्यवस्था की जा सकती है।

परन्तु तुरन्त यह कह देना आवश्यक है कि राज्य और सरकार में भेद व्यावहारिक होने की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है, क्योंकि राज्य का हर काम, जिससे हमारा सामना होता है, वास्तव में सरकार का ही कार्य होता है। राज्य की इच्छा उसके कानूनों में निहित है, परन्तु सरकार ही उन कानूनों को रूप देती है और उन्हें कार्यान्वित करती है। हम कहते हैं कि ब्रिटिश राज्य ने ४ अगस्त सन् १९१४ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध आरम्भ किया, परन्तु उस दिन की संप्रभुता को तो वहाँ की सरकार ने ही प्रयोग किया। हम कहते हैं कि ब्रिटिश राज्य ने सन् १९२५ में स्वर्णमान को पुनः अपनाया और सन् १९३१ में उसे फिर त्याग दिया, परन्तु दोनों दशाओं में ये निर्णय तो वहाँ की सरकार ने ही किये। हम कहते हैं कि नवम्बर सन् १९१७ के विप्लव में रूसी राज्य साम्यवादी हो गया; वास्तव में हमारा आशय यह है कि शासन-तंत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथ में आ गया जो रूसी राज्य की प्रभुत्व-शक्ति को ऐसे उद्देश्यों के लिए प्रयोग करने में सफल हुए जिन्हें सामान्य रूप से साम्यवादी कहा जाता है। राज्य के किसी विशेष प्रकार से कार्य करने का वास्तविक अर्थ यही

होता है कि उसकी सरकार उसकी संप्रभुता का उसी रूप में प्रयोग करने का उचित अथवा अनुचित निर्णय करती है। वस्तुतः राज्य स्वतः कभी कार्य नहीं करता, वरन् इसके नाम पर वे लोग कार्य करते हैं जो इसकी नीति निर्धारित करने की क्षमता प्राप्त कर लें।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि राज्य के नाम में कार्य करने वाली सरकार को यह क्षमता कहाँ से प्राप्त होती है। कहा जा सकता है कि उसकी शक्ति कानून द्वारा प्राप्त होती है, किन्तु कानून तो शब्दों का संग्रह-मात्र है, जब तक कि वह मनुष्यों द्वारा कार्यान्वित नहीं होता। यह भी कहा जा सकता है कि सरकार की अपनी इच्छा का पालन कराने की शक्ति उन लोगों की स्वीकृति पर निर्भर है जिन पर वह शासन करती है। इस विचार में कुछ तथ्य अवश्य है, उसी आशय में, जिसमें ह्यूम ने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक सरकार, चाहे वह कितनी ही बुरी क्यों न हो, अपने अधिकार के लिए जनमत पर निर्भर करती है।^१ परन्तु इसको पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसे भी समय और स्थान होते हैं जबकि मनुष्यों पर ऐसे राज्य का शासन होता है जिसकी नीतियों से उसका सक्रिय विरोध होता है। यह कहना भाषा का उचित प्रयोग नहीं होगा कि १६१७ के पूर्व जारिस्ट रूस अथवा आज का फासिस्ट आस्ट्रिया अपने नागरिकों की सहमति पर आधारित है क्योंकि दोनों देशों में वहाँ के बहुत से नागरिकों ने राज्य की नीतियों को, उन्हें निश्चित करने वाली सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके, परिवर्तित करने का प्रयत्न किया।

इसलिए मेरे विचार में हमें यही कहना पड़ेगा कि, अन्तिम विश्लेषण की दृष्टि से, राज्य का आधार उसकी बल-प्रवर्त्तक-शक्ति को अपनी सरकार द्वारा संचालित करने की क्षमता पर निर्भर है। यह सत्य है (और महत्वपूर्ण भी) कि जब राज्य के सदस्य उसकी नीतियों में निहित उद्देश्यों के सम्बन्ध में मूलतः एकमत होते हैं तब राज्य का बल-प्रवर्त्तक-रूप अप्रत्यक्ष हो जाता है। यह भी सत्य है कि एक वैधानिक राज्य में जहाँ आलोचकों को इस बात का समुचित अवसर होता है कि वे पदासीन सरकार के निश्चित शासन-काल की समाप्ति पर उसे अपदस्थ कर स्वयं सतारूढ़ हो जायँ, राज्य के बल-प्रवर्त्तक रूप का स्थान प्रमुख प्रतीत नहीं होता।

किन्तु किसी राज्य के इतिहास में संकट-काल आने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इसका प्राधिकार अपनी सरकार के विरोधियों का दमन करने,

उनके संकल्पों को तोड़ने, उन्हें आज्ञा-पालन पर बाध्य करने की शक्ति पर निर्भर करता है और यह शक्ति राज्य की प्रकृति का सारभूत तत्त्व है। जिस राज्य के उद्देश्यों को चुनौती दी जाय, उसे या तो उस चुनौती का सामना करना पड़ता है या अपने उद्देश्यों को बदल देना पड़ता है और यदि वह उन उद्देश्यों पर अटल रहना चाहती है तो उसे शक्ति का प्रयोग करना ही पड़ता है। अस्तु, राज्य के पास जन-समाज से पृथक् ऐसे उपकरणों का होना आवश्यक है जिन पर अपने प्राधिकारों को कार्यान्वित करने के लिए वह निर्भर हो सके। सामान्यतः, अपनी इच्छा का पालन कराने के हेतु सैनिक-बल प्रयोग करने की संभाव्य शक्ति राज्य की संप्रभुता का आधार है।

कारण कि कानून के विरुद्ध किसी भी कठोर चुनौती से व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है और जब व्यवस्था संकट-ग्रस्त हो जाती है तो हर सरकार अनिवार्यतः उसके संरक्षण के लिए सैनिक बल का प्रयोग नहीं कर सकती तो उसे या तो कानून बदलना पड़ता है या पद-त्याग करना पड़ता है। और यह केवल आन्तरिक आशय में ही सत्य नहीं है। यदि एक राज्य का भगड़ा किसी अन्य राज्य से हो जाय और समझौते द्वारा उसके निपटने की संभावना न हो तो वह अपनी शक्ति के आधार पर ही अपनी इच्छा का आरोपण विपक्षी राज्य पर कर सकता है। हर राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समाज में प्रत्यक्ष अथवा संभाव्य संघर्ष चलता रहता है; और राज्य की सेनाएँ यथाशक्ति उसकी संप्रभुता को आक्रमण से बचाने की चेष्टा करती हैं। अस्तु, राज्य की सेनाएँ जिन लोगों के नियंत्रण में होती हैं वे ही राज्य की प्रभुता के स्वामी होते हैं।

इस दृष्टि से राज्य को बल-प्रवर्तन की सार्वजनिक शक्ति का एक ऐसा संगठन समझना यथोचित ही है जिसके द्वारा सभी सामान्य परिस्थितियों में सरकार की इच्छा सर्व-विजयी हो सके। यह एक ऐसी शक्ति है जो जन-साधारण की सामूहिक शक्ति से भिन्न और ऊपर है। जब तक सरकार की इच्छा का विरोध नहीं होता तब तक यह शक्ति विलम्बित रहती है, उस इच्छा का विरोध होते ही यह सक्रिय हो उठती है। बल-प्रवर्तन का वैध अधिकार ही राज्य की सरकार का ऐसा विशिष्ट लक्षण है जो उसे अन्य प्रत्येक संवास की सरकार से भिन्न करता है। एक श्रमिक-संघ या चर्च के अपने सदस्यों पर प्राधिकार का रूप प्रथमतः बल-प्रवर्तक नहीं होता। इसका रूप बल-प्रवर्तक तभी होता है जब राज्य उस श्रमिक संघ या चर्च के समर्थन करने का निर्णय करता है। इस समर्थन की अनुज्ञप्ति, अन्तिम विश्लेषण में, सर्वथा एक ही

है, और वह यह अभिज्ञान है कि राज्य के निर्णय के पीछे उन सेनाओं की बल-प्रवर्तक-शक्ति है जिनकी सेवाओं पर राज्य के शासक बंध रूप से भरोसा कर सकते हैं।

इस उपकल्पना पर एक रोचक टिप्पणी के रूप में अंग्रेजी इतिहास की दो घटनाएँ स्मरणीय हैं। १८वीं शताब्दी तक स्थायी सेना का विरोध होता रहा। यह विरोध इस भावना से उद्भूत था कि स्थायी सेना जिन लोगों के अधीन थी, वास्तव में वे ही देश के नागरिकों के जीवन और स्वतन्त्रता के स्वामी थे। अतः Mutiny Act को दो-एक वर्ष तक ही सीमित रखने में स्टुअर्ट वंश के कुशासन से उत्पन्न उस भय की अभिव्यक्ति पाई जाती है कि यदि कार्यपालिका का सेना पर स्वच्छन्द नियंत्रण हुआ तो ऐसी संभावना हो सकती है कि कार्यपालिका धारा-सभा के अधिकारों का अपहरण कर ले। निस्सन्देह वैधानिक प्रजातंत्र के उद्भव से ऐसी समस्याओं के प्रति हमारा साधारण दृष्टिकोण, बाह्यतः, परिवर्तित हो गया है। परन्तु यह अब भी सत्य है कि जिस सरकार का राज्य की सेना पर नियंत्रण है, वह इस नियंत्रण-काल में अपनी इच्छा को फलवती बना सकती है। यही कारण था कि १९१३-१४ के होम-रूल सम्बन्धी दिनों में अनुदार-दल ने सेनाधिकारियों की तत्कालीन उदार-दलीय सरकार के प्रति स्वामिभक्ति को नष्ट करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाया; यथार्थवादी होने के नाते अनुदार-दल के नेता इस तथ्य को भली-भाँति समझते थे कि संकट-काल में जिस सरकार का अपनी सेना पर विश्वास न हो उसका सत्तारूढ़ बना रहना असम्भव है; क्योंकि सेना को खो बैठने का अर्थ है अपने विरोधियों को सफलतापूर्वक दमन करने की शक्ति खो देना। यही कारण है कि १९३४ के जून में हिटलर को जर्मन-सेना का समर्थन उसी की शर्तों पर खरीदना पड़ा; अपनी उद्देश्य-प्राप्ति के लिए सेना पर अधिकार हुए बिना उसकी संप्रभुता निरर्थक थी। और सामान्यरूप से यह कहा जा सकता है कि आधुनिक परिस्थितियों में किसी क्रान्ति के सफल होने की प्रबल संभावना नहीं हो सकती, जब तक कि शासन के प्रति सेना की स्वामि-भक्ति संदिग्ध नहीं होती। यही संप्रभुता का केन्द्र-स्थल है।

इस कथन का, निश्चय ही इस विचार से—जिसकी विस्तृत मीमांसा मैं आगे करूँगा—कोई सम्बन्ध नहीं है कि राज्य की स्थिति समाज के सब संकुचित हितों से ऊपर है और वह अपनी बल-प्रवर्तक-शक्ति का प्रयोग उन स्थायी और निरन्तर हितों के लिए करता है जिनके हेतु मनुष्य एक साथ रहते हैं। इस कथन का हीगेल-सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित इस विचार से भी

कोई सम्बन्ध नहीं है कि व्यवहार में जो भी कुकृत्य हमें देखने को मिलें राज्य तो फिर भी—“नैतिक भाव का मूर्त रूप है।” अब तक मेरी बहस का सम्बन्ध उन उद्देश्यों से नहीं रहा है जिनकी पूर्ति को राज्य अपना ध्येय धोषित करता है। इसका सम्बन्ध केवल इस तथ्य से रहा है कि राज्य के लक्ष्य कुछ भी हों यथार्थ में राज्य एक शक्ति-संगठन है जो अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए बल-प्रवर्तन के अपने वैध-अधिकार पर आश्रित है और अन्ततः राज्य की सेना ही उसकी इच्छापूर्ति का साधन है।

मेरे तर्क में अब तक किसी प्रकार का नैतिक अन्तर्भाव नहीं है। यह यथार्थ का एक तटस्थ विवरण है जो किसी भी राज्य पर, जिसे हम जानते हैं, ठीक उतरता है। मैं यह मानने को तैयार हूँ कि इस शक्ति का स्वामित्व एक और तो राज्य के अस्तित्व के लिए और दूसरी ओर कानून और व्यवस्था की गारंटी के लिए अनिवार्य है। सामन्त-युग के इतिहास से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि किसी ऐसे समाज में जिसमें सेनाओं का नियंत्रण सरकार के हाथों में केन्द्रित नहीं है अथवा जिसमें बल-प्रवर्तक शक्ति एक न होकर बहु हो, शान्ति बनाए रखने की क्षमता नहीं होती। स्टीफेन के शासन-काल की अराजकता, गुलाबों का युद्ध, फ्रांस में धार्मिक-युद्धों की दुखान्तकी, वे अनेक अवसरवादी सैनिक जिन्होंने १६१७ में रूसी-राज्य के विघटन से लाभ उठाकर संप्रभुता प्राप्ति के लिए सशस्त्र युद्ध किया—यह सब उस दशा पर एक जोर-दार टिप्पणी है जो किसी ऐसे समाज में उत्पन्न हो सकती है जिसमें बल-प्रवर्तक शक्ति का निवास-स्थान अनिश्चित हो जाय।

मेरे तर्क से यह निष्कर्ष निकालना भी उचित न होगा कि राज्य में आज्ञा-पालन की प्रेरणा भय से होती है। इस पर तो आपत्ति नहीं हो सकती कि आज्ञा-पालन भय से होता है। परन्तु आज्ञा-पालन के संश्लिष्ट उपकरणों के स्पष्टीकरण के रूप में भय को प्रेरक मानना सब तथ्यों की व्याख्या के लिए अपर्याप्त है। जो लोग यातायात-निर्देशक सिपाही के पीछे कानून का प्रताप-शाली शस्त्रागार विद्यमान है—संकेतों का अनुगमन करते हैं, वे ऐसा करने में जितना अवहेलना द्वारा प्राप्य दंड के भय से प्रेरित होते हैं उतना ही इस विचार से कि वे संकेत उन्हीं के लिए सुविधाजनक हैं। इसी प्रकार जो लोग अनिवार्य शिक्षा सम्बन्धी कानून का पालन करते हैं, वे अपने विहित कर्त्तव्य की अवहेलना से होने वाले जुर्माने या कारागार के भय से ऐसा नहीं करते। क्षोभजनक संकट-काल के अतिरिक्त, इसमें सन्देह है कि, वे कानून के पालन के सम्बन्ध में भय का विचार कभी मन में लाते भी हैं।

यहाँ पर राज्य और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में एकाध शब्द कहना कदाचित् उपयुक्त होगा। समस्या बिल्कुल सरल नहीं है, क्योंकि इसका अस्तित्व किसी एक स्तर पर नहीं है। परन्तु केवल औपचारिक दृष्टि से देखा जाय तो यदि इस राज्य को संप्रभुता-सम्पन्न मान लें, तो कानून राज्य की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि संप्रभुता की प्रकृति को स्वीकार कर लेने पर कानून केवल वही हो सकता है जिसे अन्तिम विश्लेषण में, राज्य लागू करने को तैयार हो; और राज्य उसी पर लागू करने को तैयार होगा जिसको वह अपनी इच्छा के अनुरूप मान ले। कानूनी दृष्टि से राज्य द्वारा लागू किये जाने वाले निर्णय की अन्तर्वस्तु का कोई महत्व नहीं होता। वह अविवेकपूर्ण, भ्रान्त या गलत हो सकती है। फिर भी यह कानून है, क्योंकि राज्य इसे कार्यान्वित करता है। कानून को मान्य होने का अधिकार उस स्रोत से प्राप्त होता है जिससे अन्ततः इसकी उत्पत्ति होती है। अन्यथा राज्य एक संप्रभुता-सम्पन्न संवास न होता। इस औपचारिक स्तर पर यदि कोई अन्य इच्छा राज्य की इच्छा के बराबर मान्यता के अधिकार का दावा कर सके तो वह राज्य के समान ही संप्रभु होगी। ऐसे समाज में या तो कोई संप्रभु होगा नहीं—और ऐसी दशा में कोई राज्य नहीं होगा—या संप्रभुता उस संस्था में निहित होगी, यदि कोई ऐसी संस्था हो, जिसके पास ऐसे विवादों को सुलझाने का अधिकार हो और जो सफलतापूर्वक ऐसा करने में समर्थ हो। फिर तो यही संस्था जो ऐसे विवादों को सुलझाने में अन्तिम निर्णय कर सकती है राज्य हो जायगी; क्योंकि हमारी परिभाषा के अनुसार राज्य वही संस्था है जो बल-प्रवर्त्तक शक्ति का संचालन करे।

एक विशुद्ध न्यायज्ञ का, कम से कम, कानून की समस्या के सम्बन्ध में यही शास्त्रीय दृष्टिकोण है। जितना अर्थ यह अपने से देता है उससे अधिक का आरोपण हमें नहीं करना है। यों कह सकते हैं कि यह दृष्टिकोण एक अमूर्त अवधारणावाद है जिसमें कुछ निश्चित उद्देश्यों के निमित्त कानून को न्याय से पृथक् रखते हुए उसे इच्छाओं की शृंखला में अन्तिम कड़ी मान लिया जाता है जिसके और पीछे जाना असंभव है। पर न्यायज्ञ केवल एक औपचारिक विश्लेषण में संलग्न है। नैतिक दृष्टि से क्या उचित है अथवा सामाजिक दृष्टि से क्या सुकर है, ऐसे विचारों को न्यायज्ञ अपने पर्यालोचन के क्षेत्र से निकाल देता है, वह कानून केवल उसी को मानता है जिसकी उत्पत्ति उस इच्छा से हो जिसका स्रोत संप्रभु है। न्यायज्ञ होने के नाते उसके समक्ष समस्या केवल यही है कि संप्रभु किसी विशेष प्रकार के आचरण को, जो कानून के अनुरूप है,

स्वीकार करता है अथवा नहीं। मेटलैंड के सुन्दर शब्दों में कोई अन्य प्रश्न न्याय के परे है और इसलिए न्यायज्ञ के क्षेत्र से बाहर है।

मानव-मन ऐसे निपट और औपचारिक न्याय-शास्त्र को अस्वीकार करता है। उसे कानून का ईश्वरीय इच्छा से तादात्म्य स्थापित करने का मध्यकालीन दीर्घ प्रयत्न, स्टोइक दार्शनिकों की यह मान्यता कि कानून शाश्वत विवेक-बुद्धि की वाणी है, और आल्पिअन का प्रसिद्ध कथन जिसके अनुसार कानून मानवीय आचरण में उचित-अनुचित के बीच भेद करनेवाला विज्ञान है, स्मरण है। मानव-मन इस सिद्धान्त को अस्वीकार करता है कि कानून वह है जिसके पीछे राज्य की संप्रभुत्व-शक्ति है। क्योंकि जैसे सुविख्यात जेजविट न्यायज्ञ कैथरेन ने कहा है, “ऐसी दशा में हमें प्रत्येक संविधि को उचित समझना पड़ेगा, चाहे वह कितना ही भ्रष्ट, विवेक-बुद्धि के प्रतिकूल और घृणा योग्य क्यों न हो, और फिर हमें अन्याय की शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं रहता।”^१ यह विचार अधिकतर लोगों का है कि कानून को किसी ऐसे प्राधिकारी की, जो केवल अपनी बल-प्रवर्तक शक्ति के आधार पर ही आदर पाने का दावा करता है, इच्छा की अपेक्षा किसी अधिक न्यायमूलक वस्तु पर आधारित होना चाहिए।

इस विचार-धारा के दो उत्तर हैं। जिस आशय में कानून का वैधानिक सिद्धान्त यहाँ उपस्थित किया गया है उसकी आलोचना उसके उपधारणों को बदलने का एक प्रयास है क्योंकि उनका संभाव्य परिणाम अप्रिय है। यह कार्य-प्रणाली वास्तव में अपर्याप्त है; हम यूक्लिड के रेखागणित को भले ही अधिक पसन्द करें पर इस तथ्य को बदला नहीं जा सकता कि यूक्लिड का रेखागणित एक समस्यापूर्ण संहति है। और दूसरे, कैथरेन की भाँति अन्य लोगों के विचार राज्य के व्यावहारिक स्वरूप के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त नहीं उपस्थित करते, बल्कि उन उद्देश्यों की परिभाषा करते हैं जिनकी प्राप्ति की चेष्टा राज्य को करनी चाहिए। ये विचार राज्यों के आचरण की परख के लिए कसौटी का काम करते हैं। और इस दृष्टि से वे अपने स्थान पर असंदिग्ध महत्व रखते हैं। निस्सन्देह ये विचार नैसर्गिक कानून सम्बन्धी धारणा के लम्बे इतिहास और न्याय के उन शाश्वत विधि-निषेधों के अनुसंधान को जिनके स्थापन से ही राज्य का कार्य-कलाप संतोषजनक माना जा सकता है, अपने साथ लिए हुए हैं। परन्तु विशुद्ध औपचारिक स्तर पर ये विचार ऐसे प्रश्न उपस्थित

करते हैं जिनसे एक न्यायज्ञ का सम्बन्ध नहीं रह जाता। यदि वह कानून को न्याय का रूप देने का प्रयत्न करता है तो वह कानून के विशुद्ध सिद्धान्त को छोड़ राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे मूल्य सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करना पड़ता है जिनके उत्तर औपचारिक कानून के स्तर पर सर्वथा अप्राप्य हैं।

अतः इस विचार से राज्य-सम्बन्धी दर्शन का प्रत्यक्ष रूप से तो उन समस्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं है जिनमें न्यायज्ञ को रुचि होती है। यह तो उस विचार-क्षेत्र से कुछ ऐसे तथ्य ग्रहण कर लेता है जिनका मूल्यांकन उसे ऐसे उपधारणों के आधार पर करना होता है जिनका स्रोत कानून नहीं अपितु नीति-शास्त्र है। वहीं वह मानदण्ड प्राप्त हो सकता है जिसके द्वारा सभी सामाजिक सम्बन्धों का मूल्यांकन किया जाना चाहिये। यह अवश्य है कि नीति-शास्त्र के मानदण्ड हमारे व्यावहारिक अनुभव पर आधारित होने चाहिएँ। नीति-शास्त्र की श्रेष्ठ जीवन सम्बन्धी अवधारणाएँ और मूल्य के मानदण्ड ऐसे होने चाहिएँ, जिन्हें इस संसार में रहने वाले मनुष्य सामाजिक उपायों से प्राप्त कर सकें। मूल्य के ऐसे मानदण्ड का जिसका उपयोग काल्पनिक समाज में ही हो सकता है, इस संसार में कोई स्थान नहीं है। अतएव ईश्वरेच्छा की अनुरूपता को राजनीति में उचित आचरण की कसौटी बनाने से कोई वास्तविक सहायता नहीं मिल सकती। प्रश्न यह होता है कि कौन से ईश्वर की घोषित इच्छा को मूल्य का मानदण्ड माना जाय। ब्राह्मण, रोमन कैथोलिक, कालविनिस्ट और मुसलमान इस प्रश्न के इतने परस्पर विभिन्न उत्तर देते हैं कि उनमें से किसी के विचारों को भी शाश्वत नहीं माना जा सकता। मध्यकालीन ईसाई समधिाराज्य इसी कारण छिन्न-भिन्न हो गया कि उसके मूल्य सम्बन्धी मानदण्डों के प्रयोग पर लोगों में इतने भीषण मतभेद उत्पन्न हो गये कि वे एक दूसरे की हत्या पर तत्पर हो गये।

इसीलिए प्रस्तुत पुस्तक में मैं केवल यही एक मान्यता लेकर चलता हूँ कि नागरिकों की आकांक्षाओं की अधिकाधिक पूर्ति ही राज्य का लक्ष्य होना चाहिए। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि समाज में मनुष्यों की इच्छाएँ कितनी वैविध्यपूर्ण होती हैं। हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि राज्य के कार्यों से कई इच्छाएँ असंतुष्ट रह जाती हैं, उसका कारण यह है कि राज्य के लक्ष्यों की सिद्धि एतद्वारा घटित परिणाम से ही भली भाँति होती है। प्राचीन एथेन्स में कई ऐसे दास रहे होंगे जो अपनी स्थिति को न्यायानुकूल नहीं समझते थे; परन्तु

हमें यह मानना पड़ेगा कि एथेन्स राज्य की यही धारणा थी कि उसके लक्ष्य की सिद्धि के लिए दासता को अपनी सभ्यता का आधार बनाना सर्वोत्तम मार्ग है; इसलिए दास-पद्धति को बनाए रखने के लिए राज्य ने अपनी सम्पूर्ण बल-प्रवर्त्तक-शक्ति का प्रयोग किया। यही बात हिटलर की जर्मनी के विषय में कही जा सकती है। उसके शासकों ने यहूदियों को राज्य की नागरिकता से इसी तर्क पर वंचित रखा कि इसके बिना वे उन लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकते थे जिन्हें वे श्रेष्ठ समझते थे। उचित हो अथवा अनुचित, राज्य की संप्रभुता के संचालक उसके लक्ष्यों को कल्याण के उस मानदण्ड से सम्बद्ध करते हैं जिसके संरक्षण के लिए वे तैयार हों। यह संरक्षण तर्क की भाषा में होना चाहिए, क्योंकि यदि इसका आधार कुछ और हो, उदाहरणार्थ ईश्वरीय प्रेरणा अथवा शक्ति, तो यह उन लोगों की दृष्टि में निरर्थक हो जायगा जो ईश्वरीय प्रेरणा में विश्वास नहीं रखते या जो केवल शक्ति को ही सत्य का शासन मानने को तैयार न हों।

यदि यह सत्य हो तो यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य को सब नागरिकों की आकांक्षाओं की समान पूर्ति के लिए चेष्टा-रत होना चाहिए; जब तक कि राज्य विवेक-संगत तर्क द्वारा यह सिद्ध न कर दे कि जिन लोगों को समान व्यवहार से वंचित रखा जाता है, उनकी भलाई इसी में है। इसी आधार पर अरस्तू ने यूनान की दास-प्रथा को उचित सिद्ध करना चाहा; क्योंकि अपने इस तर्क द्वारा कि कुछ मनुष्य प्रकृति से ही दास होते हैं वह वास्तव में यह सिद्ध करना चाहता था कि दासों की आकांक्षाओं की अधिकाधिक संतुष्टि के लिए दासता ही सर्वोत्तम साधन है।^१ इस विचार को सामान्य रूप से यों कह सकते हैं कि किसी भी राजनीतिक संस्था में संतुष्टि की समानता ही नियम होना चाहिए, और इस नियम के अपवादों का औचित्य तभी सिद्ध होता है जब विवेक-बुद्धि के आधार पर यह दिखलाया जा सके कि स्वयं ये अपवाद वांछित समानता के अनिवार्य अंग हैं और उसकी प्राप्ति के लिए एक शर्त।

अन्यथा राज्य का कार्य पक्षपातपूर्ण होगा; क्योंकि इसका निष्कर्ष यह है कि राज्य का उद्देश्य सब नागरिकों की अधिकाधिक संतुष्टि नहीं है वरन् किसी वर्ग-विशेष की ही, जिसके हित में राज्य की प्रभुत्व-शक्ति प्रयुक्त होती है। जो लोग राज्येच्छा का संचालन करते हैं या अन्य शब्दों में राज्य के नाम से उसकी सर्वोच्च बल-प्रवर्त्तक शक्ति का प्रयोग करते हैं उनके लिए यह सिद्ध करना

आवश्यक होता है कि इस प्रकार लाभान्वित वर्ग की अधिक संतुष्टि के परिणाम-स्वरूप शेष लोगों को भी किसी एक व्यवस्था की अपेक्षा अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, यदि राज्य उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व की वर्तमान पद्धति को बनाए रखना चाहे तो इसका आधार यही होना चाहिए कि इस पद्धति के परिणाम स्वरूप (किसी) समाजवाद जैसी वैकल्पिक पद्धति की अपेक्षा, (जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामित्व सार्वजनिक होता है) उन सब लोगों को अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है जो कि इससे प्रभावित होते हैं। यदि इस विचार का औचित्य सिद्ध किया जा सके तो संतुष्टि की प्राप्ति में असमानता का औचित्य भी सिद्ध हो जाता है।

परन्तु यह बात ध्यान में रख लेना आवश्यक है कि यदि राज्य इस प्रकार की असमानता को बनाए रखता है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह उन लोगों को, जो समानता से वंचित हैं, इस असमानता के औचित्य से संतुष्ट कर दे। दास-प्रथा के पक्ष में केवल इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि दास रखने वाले उसे दासों के लिए अन्ततः हितकर समझते हैं। उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा के पक्ष में यह कहना पर्याप्त नहीं है कि इन साधनों के स्वामियों के विचार में यह प्रथा उन लोगों के लिए अन्त में हितकर है जिनके पास इन साधनों का अभाव है। यह बात सारगर्भित है कि जर्मनी में यहूदियों के लिए जो स्थान हिटलर उपयुक्त समझता था उसे यहूदियों ने कभी न्यायानुकूल नहीं माना; और यह कहना भी सर्वथा तर्क से शून्य नहीं होगा कि जर्मनी के जिन वकीलों, डाक्टरों और अध्यापकों ने हिटलर के इस विचार का स्वागत किया है वे हिटलर की नीति का मूल्यांकन निष्पक्षता से नहीं करते। विषमताओं का औचित्य केवल इसी से सिद्ध नहीं हो जाता कि उनसे लाभ उठाने वाले उनका समर्थन करते हैं। सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी सब बातों में वस्तुपरक मूल्यांकन के लिए यह जानना परमावश्यक है कि हमारा निर्णय किस मात्रा में उस व्यवस्था के परिणाम के साथ हमारे वैयक्तिक सम्बन्ध से उद्भूत होता है।

इस तथ्य को हॉबहाउस ने सुचारु रूप से यों अंकित किया है, “सत्य और असत्य के प्रश्नों को विश्वासपूर्ण भविष्यवाणियों द्वारा दबा देने का प्रलोभन सदा रहता है, यद्यपि इन भविष्यवाणियों का आधार कारण और कार्य के अन्तर्ज्ञान की अपेक्षा भविष्यवक्ता की अपनी पूर्व धारणाएँ अधिक होती हैं।” इतिहास का मार्ग भविष्यवाणियों के ध्वंसावशेषों से पटा है, जिनके वक्ताओं

ने अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के निष्कर्षों को भ्रमवश सम्यता का उन्नायक समझा। मेकाले ने हाउस ऑफ कामन्स में कहा था कि सर्व मताधिकार से समाज की नींव हिल जायगी।^१ नसाऊ सीनियर का दावा था कि भ्रम के घंटों को कानून द्वारा नियमित करना ब्रिटेन की उन्नति के प्रतिकूल होगा।^२ १६१४ में बैंकवालों का विचार था कि आधुनिक राज्य की साख-व्यवस्था के लिए युद्ध को चार वर्षों तक चलाए रखना असंभव होगा। हम सब अपनी अनुभूति के ऐसे बंदी होते हैं कि साधारणतः हमारे अनजाने ही यह हमको अपनी वैयक्तिक अन्तर्दृष्टि को ही शाश्वत सत्य मान लेने पर बाध्य कर देती है। सामाजिक परिवर्तन की भी आधी दुखान्तकियों का कारण यही होता है कि हम अपने को यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कर पाते कि हम गलती पर हैं।

संक्षेप में, भौतिक जगत में तो हम कार्य और कारण के विषय में विज्ञान-सम्मत हो सकते हैं, परन्तु मानवीय मामलों में विज्ञान-सम्मत होना कठिन है। क्योंकि इनके मूल्यांकन में हम अपने भावों और पक्षपातों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकते। इनका प्रभाव हमारे उन उपधारणों के चयन पर पड़ता है जिन पर हमारे निष्कर्ष निर्भर करते हैं। चाहे हम अपने आप को इस विश्लेषण में वस्तु-परक ही क्यों न समझें। जिन तथ्यों को हम अपने निर्णय का आधार बनाते हैं वे हमारे वातावरण से इतने अनुरंजित होते हैं कि जो वस्तु-परकता, रसायन-शास्त्र और भौतिक शास्त्र के क्षेत्र में सम्भव है वह मानव-जगत में नहीं हो पाती। हम भले ही अपनी पूर्ण शक्ति से इन तथ्यों और उन लक्ष्यों में, जिन्हें हम स्वीकार करते हैं, भेद करने की चेष्टा करें, पर इस प्रयास में पूर्ण सफलता कभी नहीं प्राप्त होती। व्यक्तिगत पक्षपात की मात्रा भिन्न हो सकती है, परन्तु वह रहता अवश्य है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में तो उपकरणों को इस प्रकार अलग किया जा सकता है कि कारण और कार्य में एक विशुद्ध वा निपेक्ष सम्बन्ध स्थिर हो जाय, परन्तु जटिल मानव-जगत में ऐसा करना असंभव है। एक न्यायज्ञ भले ही इस पर विचार करना अनावश्यक समझे कि किन लक्ष्यों के हेतु राज्य अपने नागरिकों से आज्ञा-पालन की अपेक्षा करता है; किन्तु एक राजनीतिज्ञ एक क्षण के लिए भी इन लक्ष्यों के आशय को विस्मृत करने का साहस नहीं कर सकता। अर्थशास्त्री यह कह सकता है कि जन-कल्याण की समस्याएँ

१. Speech in the House of Commons, May 3, 1842.

२. इस नियम के वास्तविक प्रभाव के लिए देखिए हचिन्स और हैरिसन की A History of Factory Legislation (1908) Appendix A.

उसके क्षेत्र से बाहर हैं, अभाव होने पर उसका काम केवल उत्पादन की अधिक वृद्धि के सर्वोत्तम उपाय ढूँढना है।^१ यदि वह अर्थशास्त्री कानून-व्यवस्था, राजनीतिक स्थिरता और मनुष्यों के मनोविज्ञान को, जो सभी एक पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र के अन्तर्गत स्थायी न होकर परिवर्तनशील हैं, अपने सिद्धान्तों के अचल आधार मान ले तो वह एक ऐसे बौद्धिक रेखागणित का निर्माण करेगा जिसका मूल्य मानसिक अनुशासन के रूप में जो भी हो, पर वास्तविक संसार से, जिसमें हम रहते हैं, वह एकदम विलग होगा। यद्यपि राजनीतिज्ञ भी अधिकतम उत्पादन में अभिरुचि रखता है फिर भी उसकी दृष्टि में वे परिस्थितियाँ, जिनके अन्तर्गत उत्पादन-कार्य होता है, और जिस प्रकार उत्पादित वस्तुओं का वितरण होता है, अधिकतम उत्पादन की समस्या से अलग नहीं की जा सकती, क्योंकि ये दोनों ही जन-कल्याण का उपकरण हैं। उसका संसार ऐसा अचल संसार नहीं है जिसमें उसकी सुविधा के लिए कतिपय रक्तहीन स्थिरांक सदैव अटल बने रहें। उसका संसार एक ऐसा संसार है जिसके अविराम परिवर्तन में मनुष्यों के विचार और निर्णय महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। यदि वह शासन-कार्य में सफलता की अपेक्षा करता है, तो अपनी नीति के निर्माण में वह इन विचारों और निर्णयों को बैंक-रेट अथवा उत्पादन की मात्रा की तुलना में कम महत्त्व नहीं देगा।

इस बात पर इतना बल देने का अभिप्राय एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो सकता है। एक प्रभावशाली पुस्तक^२ में प्रोफेसर राबिन्स ने १९२९ तथा अनुगामी वर्षों की मन्दी के कारणों का और उसके भयानक परिणामों से बचने के उपायों का विवेचन किया है। उनके मत में मन्दी का मुख्य कारण उद्योग-व्यापार में अधिक पूँजी लगाना है, जिसने विशेष रूप में संयुक्त-राज्य में वहाँ की ऋण-सुविधा सम्बन्धी अत्यधिक उदार-नीति के कारण भीषण-रूप धारण कर लिया है। उनके मतानुसार पुनरुत्थान के लिए यह आवश्यक है कि हम राजनीतिक स्थिरता स्थापित करें, और हस्तक्षेप, तट-कर-व्यवस्था, नियतांश, आर्थिक सहायतादि की उन नीतियों का परित्याग करने को तैयार हों जिनसे पूँजीवादी-पद्धति का स्वाभाविक प्रवाह अवरुद्ध होता है। इस तर्क की धारणा प्रस्तावित उपचारों से भी ज्यादा दिलचस्प है; क्योंकि राजनीतिक

१. L. Robbins, The Nature and Significance of Economic Science (1932), पृष्ठ २२-४४।

२. L. Robbins, The Great Depression (1934), विशेषकर देखिए पृष्ठ १६० और आगे।

स्थिरता अंशतः अनार्थिक कारणों से सम्बद्ध है, पर आर्थिक कारणों से भी वह असम्बद्ध नहीं है। वस्तुतः राजनीतिक स्थिरता की माँग का आशय आर्थिक पुनरुत्थान की माँग है, क्योंकि आज की राजनीतिक स्थिति में कदाचित् ही कोई ऐसा अव्यवस्थाजनक तत्त्व होगा जिसकी जड़ आर्थिक स्थिति में न हो। अस्थिरता के प्रमुख कारण—फासीवाद और साम्यवाद का उत्कर्ष, निशस्त्रीकरण की असफलता, प्रशान्त महासागर में जापानी खतरा—ये सब आर्थिक स्रोत से उद्भूत हैं; अतः आर्थिक कल्याण के पुनरुत्थान के लिए उनके उन्मूलन का विचार तर्कहीन है।

और पूँजीवाद के स्वाभाविक-प्रवाह का मतलब ? स्पष्ट है कि प्रो० राबिन्स के मन में श्री लिपमैन द्वारा उल्लिखित पूँजीवाद का वह घिसा-घिसाया रूप है जिसका प्रवाहशील पूँजीवादी व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है बल्कि जो एक अमूर्त अवधारणावाद की उपज है। इससे निकाले गये निष्कर्ष वास्तविकता से प्रायः शून्य हैं। हस्तक्षेप की नीतियों का निर्माण पूँजीवादी पद्धति में निहित प्रवृत्तियों और दबावों के कारण हुआ, न कि इस कारण कि उनके निर्माता राजनीतिज्ञ पूँजीवाद का विनाश चाहते हैं। ये प्रवृत्तियाँ और दबाव वास्तविक पूँजीवादी के लिए इतनी ही स्वाभाविक हैं जितनी कि हस्तक्षेप की वह नीति जिसकी ओर लौट जाने के लिए प्रो० राबिन्स हमें आमंत्रित करते हैं। हस्तक्षेप-नीति का अनुसरण तो उन पूँजीवादियों के दबाव से ही हुआ था जो राज्य से मनोवांछित कार्य करा सकते हैं। उनकी इस माँग का आधार नफा कमाने की वह आवश्यकता है जो कि पूँजीवादी पद्धति की मूलभूत प्रेरणा है। राजनीतिज्ञों के लिए हस्तक्षेप की माँग करने वाले हितों के दबाव के सामने झुकना असम्भव अथवा अनावश्यक बनाने के निमित्त प्रो० राबिन्स को आधुनिक राज्य के तमाम सम्बन्धों के उस आधार को, जिसके कारण उपर्युक्त दबाव सफल होता है, बदलना पड़ेगा। परन्तु वे तो उसी आधार को अपने तर्क का उपधारण मानकर चलते हैं, फलतः जिस गलती की वह शिकायत करते हैं उसे दूर करने के प्रमुख साधनों में से एक से वह अपने को वंचित कर लेते हैं।

प्रो० राबिन्स अपने उपधारणों के कारण अपने आपको केवल इसी कठिनाई में नहीं उलझा लेते हैं, मूलतः वह उस "स्वतंत्रता की प्राकृतिक पद्धति की ओर लौटने की माँग कर रहे हैं, जिसका समर्थन एडम स्मिथ ने आग्रहपूर्वक किया था; उस पद्धति में राज्य का मुख्य प्रकार्य आर्थिक संघर्ष में हस्तक्षेप करने से यथासम्भव दूर रहना है। नकारात्मक राज्य की स्थिति की ओर लौटने का प्रचार करना बड़े साहस का काम है; और इसी आधार पर हम

इसकी व्यावहारिकता की बहस को उपेक्षित कर सकते हैं। क्योंकि प्रो० राबिन्स के सिद्धान्त की रोचकता इसमें नहीं है कि वह एक व्यावहारिक नीति का बीज अपने में लिए है बल्कि इस बात में है कि यह किन धारणाओं पर आधारित है। ये धारणाएँ निम्नलिखित हैं : प्रथम, वैयक्तिक हितों की निर्बाध प्रतियोगिता से सुव्यवस्थित समाज का निर्माण होता है ; द्वितीय, सिद्धान्त से भिन्न जीवन में जो प्रतियोगिता निर्बाध चले वह उसी रूप में चलती रहेगी। इन धारणाओं में से कोई भी हमारे अनुभव के अनुरूप नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो राज्य-द्वारा हस्तक्षेप की नीति का विकास इसलिए हुआ कि निर्बाध प्रतियोगिता का सामाजिक मूल्य ऐसे दर्शकों के लिए भी, जिन्हें यह मूल्य नहीं चुकाना पड़ा, असह्य हो गया। ऐतिहासिक दृष्टि से अनियंत्रित प्रतियोगिता का यह भी परिणाम हुआ कि कालान्तर में ऐसे गुट बने जिनकी प्रवृत्ति एकाधिकार की ओर थी। उपलब्ध प्रमाण यह सिद्ध नहीं करते कि उद्योगपति राज्य द्वारा ही व्यावसायिक गुट बनाने पर विवश होते हैं, जिनके बिना वे अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा के परिणामों से बच नहीं सकते।^१ इसके विपरीत इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि औद्योगिक विकास के एक स्तर पर व्यावसायिक गुट की प्रवृत्ति प्रतियोगिता की प्रवृत्ति के समान ही प्रबल और स्वाभाविक होती है, और समाज को इस गुटबन्दी के परिणामों से बचाने के लिए राज्य द्वारा हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है।

प्रो० राबिन्स से सहमत विचारक यह कह सकते हैं कि यह इतिहास पूंजीवाद के दुरुपयोग का परिणाम है; यह स्वतः पूंजीवाद के स्वभाव में निहित नहीं है। इसका उत्तर तो यही है कि इस तर्क की धारणा के आधार पर हमें स्वभाव और दुरुपयोग के परिणाम में भेद करने का कोई साधन प्राप्त नहीं होता। इसके बिना हमें कार्य-कारण सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है, और इसके होते हुए भी, जब कभी पूंजीवादियों की गुटबन्दी द्वारा अनियमित प्रतिस्पर्धा को अवरोध करने की आशंका उत्पन्न हो जाय तो हमें राज्य को हस्तक्षेप के लिए आमंत्रित करना पड़ेगा। जैसा कि भली भाँति ज्ञात है संयुक्त राज्य के प्रसिद्ध शर्मन एक्ट का आधारभूत सिद्धान्त यही था; और मुझे सन्देह है कि हम इस प्रकार के उपाय को प्रशंनीय समझ सकते हैं।

किन्तु इसका एक व्यापक उत्तर भी है जिसके महत्व को दृष्टि में रखते हुए ही मैंने उस सिद्धान्त की समीक्षा की है जिसको प्रो० राबिन्स ने प्रति-

१. Cf. The Report of the Committee on Trusts (1918), R. Liefmann.

पादित किया है। उत्तर यह है—सामाजिक विश्लेषण के किसी स्तर पर यह निश्चित रूप से तय करने की आवश्यकता होती है कि जिस समस्या का समाधान ढूँढ़ना है वह क्या है और उसका अस्तित्व व्यावहारिक धरातल पर है अथवा आदर्श धरातल पर। एक ऐसे समाधान की खोज को जो कि केवल आदर्श धरातल के अनुरूप है व्यावहारिक धरातल पर तभी लाया जा सकता है जबकि हम उन मूलभूत धारणाओं से पूर्णतया परिचित हों जिन पर वह समाधान आधारित है। हमें यह अधिकार नहीं है कि हम एक आदर्श सिद्धान्त को व्यावहारिक दिखाने के लिए यह तर्क उपस्थित करें कि जो कुछ भी उस तर्क की धारणाओं के प्रतिकूल हो वह किसी न किसी रूप में 'अस्वाभाविक' और वास्तविकता से दूर है। यदि प्रतिस्पर्धा के सम्बन्ध में हमारा अनुभव यह सिद्ध करे कि अपने विकास के किसी न किसी स्तर पर वह अवश्य गुटबन्दी में परिणत हो जाता है और यदि औद्योगिक प्रक्रिया की किसी महत्वपूर्ण स्थिति में गुटबन्दी का अनिवार्य परिणाम किसी न किसी रूप में राज्य का हस्तक्षेप हो तो मेरे विचार में यह स्पष्ट है कि राज्य के हस्तक्षेप का प्रतिस्पर्धा के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है, और जो उपधारण इस सम्बन्ध को अस्वीकार करते हैं वे वास्तविकता को दूषित करते हैं। जिस 'स्वाभाविकता', को हम किसी विशेष कार्य-पद्धति से ही सम्बद्ध समझते हैं उसका आधार स्वयं तथ्यों पर नहीं होता। वह तो उन उपधारणों का परिणाम होती है जिनके आधार पर हम अपना अनुसंधान आरम्भ करते हैं, और स्वयं वे उपधारण, भले ही हम इस बात से अभिज्ञ न हों, उन मूल्यों का दर्पण होते हैं, जिनकी प्रतिरक्षा हम करना चाहते हैं, और सामाजिक आचरण में परिणाम प्राप्त करने के साधन जिन्हें हम, गलत या सही, बाँछनीय मानते हैं।

वस्तुतः किसी सामाजिक सिद्धान्त के उपधारण ऐसे मूल निर्णय होते हैं जो कि निर्णायक विचारक के अनुभव से उत्पन्न होते हैं। हाँब्स के विशाल विचारप्रासाद की नींव दो मान्यताओं पर रखी गई; प्रथम तो यह कि मानव-प्रकृति दुर्गुण-युक्त है, और द्वितीय यह कि एक अरोध्य संप्रभु ही मानव के स्वभावगत दुर्गुण को प्रतिबन्धित करके व्यवस्था कायम रख सकता है। लॉक मानव-स्वभाव को सद्गुण-युक्त और प्रजा की इच्छाओं की अवहेलना कनेर वाली सरकार को खतरनाक मानकर चलता है। रूसो ने ऐसी राज्य-व्यवस्था की उपेक्षा की जो अपने कार्यों द्वारा सामाजिक प्रक्रिया के परिणाम में सब नागरिकों का समान हित-साधन कर सके। प्लेटो से लगाकर हम किसी विचारक के व्यक्तिगत इतिहास से जितना अधिक परिचित हों उतनी ही सफलता

से हम उन कारणों की व्याख्या कर सकते हैं जिनसे वह उन उपधारणों पर पहुँचा, जो उसके सिद्धान्तों के आधार बने; और वे उपधारण उसके मनोवांछित समाज के स्वरूप के प्रतिफल हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये धारणाएँ गलत हैं। इसका यह तात्पर्य अवश्य है कि उनमें विचारक का वैयक्तिक पूर्वाग्रह विद्यमान है, जो, उदाहरणार्थ में डेलेलीफ के सिद्धान्त अथवा आधुनिक भौतिक विज्ञान में ऊर्जा-संरक्षण के सिद्धान्त में अनुपस्थित है। जो अर्थशास्त्र अपने व्यवहार-क्षेत्र में जन-कल्याण को स्थान नहीं देता उसे वह मान्यता कभी प्राप्त नहीं हो सकती जो, उदाहरण-स्वरूप, शोणत्वग् ज्वर के निदान को प्राप्त है; क्योंकि इस ज्वर के कारण जान लेने पर हम उस पर काबू पा सकते हैं; परन्तु पूंजीवाद की मन्दी के कारण जान लेने पर भी हम उसे इतनी सफलता से अधिकृत नहीं कर पाते। शोणत्वग् ज्वर के कीटाणु मानव-इच्छा में अप्रभावित होते हैं, परन्तु पूंजीवादी मन्दी के सम्बन्ध में मनुष्यों की इच्छाओं और उन इच्छाओं द्वारा निर्मित संस्थाओं का स्थान हमारे निर्णयों में महत्वपूर्ण होता है। शारीरिक रोग में चिकित्सा एक वस्तुपरक प्रक्रिया होती है जिसका सम्बन्ध सीधा रोग की प्रकृति से है, और जो, अपेक्षाकृत, चिकित्सक और रोगी दोनों से स्वतंत्र होती है। सामाजिक रोग में चिकित्सक और रोगी—राज्य और उसके नागरिक—दोनों की इच्छाएँ रोग-निदान और रोग-उन्मूलन में निर्णायक तत्वों का स्थान रखती हैं। औपध का सफल प्रयोग तभी हो सकता है, जब दोनों ही उपचार के प्रत्येक स्तर पर एकमत हों; और उनकी सहमति, अन्ततः, उनके इस विचार पर निर्भर है कि समाज को कैसा बनने की चेष्टा करनी चाहिए। इस विचार के आधार पर ही वे सामाजिक रोग के निदान की व्याख्या करते हैं।

(३)

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में ही राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन होना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक दार्शनिक ने न्यायज्ञों द्वारा प्रतिपादित राज्य के सिद्धान्त को लेकर उसका औचित्य वकीलों के विवाद-क्षेत्र से बाहर इस प्रकार सिद्ध किया है कि वह उसके मतानुसार वर्तमान राज्यों के व्यावहारिक स्वरूप पर ठीक उतरता है। अस्तु, दार्शनिक सिद्धान्त उन राज्यों का, जिन्हें हम जानते हैं, औचित्य सिद्ध करने का साधन-मात्र है। तो आज्ञा-पालन पर उसका हक आदर्श राज्य के साथ उसके सम्बन्ध और उन उद्देश्यों पर आधारित होता है, जिन्हें दार्शनिक आदर्श राज्य के साथ सम्बद्ध करता है।

मेरे विचार में उपर्युक्त कथन की सत्यता को सिद्ध करने का सबसे सरल

साधन यह होगा कि हम राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त (जिसको आज भी सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है) के शास्त्रीय स्वरूप की समीक्षा करें। यह सिद्धान्त राज्य की परिभाषा इस प्रकार करता है कि राज्य जन-समुदाय का ऐसा संगठन है, "जिसका प्रकाय सर्वोत्कृष्ट जीवन के बाह्य उपकरणों का संधारण है।"^१ अतएव राज्य के प्रति निष्ठा हमारा कर्तव्य है, क्योंकि जब हम राज्याज्ञाओं का पालन करते हैं तो हम ऐसी संस्थाओं का आज्ञा-पालन करते हैं जिनका कार्य स्पष्टतः जन-कल्याण का उन्नयन है, जिसमें हमारा व्यक्तिगत कल्याण भी सम्मिलित है।

तो यह स्पष्ट है कि यदि इस परिभाषा के अन्तर्भाव को वास्तविक राज्यों के साथ जोड़ा जाय तो कई जटिल समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। उदाहरणार्थ, क्या हम हिटलर के राज्य के विषय में कह सकते हैं कि उसका 'कार्य' जन-कल्याण के बाह्य उपकरणों का संधारण है? यदि ऐसा है तो इस दावे का आधार क्या है? क्या इसलिए कि हिटलर का राज्य स्वयं अपने को ऐसा कहता है? ऐसी दशा में क्या हम औपचारिक रूप से घोषणा करने के लिए अधिकृत व्यक्तियों द्वारा कथित राज्य के प्रकाय को ही उसके लक्ष्यों की सही कसौटी मान सकते हैं? या इसलिए कि राज्य के घोषित लक्ष्यों को वे लोग सही मान लेते हैं जिनके लिए घोषणा की जाती है? यदि यह बात है तो 'मान लेते हैं' का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह है कि घोषणा का कोई सफल विरोध नहीं किया जाता? इससे अधिक तो राज्य दावा नहीं कर सकता; क्योंकि यहूदी, समाजवादी, साम्यवादी और उदारवादी सब इस बात पर जोर देते हैं कि हिटलर का राज्य उन्हें 'उत्कृष्ट जीवन' के उन बाह्य उपकरणों से वंचित रखता है जिन्हें वे आवश्यक समझते हैं। हम सब वस्तुतः जानते हैं कि ऐसे भी राज्य हैं जिनके साथ इस प्रकार के उद्देश्य को सम्बद्ध करना सर्वथा सामान्य बुद्धि के प्रतिकूल है।

यदि दार्शनिक सिद्धान्त को वास्तविक राज्यों का निष्कर्ष मान लिया जाय तो हम यह कहने को बाध्य होंगे कि राज्य तभी राज्य है जब वह 'उत्कृष्ट जीवन के बाह्य उपकरणों का संधारण करे।' ऐसा न करने पर उसे राज्य संज्ञा प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। इस विचार की संदिग्धता पर बल देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह विचार इस प्रश्न को खुला छोड़ देता है कि इन दो प्रकार की क्रियाओं के मध्य निर्णायक कौन है और यदि ये निर्णायक राज्य के नाम पर काम करनेवालों के आचरण के अन्तर्भाव को देखते हुए इस

१. परन्तु तुलना कीजिए Bosanquet की Theory of the State (1910) परिच्छेद ८, जहाँ अन्य असंगत परिभाषाएँ दी हुई हैं।

निर्णाय पर पहुँचे कि वे किसी भी अर्थ में राज्य नहीं है, तो ऐसी अवस्था में उन निर्णायकों को अधिकार क्या है ? मेरे विचार में यह बात स्पष्ट है कि या तो राज्य की परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जिससे हम राज्य के कार्यों को उन लोगों के कार्यों से सम्बद्ध कर सकें जिन्हें राज्य की शक्ति प्रयोग करने की वैध क्षमता प्राप्त है, अन्यथा हम थू सीमेकस की उस परिभाषा पर वापस पहुँच जाते हैं जिसमें न्याय को अधिक शक्तिशालियों का शासन कहा गया है। इस दृष्टि से राज्य का अधिक शक्ति-सम्पन्न होना ही उसका आज्ञा-पालन का दावा रह जाता है। पर वास्तव में कोई आदर्शवादी राज्य के आज्ञा-पालन के अधिकार को इस आधार पर स्थापित नहीं करता।

यही आलोचना डाक्टर बोसांके द्वारा की गई परिभाषा की भी हो सकती है। वह कहते हैं, “राज्य वह समाज है जिसे स्वभावतः एक ऐसी इकाई माना जाता है जो वैध रूप से शक्ति का प्रयोग करती है।”^१ यहाँ परिभाषा का औचित्य इस बात पर निर्भर करता है कि हम ‘वैध’ का क्या अर्थ लगाते हैं। यदि इसका अर्थ राज्य की औपचारिक क्षमता से है तो यह राज्य की उस प्रकृति का सम्यक विवरण है जिसे हम वास्तविक राज्यों के व्यवहार से जानते हैं, पर यदि इसका अर्थ इससे अधिक है, तो इसका आधार या तो यह विचार होगा कि वास्तविक सदैव आदर्श होता है, या कानून के उन उद्देश्यों का सिद्धान्त जिन्हें प्राप्त करना राज्य का कर्तव्य है। उपरोक्त अवस्था में ‘वैध रूप से शक्ति का प्रयोग करते’ का अर्थ होगा उन उद्देश्यों के लिए शक्ति का प्रयोग जिन्हें ऐसे कारणों से उत्कृष्ट समझा जाता है जो कानून के औपचारिक क्षेत्र से परे हैं। तो हमारे सामने यह द्विमुखी समस्या उत्पन्न होती है : (अ) वे उद्देश्य क्या हैं और (ब) इस बात का निर्णय कौन करे कि उनकी पूर्ति हो रही है अथवा नहीं।

इस द्विविधा से बचने के लिए आदर्शवादी स्वतन्त्रता के भाव का विशेष अर्थ लगाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से, कम से कम रूसो के समय तक, अधिकांश विचारक स्वतन्त्रता का अर्थ साधारणतया प्रतिबन्धों का अभाव लगाते थे। मनुष्य तब स्वतन्त्र समझा जाता था जब वह स्वयं किसी विशेष आचार-प्रणाली पर बाध्य हुए बिना अपनी व्यवहार-विधि को निर्धारित कर सके। और क्योंकि राज्य निश्चय ही बल-प्रवर्तन का यन्त्र था, इसलिए इसका तात्पर्य यह था कि राज्य के कार्यों से मनुष्य की स्वतन्त्रता पर कुछ न कुछ प्रहार होता ही है। यह स्वीकार किया जाता था कि थोड़ा प्रहार आवश्यक ही था; हत्या के विरुद्ध कानून, चोरी पर प्रतिबन्ध, सड़क का कानून, ये सब व्यक्तिगत

स्वतन्त्रता को सीमित करनेवाले थे। परन्तु उनके परिणामों को देखते हुए सामान्यता स्वीकार किया जाता था कि इन प्रतिबन्धों का होना उचित है। कालान्तर में कुछ स्वतन्त्रताएँ, विशेषकर भाषण और लेख की स्वतन्त्रताएँ, योग्य सरकार का निषेध मानी जाने लगीं। किसी राज्य में ये स्वतन्त्रताएँ प्राप्य न होने पर उसे उन उद्देश्यों का निषेधक समझा जाता था जिनकी पूर्ति उसका कर्तव्य था।

जिस अनुभव पर उपर्युक्त विचार आधारित था, उसे समझना सरल है। जो लोग स्वयं अपना धर्म निश्चित करने अथवा उस समाजिक विधान की रूपरेखा के जिसके अन्तर्गत उन्हें जीवन-यापन करना था, निर्धारित करने के अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे, वे स्वभावतः ऐसे राज्य को क्रूर कह कर उसकी भर्त्सना करते थे जो उन्हें बलात् इन अधिकारों की पूर्ति से वंचित रखता था। उनकी दृष्टि में इस बात का कोई महत्व नहीं था कि राज्य अपने कार्य को जन-समुदाय के हित, धार्मिक सत्य के संरक्षण अथवा व्यवस्था के संधारण के नाम पर उचित ठहराता था। वे समझते कि जब राज्य उन्हें उन स्वतन्त्रताओं से वंचित रखता था, उनके सुख का मार्ग अवरुद्ध हो जाता था; विशेष कर १६वीं शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति और १७वीं सदी की वैज्ञानिक क्रान्ति के बाद लोगों का विचार था कि राज्य मुख्यतया व्यक्तियों के सुख के उन्नयन के लिए एक संगठन है। मेरे विचार में यह कहना ठीक न होगा कि वे व्यक्ति को राज्य की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे। सत्य तो यह है कि उनके विचार में राज्य कुछ ऐसे लक्ष्यों से बाध्य होता था जिनकी पूर्ति के लिए राज्य-रूप में उसका जीवन उत्सर्ग होना चाहिए।

राज्य के सिद्धान्त के विषय में इस दृष्टिकोण की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति इस प्रकार हो सकती है कि मनुष्यों के कुछ नैसर्गिक अधिकार माने जाते थे जिन पर आक्रमण करना राज्य की वैध शक्ति के बाहर था। अधिकारों से अभिप्राय आचरण की उन विधियों से था जिनके बिना सुख की प्राप्ति असंभव समझी जाती थी। इन अधिकारों का मूल भाव और उन पर दिया गया बल भिन्न-भिन्न विचारकों के समय और स्थान के साथ परिवर्तित होता रहता था। कभी तो धार्मिक स्वतन्त्रता पर रोक लगती थी; और व्यक्तिवादी विचारक एकोन्टियस, कैस्टेलियन या लॉक यह समझने का प्रयत्न करते कि धार्मिक स्वतन्त्रता क्यों सामाजिक हित का एक अंग है। कभी ताज द्वारा स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध शिकायत होती; और फिर व्यक्तिवादी विचारक जैसे सत्रहवीं सदी के फ्रांस में क्लाड जोली और उसी सदी के इंग्लैंड में लेवेलर (Leveller) विचारक

यह सिद्ध करने की चेष्टा करते कि जनता को शासन की उन नीतियों को, जिनसे उनके जीवन की रूप रेखा-निश्चित होती थी, निर्धारित करने का अधिकार था।

हमारा सम्बन्ध इस तर्क के विस्तार से उतना नहीं है जितना इसकी सामान्य दिशा में। और यह सामान्य दिशा दो मूलभूत सिद्धान्तों की मान्यता पर आधारित थी। प्रथम, इस बात पर जोर दिया जाता था कि असीमित शक्ति, प्रयोग करनेवाले और जिन पर उसका प्रयोग हो, दोनों के लिए, विष-तुल्य होती है। द्वितीय, इस बात पर आग्रह था कि राज्य-शक्ति पर प्रतिबन्ध इस प्रकार निर्धारित किए जायें कि प्रभुत्व-सम्पन्न शक्ति के लिए कतिपय कार्य और कार्य की कतिपय विधियाँ, कम से कम साधारण परिस्थितियों में, निषिद्ध हों। क्रान्ति के अधिकार के बंध आधार ढूँढ़ने के जो असम्भव प्रयास १६४२, १६८६, १७७६ और १७८९ में किया गया उसका मुख्य कारण यह था कि लोग राजा को उस आचरण-पद्धति पर चलने के लिए बाध्य करना चाहते थे जिसे वे उस समय सर्वोपरि समझते थे। जिन सिद्धान्तों द्वारा उन्होंने अपने विचारों का समर्थन किया वे किसी विशेष आवश्यकता को सार्वभौम और शाश्वत सिद्ध करने के प्रयास थे।

राज्य व्यक्तियों के सुखोपार्जन के लिए एक संगठन है; एक शक्ति के रूप में इसका अधिकार इसी उद्देश्य से प्रतिबंधित है; स्वतंत्रता मुख्यतया बन्धनों का अभाव है और सुख के लिए अनिवार्य शर्त है; अधिकार व्यक्तियों के आचरण-क्षेत्र के वे सीमा-चिह्न हैं, जिनमें साधारणतः राज्य को हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं; ये लगभग धार्मिक सुधार (Reformation) में फ्रांस की राज-क्रान्ति तक के राजनीतिक दर्शन के इतिहास के मुख्य तत्त्व थे। जिस परम्परा का ये प्रतिनिधित्व करते हैं, निश्चय जितनी मान्यता उसे प्राप्त थी, लगभग उतना ही उसका विरोध होता था, और १९वीं शताब्दी के मध्य तक इसको पूर्ण मान्यता मुश्किल से मिल पाई थी। यहाँ जो बात समझ लेना आवश्यक है वह यह है कि राज्य अपने निर्माण-क्रम में, कभी स्वयं एक साध्य नहीं था, अपितु यह सदैव एक साध्य का साधन मात्र रहा, और व्यक्ति—परिमित, पृथक और अभिज्ञेय व्यक्ति—सदैव अपने अधिकार से ही जीवन-यापन करने वाला समझा जाता था, न कि एक ऐसी इकाई के रूप में जो अपने राज्य की सेवा मात्र के लिए हो। राज्य के आचरण की परख उसके अपने कल्याण नहीं बल्कि व्यक्ति के सुख की कसौटी पर की जाती थी। राज्य के अधिकार की सीमाएँ उसकी अपनी शक्ति नहीं, बल्कि व्यक्तियों के हितों के आधार पर निर्धारित होती थीं।

यह परम्परा, जिसको हम आम तौर पर उदारवादी राज्य की परम्परा कहते हैं, बिना चुनौती के नहीं रही। १७वीं सदी में हॉब्स ने इसके आधार की प्रखर आलोचना की कि राज्य के प्राधिकार को सीमित कर देने के इसके प्रयास का अनिवार्य परिणाम अराजकता होगी; और १८वीं शताब्दी के अन्त में दी मेस्ट्रे ने हॉब्स के तर्क को दुहराया, यद्यपि एक भिन्न ढंग से बल देते हुए। वस्तुतः जैसा कि मैं आगे के एक परिच्छेद में दिखाऊंगा, उदारवादी परम्परा का जन्म उसके साथ आनेवाली धार्मिक शक्ति के निवास-स्थान के स्थानान्तरण से ही समझा जा सकता है। मूलतः यह राजनीतिक सत्ता के सामन्तवादी कुलीन तंत्र से व्यावसायिक मध्यम वर्ग को हस्तान्तरण के समर्थन का एक तरीका था; और इस प्रकार के हस्तांतरण को उचित बताने वाले सभी दर्शनों के समान इसने अपने सिद्धान्तों को ऐसे तर्क-शास्त्र की शब्दावली में व्यक्त किया जिसका विस्तार सिद्धान्त में इतना अधिक था जितना उसके प्रवर्तक कदाचित् व्यवहार में मानने को तैयार न होते। जिन लोगों ने इंग्लैण्ड और फ्रांस की राज्य-क्रान्तियों का सृजन किया, उन्होंने अपने आपको मानव-अधिकारों का समर्थक घोषित किया; परन्तु यदि उन उपायों का विश्लेषण किया जाय जिनके द्वारा उन्होंने अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत किया था, इससे भी अधिक उन दावों की भी मीमांसा की जाय जिन्हें वे अमान्य समझते थे, तो स्पष्ट कहा जायगा कि 'मानव-अधिकारों' से वास्तव में उनका आशय मनुष्यों के उस सीमित वर्ग के अधिकारों से था जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व है। ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से उदारवादी परम्परा एक बौद्धिक क्रान्ति थी, जो नवीन (और नवीन महत्व वाले) औद्योगिक क्षेत्र में सम्पत्ति-स्वामियों के हितार्थ हुई।

निस्सन्देह, इसने अपने आपको इससे कहीं अधिक बताया; अन्यथा इसको ऐसे लोगों का प्रबल समर्थन—जो इसे प्राप्त हुआ—न प्राप्त हो पाता, जो सर्वथा सम्पत्ति-हीन थे। फिर उदारवादी परम्परा के क्रान्तिकारी दौर में, चाहे वह इंग्लैण्ड में क्रामवेलियन प्रतिक्रिया हो या फ्रांस में थर्मिडोर की, जो बात मनोरंजक है वह वह निराशा है जो लोगों को यह जानकर होती है कि विशेषाधिकारों का विस्तार सिद्धान्त में दिखाई गई आशा की अपेक्षा व्यवहार में कहीं अधिक संकुचित होता है; इसीलिए क्रामवेल के साथ-साथ इंग्लैण्ड में लिलबर्न और विन्सटेनले और फ्रांस में डारेक्टरी के शासन में बेबो भी हुए। संक्षेपतया, उदारवादी परम्परा, यदि इसे उन लोगों के उद्देश्यों से अलग करके देखा जाय, जन्होंने इससे लाभ उठाया, राज्य के लिए एक निरन्तर चुनौती थी। जब तक

राज्य के लाभों से वंचित लोग अपने को उन लाभों से वंचित समझते हैं और इस भावना से अनुप्रेरित होकर कार्य करते हैं तब तक उदारवादी परम्परा उनको ऐसा करने का हठ अधिकार प्रदान करती है। उदारवादी परम्परा का आज्ञा-पालन सम्बन्धी सिद्धान्त उस सीमा तक दोषपूर्ण है जहाँ तक वह राज्य के प्राधिकार के आपेक्षिक स्वभाव पर बल देता है।

राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त का उद्भव इस दोष के निवारण के लिए हुआ। जो विचार इसने स्थिर करना चाहा वह चार सम्बद्ध प्रस्तावनाओं पर आधारित है। प्रथमतः आदर्शवादी सिद्धान्त ने स्वतंत्रता का अर्थ बन्धन का अभाव लेना अस्वीकार किया, इस विचार को यह सिद्धान्त बिल्कुल ही नकारात्मक समझता है। बन्धन का अभाव स्वतंत्रता की शर्त हो सकता है, पर स्वतंत्रता का सार-तत्त्व नहीं है। आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार स्वतंत्रता का सार-तत्त्व आत्म-निर्णय है। मुझे अपने ऊपर स्वयं शासन करना चाहिए। यदि गुलामी से बचने के लिए मैं दूसरों का आज्ञा-पालन नहीं करता तो मुझे स्वयं अपना आज्ञा-पालन करना चाहिए, ताकि मेरी स्वतंत्रता में विधायक उपादेयता हो।

परन्तु आत्म-निर्णय का तात्पर्य मन में उठने वाली हर आकास्मिक इच्छा का आज्ञा-पालन नहीं है। प्रत्येक क्षणिक मनोवेग का गुलाम होना दासता का निकृष्टतम रूप है। आत्म-निर्णय के आशय में स्वतंत्रता का मतलब यह होना चाहिए कि मेरे ऊपर इच्छाओं के उस स्थायी क्रम का नियंत्रण हो जो कि मेरा वास्तविक 'अहम्' है। मैं अपना सच्चा स्वरूप वहीं पाता हूँ। वहीं मुझे आत्मानुभूति का सर्वोत्तम अवसर प्राप्त होता है। मैं सच्चे अर्थ में स्वतंत्र तभी हूँ जब मैं ऐसे नियमों का पालन करूँ जो मैंने स्वयं अपने लिए उस उच्चादर्श के प्रकाश में बनाए हों जिसे मैं प्राप्त करना चाहता हूँ। वह उच्चादर्श ही मेरा वास्तविक कल्याण है; और इसी के आदेश-पालन में मेरी वास्तविक स्वतंत्रता निहित है। क्योंकि बिना इस उच्चादर्श को लक्ष्य किये मैं ऐसे तैराक की तरह हूँ जो एक पथ-हीन समुद्र में थपेड़े खा रहा हो। मैं ऐसी शक्तियों का गुलाम बना, जिन्हें मैं नियंत्रित नहीं कर सकता, मैं दिशा-हीन होकर भटक रहा हूँ। सच्ची स्वतंत्रता के लिए मुझे अन्धे मनोवेगों का नहीं, वरन् अपने वास्तविक 'अहम्' के आदेशों पर चलना चाहिए। जो मुझे करना चाहिए उसे करने में ही मैं स्वतंत्रता के उपकरणों को पाता हूँ।

परन्तु मुझे करना क्या चाहिए ? इस प्रश्न का महत्वपूर्ण उत्तर आदर्शवादी यह देता है कि मेरी वास्तविक इच्छा मेरे समाज की सामान्य परम्पराओं

के लक्ष्यों के सहश है। अपने जीवन का उद्देश्य मैं स्वयं नहीं बनाता, यह मेरे समाज के लक्ष्यों के क्रम द्वारा निर्मित होता है। समाज से पृथक् मेरा कोई उच्च आदर्श हो ही नहीं सकता; मैं जो कुछ कर सकने योग्य हुआ हूँ वह उन सामाजिक सम्बन्धों के कारण है जो मेरे जीवन को सार और दिशा प्रदान करते हैं। मेरी इच्छा जो, अन्यथा क्षणिक मनोवेगों की अपरिमेय संतुष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहेगी और जो अपने एकाकीपन में आलसी और स्वार्थ-परायण और स्थायी उद्देश्यों से शून्य होगी, सामाजिक प्रसंग द्वारा रूपान्तरित हो जाती है। इसे बोसांके के शब्दों में, “वे लक्ष्य प्राप्त हो जाते हैं जो इच्छुक ‘अहम्’ के लिए जीवन को जीने योग्य बनाने की क्षमता रखते हैं।”^१

और मनोमय प्राणी होने के नाते हम इस प्रसंग में निहित दायित्वों से मुक्त नहीं हो सकते। वे हमारे अस्तित्व के सर्वोच्च पार्श्व के द्योतक हैं। हम इसे मानें, चाहे नहीं, वे जीवन के ऐसे स्थायी लक्ष्य हैं जिनकी प्राप्ति से हमारा जीवन सार, सुषमा और सौन्दर्य से परिपूर्ण हो जाता है। साथ ही क्योंकि समाज का जीवन तभी संभव है जबकि इस लक्ष्य वाले दायित्वों को स्वीकार कराया जाय, इसलिए जिन संस्थाओं में ये निहित हैं वे निश्चय ही हमारी निष्ठा की पात्र हैं। उनका आज्ञा-पालन ही हमारी स्वतंत्रता है। जब हम उनका आज्ञा-पालन करते हैं तो हम उस वास्तविक इच्छा को पूर्ण करते हैं जो हमें अपने आपको अपनी सर्वोच्च संतुष्टि के लिए अनुशासित करने योग्य बनाती है। मनोवेगों के प्रति गुलामी को एक विवेकशील प्राणी के लिए अयोग्य समझते हुए हम उसे तिलांजलि दे देते हैं। उसके बदले हम एक ऐसी आचरण-विधि का पालन करने के दायित्व को अपनाते हैं जिसके प्रति निष्ठा ही संभावित उत्कृष्ट जीवन की शर्त है। इस सामाजिक नैतिकता के आज्ञा-पालन में ही हम अपनी स्वतंत्रता पाते हैं।

परन्तु इस स्वतंत्रता की अन्तर्वस्तु की परिभाषा कैसे हो? मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में अपनी निष्ठा पर कई परस्पर-विरोधी दावों का सामना करता है। प्रश्न यह है कि उसकी वास्तविक इच्छा इनमें से किसी में निहित है। वह परिवार, गाँव, ट्रेड-यूनियन, चर्च आदि का सदस्य होता है, और ये संवास प्रायः परस्पर-विरोधी दशाओं में चलते हैं। वह चट्टान कौनसी है जिस पर खड़ा होकर वह यह निश्चित रूप से समझ ले कि ऐसा करके उसने स्वतंत्रता पा ली है? इस प्रश्न का आदर्शवादी उत्तर यह है कि व्यक्ति की वास्तविक इच्छा और राज्य की इच्छा में तादात्म्य है। राज्य का आज्ञा-पालन

करने में व्यक्ति अपने सर्वोत्कृष्ट 'अहम्' का आज्ञा-पालन करता है। इसका आज्ञा-पालन करने में वह अपनी निष्ठा उस शक्ति को समर्पित करता है, जो अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित अन्याय संवांसीयों के आशिक हितों के मुकाबले में समाज के स्थायी और सम्पूर्ण हितों की रक्षा करते हैं। राज्य वह सर्वोपरि और व्यापक संवास है जिसके अन्तर्गत ही अन्य सब संवासों का कुछ अर्थ होता है; राज्य, "अधिकारों का एक मात्र संस्थापक..... नैतिक मूल्यों का अभिभावक है।"^१ अतएव हमारी इच्छा और राज्य की इच्छा में जितना अधिक तादात्म्य हो उतनी ही अधिक संभावना हमारे जीवन में इन अधिकारों और नैतिक मूल्यों की अनुभूति की है, और आखिरकार यह अनुभूति ही मनोमय प्राणी की स्वतंत्रता का सच्चा लक्ष्य है।

यदि इस विचार के साथ न्याय करना है तो इसकी समीक्षा के पहले एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है, जिस पर यह विशेष बल देता है। आदर्शवादी इस बात का दावा नहीं करता कि राज्य व्यक्ति के अन्तःकरण का स्वामी है। यदि मेरा विश्वास हो कि राज्याज्ञाओं के विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए तो ऐसा करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। परन्तु इस विद्रोह की प्रेरणा व्यक्तिगत मनोरथ से कुछ अधिक होनी चाहिए। मुझे यह स्मरण रखना चाहिए कि "जितना मैं अपने 'अहम्' के निकट पहुँचता हूँ उतना ही अधिक तादात्म्य मेरे और सामुदायिक मन के बीच स्थापित होता है।"^२ और क्योंकि यह सामुदायिक मन ही राज्य है अतः मुझे विद्रोह करने का अधिकार केवल इस सार्वजनिक विश्वास के आधार पर ही हो सकता है कि राज्य के वैध प्रतिनिधियों की अपेक्षा उसके स्थायी हितों का मैं अधिक अच्छा प्रतिनिधित्व करता हूँ। मुझे याद रखना चाहिए कि अन्वय तो मेरा यह विचार मिथ्या हो सकता है, और दूसरे विद्रोह करने में भय इस बात का है कि किसी क्षणिक और व्यावहारिक लाभ के लिए सामाजिक संगठन के स्थायी मूल्यों का बलिदान न हो जाय। सामान्यतः विद्रोही की यह आदत होती है कि वह राज्य पर ऐसे दोष थोप देता है जो वास्तव में सरकार के कार्यों के परिणाम होते हैं। जब वह सरकार को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करता है वह उस स्थायी कल्याण को खतरे में डाल देता है जिसके उन्नयन के लिए राज्य का अस्तित्व है।

मैं तुरन्त कह देना चाहता हूँ कि जिस बल की ओर ऊपर संकेत किया गया है वही दार्शनिक सिद्धान्त के लिए घातक है। क्योंकि यदि विद्रोह के

१. Bosanquet, Social and International Ideals, पृ० २८४।

२. उपरिचत्, पृ० २८१।

अधिकार—अधिकार नहीं कर्त्तव्य—को मान लिया जाय, चाहे उसका प्रयोग कितना ही विरल हो, तो यह निष्कर्ष सीधा निकलता है कि मेरी निष्ठा किसी एक संस्था के प्रति नहीं, बल्कि उन उद्देश्यों के प्रति है जिनके उन्नयन के लिए उसका अस्तित्व है। वह संस्था उन उद्देश्यों का उन्नयन करती है अथवा नहीं, यह मैं उसके कार्य-कलाप की जाँच के बिना नहीं जान सकता। और यदि ईमानदारी से जाँच करने पर मैं इस निर्णय पर पहुँचूँ कि वह ऐसा नहीं कर रही है तो मेरा कर्त्तव्य स्पष्ट हो जाता है। मेरी वास्तविक इच्छा का तादात्म्य राज्य की इच्छा से उसी दशा में हो सकता है जबकि राज्य सचमुच नैतिक मूल्यों का अभिभावक हो। या तो आदर्शवादी को यह तर्क प्रस्तुत करना पड़ेगा कि सब राज्य आत्मना नैतिक मूल्यों के अभिभावक होते हैं और या यह कि जिन लोगों के हाथ में राज्य की संप्रभुत्व शक्ति होती है और वे ऐसा आचरण नहीं करते, वे राज्य नहीं होते। पहली अवस्था में विद्रोह के अधिकार को मानने का कोई आधार नहीं रहता और दूसरी दशा में, क्योंकि विद्रोह यदि होता भी है तो चूँकि वह राज्य के विरुद्ध नहीं होता, इसलिए आदर्शवादियों द्वारा की गई विद्रोह की निन्दा आधारहीन हो जाती है।

संक्षेपतः वस्तु-स्थिति यह है कि राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त—कम-से-कम अपने आधुनिक विशिष्ट रूप में—आदर्श और वास्तविक के परस्पर-सम्बन्ध की महत्वपूर्ण समस्या का संतोषजनक समाधान नहीं कर सका है। जिस राज्य की वह चर्चा करता है उसका अस्तित्व तो बोसांके के आग्रहानुसार अवधारणाओं के जगत में ही होता है, इसलिए इसका वास्तविक राज्यों से कोई तादात्म्य नहीं; यह तो इन राज्यों के कार्यों के मूल्यांकन के लिए एक तरीका या मापदण्ड मात्र है। अतएव इससे वास्तविक जगत के राजनीतिक दायित्व की समस्या हल नहीं हो सकती। इससे तो केवल इतना ही ज्ञात होता है कि हमारी निष्ठा पर राज्य के दावे का अधिकार क्या है। पर यह इस समस्या को बिना हल किए ही छोड़ देता है कि वास्तविक जगत के राज्य उन शर्तों को पूरा करते हैं या नहीं जिन पर उनका स्वत्व आधारित है।

अतः यदि हम हीगेल के साथ पूर्णतः सहमत होकर कहें कि जो वास्तविक है वही मनोमय है अर्थात् जो है—और इसी कारण कि वह है—वही अनिवार्यतः होना भी चाहिए, तो इसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि हम मनुष्य जाति के प्रत्यक्ष अनुभव से आँखें मूंद रहे हैं; क्योंकि यह कहने के लिए साहस की आवश्यकता होगी कि १७८९ के पूर्व का फ्रांस या ज़ार का रूस अपने नागरिकों की निष्ठा का पात्र था। राज्य सम्बन्धी कोई भी दृष्टिकोण, जिससे ऐसे भ्रष्ट

निष्कर्ष निकलते हों, कम-से-कम पहली नज़र में, तो इतना असंगत प्रतीत होता है कि उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह (आदर्शवादी सिद्धान्त) या तो एक ऐसी युक्ति है जिसका आधार यह धारणा है कि जो (कुछ) है, वही उचित है—और इसे कोई भी मानने को तैयार न होगा—या (और मेरे विचार में इसके अधिकांश समर्थक इसे इसी रूप में देखते हैं) यह तर्क है कि परिवर्तन शक्ति द्वारा न होकर प्रभाव द्वारा होना चाहिए; दूसरे शब्दों में यह एक दावा है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रान्ति का मार्ग अपने फल की अपेक्षा अधिक महंगा पड़ता है।

परन्तु इस सबके अलावा भी आदर्शवादी सिद्धान्त अतिशय असंतोषजनक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह इच्छा (will) की मीमांसा करने में अपर्याप्त है। मैं ऐसे कार्य का निश्चय करता हूँ जिनके लिए मुझे पश्चाताप होता है, इससे यह तो नहीं सिद्ध हो जाता कि मेरे पश्चाताप में मेरे निश्चय की अपेक्षा मेरा वास्तविक 'अहम्' अधिक विद्यमान है और न यही कि मेरा वास्तविक अहम् मेरे मौलिक निश्चय में ही अधिक निवास करता है। मैं वही हूँ जो कि मेरी इच्छा है, चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों; इन्हीं से मेरे उस व्यक्तित्व का निर्माण होता है जो मुझे शेष मनुष्य-जाति से भिन्न करता है, मेरी इस इच्छा के केवल उसी भाग को वास्तविक मानना जो उन त्रुटियों से मुक्त है जिनसे मेरी इच्छा का कोई अन्य भाग लिप्त है, केवल अलंकार-शास्त्र की एक तरकीब मात्र होगी, क्योंकि, मेरा वास्तविक स्वरूप मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्व में ही विद्यमान है। आदर्शवादियों की भाँति यह कहना कि मैं अपने वास्तविक रूप में तभी होता हूँ जब मेरी इच्छा उस संगठित समाज की इच्छा के अनुरूप होती है, जिसका मैं सदस्य हूँ, व्यक्तित्व के स्वरूप को एकदम गलत समझता है।^१

आदर्शवादी सिद्धान्त की एक और दुर्बलता है, व्यक्तित्व के स्वभाव को समझने में उसकी असफलता। इस सिद्धान्त की दृष्टि में व्यक्तित्व का सारतत्त्व उस अन्तिम एकाकीपन में नहीं होता जिसे हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं बल्कि उस अवदान में होता है जो हमारा एकाकीपन सम्पूर्ण समाज के प्रति करता है। इस सम्पूर्ण समाज में व्यक्ति भी सम्मिलित है।^२ अतएव आदर्शवादी सिद्धान्त का एक तर्क है कि मेरा एकाकीपन वास्तविक नहीं है बल्कि वह उस सामान्य अनुभव

१. इस विचार के पूर्ण और प्रतिभाशाली प्रतिपादन के लिए देखिए—
L. T. Hobhouse का *The Metaphysical Theory of the State*.
विशेषकर परिच्छेद २।

२. Bosanquet, *Philosophical Theory*, पृ० १७८।

में, जिसमें मैं आश्रित हूँ, सम्मिलित होने वाले सभी लोगों के एकाकीपन से मिलकर एक इकाई बनाता है। परन्तु जिस महत्त्वपूर्ण बात की यह सिद्धान्त उपेक्षा करता है वह यह है कि सामान्य अनुभव का जो रूप एक व्यक्ति की दृष्टि में होता है वह दूसरे की नहीं। कार्ल मार्क्स और ग्लैंडस्टन एक ही सामाजिक जीवन में सम्मिलित थे, परन्तु उससे उन्होंने एक-से निष्कर्ष नहीं निकाले। एक सामान्य जगत में सम्मिलित होने से एकता का निर्माण नहीं हो जाता। उसकी उत्पत्ति उस कार्य को समान दृष्टि से देखने से होती है जो कि उस सामान्य जगत के आशय के आधार पर वांछनीय प्रतीत हो। जब तक हम यह न मान लें कि उस जगत के तथ्यों के अन्तर्भावों के विषय में मनुष्यों में मतभेद सम्भव है और मतभेद रहा है, इतिहास सर्वथा अर्थ-शून्य हो जाता है। एकता कोई बनी-बनाई वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति तब होती है जब समान उद्देश्यों के लिए चेष्टा करते हुए मनुष्य उसे पा लेते हैं; और उसे पा लेना एकाकीपन की यात्रा है। यह मेरी निजी वस्तु है, इस अर्थ में, कि जब तक मैं इसे व्यक्त न करूँ कोई दूसरा इसके अर्थ से अभिज्ञ नहीं हो सकता।

इस विचार का महत्व यह है कि इसके द्वारा हम स्वतन्त्रता के आदर्श-वादी सिद्धान्त का परित्याग कर सकते हैं। अहम् की वास्तविकता का आधार उसके एकाकीपन के बजाय दूसरों के साथ उसकी एकता को मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि राज्य द्वारा व्यक्ति के विरुद्ध बल का प्रयोग नहीं बल्कि उसके ऊपर उस इच्छा का आरोपण है जिसकी वांछा उस व्यक्ति की वास्तविक इच्छा करती है। इस दृष्टिकोण से तो स्वतन्त्रता की कोई समस्या ही नहीं रहती, क्योंकि जब व्यक्ति पर इस प्रकार प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो इसका अर्थ यह लेना चाहिए कि यथार्थतः उसकी वास्तविक इच्छा यही चाहती है। परन्तु मेरे विचार में हममें से अधिकांश का यह तर्क होगा कि क्रांतिकारी कभी ऐसा नहीं समझता कि कारागार में डालकर उसके वास्तविक अहम् को सरकार स्वतन्त्रता प्रदान कर रही है। वह तो प्रतिबन्ध का ही अनुभव करता है और उसे अपनी स्वतन्त्रता का निषेधक समझता है। जब कि वह अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति से रोका जा रहा हो उस समय उसे यह बताना कि उसे स्वतन्त्रता प्रदान की जा रही है, मेरी सम्मति में तो शब्दों को उनके अर्थ से सर्वथा वंचित कर देना है।

बोसकि के साथ यह कहना इस विचार का संतोषजनक उत्तर नहीं होगा कि आदर्शवाद के परित्याग से स्वशासन के विरोधाभास की व्याख्या असम्भव हो जाती है। ऐसे समाज में, जो मेरे ऊपर बाध्यता का प्रयोग

करता है, मैं अपने को उसी सीमा तक स्वतन्त्र समझता हूँ जहाँ तक मैं उन उद्देश्यों को स्वीकार करता हूँ जिनके लिए समाज बाध्यता से काम लेता है; और किसी विशेष परिस्थिति में मैं सम्भवतः बाध्यता के विरोध करने के अधिकार की सहर्ष बलि देने को तैयार हो सकता हूँ, यदि हिसाब करने से मेरा विचार यह हो कि जिन समान लक्ष्यों की चेष्टा समाज करता है, उनकी अच्छाई उस विशेष उद्देश्य की बुराई की अपेक्षा अधिक है जिसे मैं अवांछनीय समझता हूँ। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं बाध्यता का इसलिए स्वागत करता हूँ कि विश्लेषण करने पर मैं उसमें वास्तविक उद्देश्यों को निहित पाता हूँ जिनकी ओर मेरी इच्छा प्रयत्नशील है। १९०२ के अधिनियम के अधीन यदि कोई नॉन-कॉन्फॉर्मिस्ट (Non-Conformist) शिक्षा शुल्क देता था तो इसलिए नहीं कि उसकी वास्तविक इच्छा उस अधिनियम का अनुमोदन करती थी, अपितु इसलिए कि, हिसाब करने पर, उसका विचार था कि कानून-निर्मात्री शक्ति को ही चुनौती देने की अपेक्षा एक बुरे कानून को सह लेना अधिक लाभकर होगा। इस विचार से वह अपने को अधिक स्वतन्त्र नहीं अनुभव करता था; इसका मुख्य प्रभाव तो यह था कि उसे उन लोगों को बदल देने की आवश्यकता प्रतीत होती थी जो राज्य के प्राधिकार का संचालन बुरे कानून बनाने के लिए करते थे।

आदर्शवादी सिद्धान्त के एक और पहलू की समीक्षा आवश्यक है। यह सिद्धान्त राजनीतिक दायित्व का औचित्य सामान्य हित के ऐसे विचार पर ठहराता है जिसमें समुदाय के सभी सदस्य समान भागीदार हैं और जिसकी प्राप्ति राज्य द्वारा होती है, क्योंकि राज्य उन सदस्यों की वास्तविक इच्छा का संस्थागत मूर्त रूप है। किन्तु यह स्पष्ट है कि (१) यह विचार वास्तविक इच्छा के उस सिद्धान्त पर अधारित है जिसे हम अस्वीकार कर चुके हैं; (२) सामान्य हित एक ऐसा वाक्यांश है जिसमें विभिन्न अवधारणाएँ सम्मिलित हैं जिनके पारस्परिक भेद समझना आवश्यक है। सामान्य हित का तात्पर्य (अ) उस हित से हो सकता है जो परिभाषित: आदर्श राज्य में प्राप्त होता है। पर इससे वास्तविक राज्यों में सामान्य हित की समस्या हल नहीं होती, (ब) सामान्य-हित का अर्थ कल्याण के उन सिद्धान्तों से हो सकता है जिन्हें राज्य को लक्षित करना चाहिए। इन सिद्धान्तों पर यदि हम सहमत हो भी सकें तो भी यह प्रश्न हल नहीं होता कि कोई राज्य विशेष इन्हें व्यवहार में प्राप्त करने का प्रयत्न कर भी रहा है या नहीं; (स) इस वाक्यांश का अर्थ उन व्यवहारों, परम्पराओं और उद्देश्यों से भी हो सकता है

जिनके संधारण में कोई समाज विशेष संलग्न दिखाई दे। इंग्लैण्ड की कल्पना हमारे मन में इन्हीं विचारों से सम्बद्ध होकर आती है। हम अनुभव करते हैं कि अंग्रेज होने के नाते हम सब इन विचारों की विशेषता में शरीक हैं; चाहे हम उनकी परिभाषा के बारे में अनिश्चित हों। हम राज्य से यह अपेक्षा करते हैं कि वह अपनी प्रभुत्व-सत्ता का प्रयोग उस अन्तरात्मा के संरक्षण के लिए करे जो उन विचारों को उस विशिष्टता से आभूषित करते हैं जिसे हम 'इंगलिश' कहते हैं। हम यह भी अनुभव करते हैं कि इन धारणाओं का किसी मूल रूप में उल्लंघन, इंगलिश राज्य क्या बनने की चेष्टा कर रहा है, इस सम्बन्ध में अपनी अवधारणा के प्रति हमारी निष्ठा को शिथिल और सम्भवतः नष्ट कर देगा। और किंचित परिवर्तनों के साथ यही बात उन सब अन्य देशों के विषय में कही जा सकती है जो अपने राष्ट्रीय उत्तराधिकार के प्रति अनुराग रखते हैं।

दार्शनिक सिद्धान्त इस सारपूर्ण तथ्य को समझने में असफल रहा है कि सामान्य हित की उपर्युक्त अवधारणाएँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि अपने दैनिक जीवन के अनुभव के आधार पर लोग उनका क्या अर्थ लगाते हैं। लोग राज्य का मूल्यांकन उन संकल्पों के आधार पर नहीं करते जिन्हें वह घोषित करता है। सब सीमान्त उदाहरणों में—और वस्तुतः ये ही उदाहरण विशेष महत्व रखते हैं—वे राज्य का मूल्यांकन इस कसौटी पर करते हैं कि उसके व्यावहारिक आचरण का प्रभाव उन पर क्या होता है। अन्ततः, वे राज्य से यह अपेक्षा करते हैं कि जो सामान्य हित राज्य प्राप्त कर पाता है उसमें प्रत्येक नागरिक को प्रत्यक्ष भाग मिले और वह भी ऐसी मात्रा में कि वह राज्य के कर्त्तव्य से संतुष्ट हो। इस प्रसंग में नागरिक को यह बताना पर्याप्त न होगा कि जो व्यावहारिक है वही वास्तव में आदर्श भी है। सीमान्त उदाहरण में उसे यह विश्वास स्वतः हो जाना चाहिए। राज्य का कोई सिद्धान्त पर्याप्त होने का दावा कर ही नहीं सकता जब तक कि वह इस आवश्यकता को पूरा न कर ले कि, एक पृथक और एकाकी मानव के रूप में, व्यक्ति को यह विश्वास हो जाय कि राज्य द्वारा स्थापित सामान्य हित में उसका हित सहज ही सन्निहित है।

यहाँ यह संकेत कर देना उचित होगा कि इस तथ्य को रूसो ने, और कुछ कम मात्रा में टी. एच. ग्रीन ने, समझा था। यद्यपि रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी सिद्धान्त ने उसे राजनीति में आदर्शवादी धारा का आधुनिक संस्थापक बना दिया था तथापि उसने अपना दर्शन ऐसे सिद्धान्तों पर स्थिर किया था कि उसके उद्देश्य कार्य रूप में विकृत न होने पाएँ। उसके अवधारण

में समता का भाव पूर्णतया व्याप्त है। समता के संरक्षण के लिए ही राजनीतिक समाज का निर्माण करने में मनुष्य अपना सर्वस्व राज्य को समर्पित कर देते हैं। समता के संरक्षण के लिए ही यह आवश्यक है कि सही अर्थ में कानून का स्वरूप सामान्य होना चाहिए। और उसका प्रभाव सब पर एक-सा होना चाहिए। समता के संरक्षण के लिए ही राज्य छोटा होना चाहिए ताकि सामान्य इच्छा का निर्धारण समुदाय के समस्त सदस्यों द्वारा हो सके। अन्त में, समानता के संरक्षण के लिए ही एक नागरिक धर्म की स्थापना की जाती है ताकि लोग संविधान की अन्तरात्मा की सानुराग सुरक्षा के लिए दीक्षित हो सकें। रूसो का संप्रभु समुदायों के सदस्यों से आज्ञा-पालन की अपेक्षा कर सकता है क्योंकि वह स्वयं समुदाय ही है और इसके अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता। समुदाय के नाम पर सरकार जैसी कोई संस्था संप्रभुता का संचालन कर सकती है, यह विचार तो रूसो की वैध राज्य सम्बन्धी अवधारणा की नींव को ही हिला देगा।

कुछ ऐसे ही बोध पर टी. एच. ग्रीन का दृष्टिकोण भी आधारित है। इसीलिए वह यह लिख पाया कि, “व्यक्ति का यह दावा या अधिकार कि समाज उसके लिए कुछ शक्तियों को सुरक्षित रखे और समाज का व्यक्ति पर कुछ शक्तियों का प्रयोग करने का प्रत्याधिकार, दोनों ही समान रूप से इस तथ्य पर निर्भर हैं कि ये शक्तियाँ इसलिए आवश्यक हैं कि एक नैतिक प्राणी होने के नाते मनुष्य अपने ध्येय में सफल हो और अपने और दूसरों में श्रेष्ठतम चरित्र के निर्माण के लिए सफलतापूर्वक आत्मोत्सर्ग कर सके।”^१

इसी आधार पर उसने राज्य की एक प्रसिद्ध परिभाषा इस प्रकार की है : “राज्य व्यक्तियों का समूह है जो यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक के अधिकार हैं और उनके पास इन अधिकारों के संधारण के लिए कतिपय संस्थाएँ हैं।”^२ इस अवधारणा के अनुसार मेरे अधिकार निश्चय ही राज्य से स्वतन्त्र नहीं हैं, परन्तु राज्य का मुझ से आज्ञा-पालन की अपेक्षा करने का अधिकार भी निश्चय ही उसके द्वारा मेरे अधिकारों को मान्यता मिलने पर निर्भर है। अतः ग्रीन के विचारानुसार ऐसा राज्य जो मेरे अधिकारों को नहीं मानता राज्य ही नहीं हो सकता क्योंकि वह उस नैतिक लक्षण से विहीन होता है जिसके द्वारा उसे नागरिकों की राज्य-भक्ति पर अधिकार प्राप्त होता है। इसी कारण ग्रीन

१. Principles of Political Obligation पृ० ३४७।

२. वही, पृ. ४४३।

का आग्रह है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं बल्कि इच्छा है। उसकी दृष्टि में बल का प्रयोग वहीं तक उचित है जहाँ तक कि वह श्रेष्ठ जीवन के उपकरणों की उपलब्धि में सहायक होता है और उसने इस बात पर जोर दिया कि जो राज्य अपना अस्तित्व केवल बल-प्रवर्तन द्वारा बनाए रखता है, उसे नागरिकों पर कोई नैतिक अधिकार प्राप्त नहीं है। उसका कहना था^१ कि, “हम रूस को शिष्टाचारवश राज्य कह लेते हैं, यह अनुमान करते हुए कि यद्यपि ज़ार की शक्ति पर कोई वैधानिक अंकुश नहीं है तथापि उसे इस आशय में अधिकारों का संरक्षक मान लिया जाता है कि उसका (ज़ार की शक्ति का) प्रयोग एक मान्य परम्परा के अनुसार होता है जो सार्वजनिक हित के लिए आवश्यक है।” आज़्ञापालन पर रूस-राज्य के अधिकार में ग्रीन को संशय था क्योंकि उसके कृत्य ग्रीन के विचार में, उन उद्देश्यों के अनुरूप नहीं थे जिनकी प्राप्ति एक राजनीतिक समाज के लिए अनिवार्य है। ग्रीन वास्तविक और आदर्श में सादृश्य दिखाने का कोई प्रयत्न नहीं करता।

ऊपर वर्णित विचारों और हीगेल द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्त में जिन बातों पर बल दिया गया है, मेरी सम्मति में, उनके अन्तर पर ध्यान देना आवश्यक है। ग्रीन और रूसो दोनों के मत में व्यक्ति के अधिकारों का उपभोग करने के स्वत्व का आधार उसका नैतिक प्राणी होना ही है। अधिकारों पर उसका स्वत्व अन्य मनुष्यों के स्वत्वों के समकक्ष है। राज्य को नागरिकों में भेद-भाव करने, किन्हीं को अधिकार प्रदान करने और किन्हीं को उनसे वंचित रखने का कोई हक नहीं है। राज्य जो कुछ करे वह इस प्रकार होना चाहिए कि उसका प्रभाव समुदाय के सभी सदस्यों पर एक-सा हो; नैतिक प्राणी होने के नाते, राज्य द्वारा उपलब्ध कल्याण से उनका स्वार्थ समान रूप से सम्बद्ध है। अतः सबको राज्य के कृत्यों का मूल्यांकन करने का समान अधिकार है। उनमें से प्रत्येक की दृष्टि में राज्य की संप्रभुता एक संप्रतिबन्ध वस्तु है। उनके लिए राज्य द्वारा सत्ता का प्रयोग उसी हालत में उचित है जबकि वह श्रेष्ठ जीवन की उन दशाओं को स्थापित करे जिनके अन्तर्गत ही, ग्रीन के शब्दों में, एक नैतिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति के लिए अपने जीवन-ध्येय को पाना सम्भव है।

हीगेल में इस दृष्टिकोण का आभास नहीं मिलता। वह न केवल इस बात को अस्वीकार करता है कि नैतिक निकष राज्य के कृत्यों पर भी लग सकते हैं, उसने यह भी लिखा कि, “राज्य एक आत्म-निश्चित परम-मानस है

जो अपने अधिकार के अतिरिक्त किसी सत्ता को नहीं मानता और न पाप, पुण्य, अपमान, क्षुद्रता, धूर्तता और प्रवचना के अमूर्त नियमों को मान्यता देता है।" ^१ हीगेल का दृष्टिकोण इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि वह वास्तविक राज्य का तादात्म्य उस अभिजात वर्ग से करता है जिसके सदस्य ही, उसकी सम्मति में, सदाचार में इतने बड़े-बड़े होते हैं कि उन्हें पूर्ण मानव माना जा सकता है। उसके निकट न श्रमिक का कोई महत्व है न नियोजक का। इन दोनों ही का लक्ष्य अति संकीर्ण है जो उनके विशेष कार्य की परिधि में सीमा-बद्ध होता है। उनकी महत्वाकांक्षा, धन-संग्रह करने और अपने छोटे से दायरे में प्रतिष्ठा पाने पर ही समाप्त है। वे सैनिक के स्वभाव को नहीं समझ सकते। वे धन-संग्रह में इतने तल्लीन हैं कि उनमें देश-भक्ति का उदय असम्भव है। कृषक के प्रति हीगेल के मन में अधिक सम्मान है। उसके अन्दर निष्ठा और भक्ति-भाव की योग्यता होती है; परन्तु इस निष्ठा और भक्ति-भाव का केन्द्र कोई व्यक्ति ही होता है न कि कोई सिद्धान्त। कृषक व्यवहार-पटु होता है पर उसमें उस व्यापक प्रतिभा का अभाव होता है जो उसे उन विशिष्ट स्वार्थों से ऊपर उठा सके जिनसे वह घिरा होता है।

अतएव हीगेल के विचार में राष्ट्रीय राज्य की सावयव सम्पूर्णता इन तीनों वर्गों के समन्वय में निहित है। उद्योगपतियों और श्रमिकों में प्रतिभा भले ही हो पर वे संकीर्ण और स्वार्थान्मुख विशिष्टता के पंक में फँसे होते हैं। कृषक में सम्पूर्ण समुदाय के प्रति भक्ति-भाव होता है पर प्रतिभा के अभाव में यह भक्ति-भाव एक मूक अन्धविश्वास मात्र ही है। यह उसे राज्य का एक स्वस्थ तत्त्व बनाता है परन्तु इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वह उन गुणों का प्रयोग करने में असमर्थ है जिनकी आवश्यकता शासन-कार्य में होती है। केवल अभिजात ही अपने वर्ग के स्वार्थ से ऊपर उठकर उस धरातल पर पहुँच सकते हैं जहाँ निजी और सार्वजनिक कर्तव्यों में तादात्म्य होता है; और यही वर्ग जिसमें यह अन्तर्दृष्टि वर्तमान है राज्य के नाम पर आदेश देने की क्षमता रखता है। अपने विशिष्ट स्वार्थ से ऊपर उठने की शक्ति और निष्पक्षता के फलस्वरूप यही वर्ग सामाजिक सदाचार के सर्वोत्कृष्ट रूप को प्रदर्शित करता है। यह वर्ग ही उस अन्तरस्थ आदर्श को पूर्णतया व्यक्त कर सकता है जो राष्ट्रीय राज्य में उद्भूत होने की निरन्तर चेष्टा में है।

इस दृष्टिकोण के स्रोत ढूँढ़ना कठिन नहीं है। अंशतः इसकी उत्पत्ति का

कारण यूनानियों की इस विचारधारा के प्रति अनुरक्ति है कि जो लोग जीवन यापन के लिए उद्यम पर निर्भर करते हैं वे नागरिकता के लिए अयोग्य होते हैं। इसका आधार बर्क का यह विचार भी है कि जिन्हें कल की चिन्ता नहीं करनी पड़ती वे संकुचित वैयक्तिक स्वार्थों की गुलामी से मुक्त होते हैं, अतः वे सार्वजनिक सेवा के लिए पूर्णतः आत्म-समर्पण करने में समर्थ होते हैं। अंशतः हीगेल की विचारधारा उसके क्रान्तिकारी युग के भ्रान्त प्रयोगवाद के विरुद्ध आवेशपूर्ण प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही, इससे हीगेल की यह मनोकामना भी व्यक्त होती है कि जिस मूल्य पर भी हो संतुलन की ऐसी दशा का निर्माण किया जाय जिसमें फ्रांसीसी-विजेता से मुक्त होकर जर्मनी का एक महान राज्य के रूप में पुनरुत्थान हो सके और वह अपनी अन्तरात्मा के अनुरूप बने। हीगेल की अन्य राजनीतिक रचनाओं की भाँति इसमें भी उन वर्गों की दुर्बलताओं की सूचक अन्तर्दृष्टि वर्तमान है जिन्हें वह नापसन्द करता है। साथ ही, इसमें बर्क की भाँति, हीगेल की उस वर्ग की अपर्याप्तताओं को समझने की अक्षमता भी वर्तमान है जिससे उसे राजनीतिक पुनरुत्थान की आशा थी।

सारांश यह है कि इस उपगमन के फलस्वरूप हीगेल एक नगण्य अल्प-संख्यक वर्ग के अतिरिक्त सब को सफल नागरिकता के लिए अयोग्य ठहराता है और उन्हें राज्य की संप्रभुता के संचालन से इस आधार पर वंचित कर देता है कि अपने व्यवसायों के कारण संकीर्ण विचारों में जकड़े होने से वे अपने निजी स्वार्थों के लिए जन-हित का बलिदान कर देते हैं। सामान्य कल्याण की प्राप्ति के लिए उन्हें अभिजात वर्ग के आत्म-त्याग पर निर्भर करना पड़ता है जिसे, स्वयं हीगेल के शब्दों में, उनसे जीवन-वृत्ति मिलनी चाहिए क्योंकि वे (अभिजात वर्ग) समुदाय को राजनीतिक निर्देशन प्रदान करते हैं। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण विशाल उपधारणों पर टिका है। इसमें उस सावधानी का सर्वथा अभाव है जो ग्रीन और रूसो के दृष्टिकोण में वर्तमान थी। क्योंकि यह तो मानव-जाति के एक बड़े भाग को नैतिक प्राणी होने की क्षमता से शून्य मानकर चलता है और इस उपधारण के सहारे आगे बढ़ता है कि अभिजात वर्ग पर निजी स्वार्थ को ही सामान्य कल्याण न समझ लेने, अपितु दोनों में तादात्म्य स्थापित कर लेने का विश्वास किया जा सकता है। और हीगेल यह दोनों बातें मानता है हालाँकि इतिहास साक्षी है कि व्यवसाय और राजनीतिक क्षमता में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है और अभिजातों का आदर्श आरम्भ में चाहे कितना ही ऊँचा हो अन्त में वे सार्वजनिक नीति के उद्देश्यों का संकुचित अर्थ लेने के कारण असफल होते हैं। और इस संकीर्ण अर्थ का कारण यही

होता है कि श्रमिकों, व्यापारियों और कृषकों की भाँति अभिजात वर्ग भी अनिवार्यतः अपने अनुभव का बन्दी होता है और उससे ऊपर नहीं उठ सकता। हीगेल ने बर्क की *Reflections on the French Revolution* का अध्ययन किया और वह पूर्णतः प्रभावित हुआ, किन्तु खेद इस बात का है कि इस ग्रंथ के अन्तर्निहित सिद्धान्तों पर *Thoughts on the Present Discontents* किस प्रकार एक अन्तिम टिप्पणी है, इसे वह नहीं समझ पाया। द्विग व्यवहार द्विग आदर्श का पर्याप्त उत्तर था।

मूलतः, हीगेल की विचारधारा, और वास्तव में, सचमुच आदर्शवादी सिद्धान्त, सामाजिक संगठन से सम्बन्धित एक ऐसे उपधारण पर आश्रित है जिसके अन्तर्भाव अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आदर्शवाद का तर्क है कि पूर्ण अपने किसी अंश से बड़ा है; अतः राष्ट्रीय राज्य के हित को समुदाय के किसी सदस्य या सदस्य-समूह के हित की अपेक्षा अधिक महत्वशाली समझना चाहिए। अस्तु, जिनके हाथों में राज्य की संप्रभुता का नियंत्रण रहता है, उन्हें उस महान हित के संरक्षण के लिए उत्तरदायी होने के कारण किसी अन्य वर्ग की तुलना में, जिसके जिम्मे किसी लघुतर हित का संरक्षण है, आज्ञा-पालन पर अधिक अधिकार प्राप्त होता है।

पर यह उपधारण ऐसी समस्याओं से ओत-प्रोत है जिनका समाधान यह नहीं कर पाता। जब तक राज्य और समाज में तादात्म्य न हो—और आदर्शवादी सिद्धान्त इस तादात्म्य को बिना प्रमाण दिए ही मान लेता है—राष्ट्र और राज्य के हित एक नहीं हो सकते। उपरोक्त तो, बोसांके के शब्दों में, केवल, “वह समाज है जिसे स्वभावतः बल का वैध प्रयोग करने वाली इकाई माना जाता है।” क्योंकि राज्य एक संप्रभुता-सम्पन्न संगठन है इसलिए निश्चय ही इसकी प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गत अन्य सभी संवास इसके अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे इसके अंग हैं। रूस में रोमन कैथोलिक चर्च यह नहीं मानेगा कि वह सोवियत राज्य का एक अंग है; जर्मनी “जर्मन क्रिश्चियन्स” का उदय वहाँ के एवेंजेलिकल चर्च द्वारा हिटलर-राज्य से अपना तादात्म्य न मानने का अनिवार्य परिणाम है। यदि वास्तविकता के साथ न्याय करना है तो हम यह नहीं मान सकते कि समस्त सामाजिक उद्देश्य राज्य के अन्तर्गत आ जाते हैं और वह उनका औचित्य निर्धारित कर सकता है। राज्य उनकी वैधानिकता निश्चित करता है और आवश्यकतानुसार उनको आज्ञा-पालन पर वैध रीति से बाध्य कर सकता है, पर कानून के आगे नतमस्तक होने को संप्रभुता के परिभाषित स्वभाव के औपचारिक और अवधारणागत

निष्कर्ष से अधिक समझना भूल होगी। औचित्य का सम्बन्ध तो विवाद के सर्वथा एक भिन्न लोक से है।

जो भी हो, यह कहना कि अपने पूर्ण रूप में राज्य अपने अंशों के योग से बड़ा है, इससे कुछ तय नहीं होता क्योंकि, प्रथमतः, यह तो सब संवातों—चर्च, श्रमिक-संघ, राजनीतिक दल आदि—के बारे में भी कहा जा सकता है और, दूसरे, यह कथन इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता कि इससे क्या निष्कर्ष निकलते हैं। स्पष्ट ही यह कहना उचित होगा कि राज्य का हित, जहाँ तक उसमें उसके समस्त सदस्यों का हित वस्तुतः समाविष्ट है, किसी व्यक्ति विशेष या व्यक्ति-समूह के हित से बड़ा है; पर इससे भी यह प्रमुख प्रश्न अनिर्णीत रह जाता है कि राज्य द्वारा प्रस्तावित कोई कार्य निश्चय ही उसके सभी सदस्यों के हित के लिए होता है या नहीं। साथ ही हमें यह तथ्य भी स्मरण रखना चाहिए कि “राज्य द्वारा प्रस्तावित कोई कार्य” का वास्तविक अर्थ राज्य के नाम पर काम करनेवाली सरकार द्वारा प्रस्तावित कोई कार्य होता है। परन्तु कोई भी चैतन्य मनुष्य यह नहीं कहेगा कि सरकार का कार्य केवल इसी आधार पर उचित हो जाता है कि वह सरकार का कार्य है। यह तो एक व्यक्ति-समूह द्वारा किसी ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास है जिसे वह संतोष-जनक समझता है और जो स्यात् जन-कल्याण के लिए सर्वोच्च संकल्प के साथ किया जा रहा है। पर यह लक्ष्य केवल इसीलिए उचित नहीं हो जाता कि यह उन्हें उचित प्रतीत होता है और न इसलिए कि इस पर उत्तम संकल्पों के साथ काम होता है। इतिहास की कतिपय भयंकर भूलें ऐसे ही लोगों द्वारा हुई हैं जिनका प्रेरक-हेतु जन-कल्याण की प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ न था।

अतिभौतिक कठिनाईयों को तो छोड़िए।^१ इस आदर्शवादी विचार में भ्रान्ति यह है कि राज्य के आदर्श उद्देश्यों और सरकार की व्यावहारिक नीति को एक समझने की निरन्तर भूल की जाती है। राज्य एक ऐसा संगठन है जो सामाजिक कल्याण के लिए बल-प्रवर्तक-शक्ति का प्रयोग करता है। पर यह तो कार्य उन्हीं व्यक्तियों के माध्यम से कर सकता है जो इसके नाम में बोलते हैं। यह मान लिया जाता है कि जब वे इस प्रकार कुछ कहते हैं तो वे उन उद्देश्यों के हेतु ही ऐसा करते हैं जिनके लिए राज्य की स्थापना हुई है। यह दावा किया जाता है कि राज्य की दार्शनिक अवधारणा के चतुर्दिक जो

१. हॉबहाउस ने इनका सुन्दर विवेचन किया है; देखिए *The Metaphysical Theory of the State*, पृ० २७; और मेरे *Grammar of Politics* (छठा संस्करण) पृ० २६ से तुलना कीजिए।

चैभवशाली आन्ध्र्या व्याप्त है उसका श्रेय सरकार के कार्यों को ही है। किन्तु कोई मार्क्सवादी या यहूदी या उदारवादी यह श्रेय हिटलर को नहीं देगा, जब वह जर्मन राज्य के नाम से कार्य करता है; और न कोई मार्क्सवाद का विरोधी स्टालिन को ही यह श्रेय देगा जब वह सोवियत-राज्य के नाम पर कार्य करता है। दोनों दशाओं में हमारा कहना है कि सरकार के कार्य का मूल्यांकन इस आधार पर करना चाहिए कि वह कहाँ तक उस नीति के अनुरूप है जिसे हम, परिस्थिति-विशेष में, उचित समझते हैं; और हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि राज्य का निर्णय (जो वास्तव में उन्हीं का निर्णय होता है जिनके हाथ में राज्य की संप्रभुता है), केवल इसी नाते कि वह राज्य का निर्णय है, हमारे निजी निर्णय का स्थान ले सकता है।

और जब हम यह कहते हैं कि राज्य एक सर्व आलिंगक इकाई है, तो हमें यह स्मरण रखने की सावधानी कर लेनी चाहिए कि इस इकाई का अस्तित्व अवधारणागत आदर्श में है न कि वास्तविकता में। अमूर्त परिभाषा द्वारा इसका निर्माण होता है, और यह वास्तविकता का रूप लेती है जब मनुष्य इसे यह रूप देने का इरादा करते हैं। यदि हम इतिहास से शिक्षा लेने की चेष्टा करें तो हम न्यूनाधिक निश्चित रूप से कह सकते हैं कि किन दिशाओं में यह एकता वास्तविक बन सकती है। यह एकता वास्तविक नहीं हो सकती जब तक कि नागरिकों की एक भारी संख्या उस कल्याण से अपवर्जित रहती है जिसे राज्य प्राप्त कर पाना है; अन्ततोगत्वा, किसी राजनीतिक समुदाय में राजनीतिक शक्ति से वंचित होने का अर्थ उस शक्ति के कार्य-कलाप द्वारा प्राप्य लाभ से भी वंचित होना है। यह एकता ऐसी दशा में भी वास्तविक नहीं हो सकती जब नागरिकों को राज्य के मामलों पर अपने मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता न हो। विवेक-सम्पन्न नीति सदैव अनुभव पर चिन्तन का परिणाम होती है; और जहाँ अनुभव की अभिव्यक्ति निषिद्ध हो वहाँ इस निषेध के अनुपात में ही विवेक-सम्पन्न नीति के उपकरणों का अभाव होता है। यही कारण है कि, सामान्यतया, तानाशाह कभी सुस्थिर राज-वंश बनाने में सफल नहीं हुए हैं। क्योंकि वे केवल उसी अनुभव की अभिव्यक्ति की अनुमति देते हैं जिससे उनके अपने कार्यों पर संतोष प्रकट हो, इसलिए वे अपने को प्रजा के मनोभावों को समझने से वंचित कर लेते हैं। किसी भी राज्य में शक्ति का प्रयोग—विशेषतः दीर्घ काल के लिए—तभी उचित समझा जायगा जबकि वहाँ आलोचना के निर्बंध अवसर सुलभ हों।

बात यहीं समाप्त नहीं होती। किसी राज्य की एकता हमेशा अपने

नागरिकों की प्रतिष्ठित प्रत्याशाओं को संतुष्ट करने की उसकी क्षमता पर निर्भर करती है; और राज्य के कार्य-कलाप का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जो इस नियम से उन्मुक्त हो। नागरिकों को हिटलर के जर्मन राज्य की भाँति, राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित रखने का अर्थ उन्हें स्थिरता से विहीन कर देना है; क्योंकि जिन लोगों के मन में यह चिन्ता बनी रहे कि कल जाने क्या हो, वे ऐसे भय का शिकार बन जाते हैं जिसकी उद्यत निष्ठा से कोई संगति नहीं। इसके अतिरिक्त, कदाचित् ही कोई राज्य दीर्घ काल के लिए जीवन-स्तर में भारी ह्रास सहन कर सकता है, जब तक कि यह सिद्ध न किया जा सके कि, प्रथम, यह ह्रास आवश्यक है और दूसरे, समाज की विभिन्न श्रेणियों पर इसका लगभग समान प्रभाव होता है। और जहाँ नागरिकों को यह विश्वास हुआ कि राज्य के कार्य पक्षपात पर आधारित हैं, वे राज्य के प्राधिकार के प्रति अपने पूर्व दायित्व से अपने को मुक्त समझने लगते हैं; और वह क्षण आलोचना के उस युग का सूत्रपात करता है जो क्रान्ति-युग का अग्रगामी होता है।

प्रतिष्ठित प्रत्याशा की तुष्टि करने की क्षमता के लिए किसी विशेष प्रकार के संविधान की आवश्यकता नहीं होती; भूतकाल में तानाशाही से लगाकर प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तक प्रत्येक प्रकार का राज्य वह एकता प्राप्त कर सका है जो नागरिकों की प्रत्याशाओं की सफल तुष्टि का परिणाम होती है। राज्य के प्रकारों के इतिहास में जो बात अवलोकनीय है वह है उनकी आपेक्षिक अस्थिरता; और राजनीति के दार्शनिक सिद्धान्तों की त्रुटियों में से एक यह रही है कि वे इस वृत्त का संतोषजनक विवेचन नहीं कर सके। विचार करने पर, केवल एक उदाहरण से ही, यह बात विचित्र सी प्रतीत होती है कि ब्रिटेन की जिस संसदीय (पार्लियामेन्टरी) प्रणाली को मात्र एक पीढ़ी पूर्व न केवल वहीं के नागरिकों की उत्कट निष्ठा प्राप्त थी बल्कि विस्तृत रूप से सारे संसार के लिए एक प्रतिमान समझा जाता था, उसे आज उतने ही विस्तृत रूप में शंका और अश्वि की दृष्टि से देखा जाता है।^१ और एक अन्य क्षेत्र में, यह बात महत्वपूर्ण है कि १९१४ के पूर्व किसी भी देश में पूँजीवाद के वैध आधारों के पोषण के हेतु राज्य-सत्ता के प्रयोग पर कुछ भक्तियों के अतिरिक्त किसी को आपत्ति नहीं थी; पर आज राज्य-सत्ता के इस प्रयोग पर इतनी अधिक और तीक्ष्ण आपत्ति की जा रही है जितनी इसके इतिहास में पहले कभी नहीं हुई।

इस वृत्त के कारणों की समीक्षा करने के पहले एक साधारणीकरण के

१. तुलना कीजिए मेरी Democracy in Crisis (1933), विशेषकर अध्याय १।

साथ आरम्भ करना उचित होगा। राज्य के नागरिकों को उसकी एकता के संधारण में रुचि स्वतः उस एकता के निमित्त नहीं होती, वे उस एकता का संधारण उसके द्वारा प्राप्य लाभ के लिए चाहते हैं। राज्य-शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में नागरिक क्या अवधारणा रखते हैं, इसका आधार है उस राज्य-शक्ति के प्रयोग से उपलब्ध परिणाम के विषय में उनका विचार। जार-राज्य का पतन इसीलिए हुआ कि उसके शासक अपनी नीति द्वारा प्राप्त परिणामों की पर्याप्तता के विषय में जन-साधारण को संतुष्ट न कर सके। वीमर गण-राज्य का पराभव इसी कारण हुआ कि उसके नागरिकों के एक वर्ग को, जो अपने में इतना महत्त्वशाली था कि राज्य की संप्रभुता को हस्तगत करले, यह विश्वास हो गया था कि गण-राज्य उसके लिए श्रेष्ठ जीवन की दशाओं को प्राप्त करने में अक्षम है। उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में, किन आधारों पर ये विचार बने, इसका विशेष महत्व नहीं है; निश्चय ही जहाँ तक जर्मनी का सम्बन्ध है ये आधार किसी बाह्य निरीक्षक को तो तथ्यहीन ही जँचते हैं। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि दोनों अवस्थाओं में राज्य की एकता का विघटन हो गया और एक नई एकता का इस विश्वास के साथ निर्माण हुआ कि इसकी संप्रभुता का उपयोग पहले की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए होगा। जो राज्य नष्ट हुआ उसके विषय में उसके नागरिकों के कम से कम एक ऐसे वर्ग की जो उसकी संप्रभुता को हस्तगत करने की शक्ति रखता था यह धारणा थी कि वह उनकी समुचित प्रत्याशाओं की तुष्टि में असफल रहा था।

राज्य सम्बन्धी शास्त्रीय-सिद्धान्त आम तौर से और आदर्शवादी सिद्धान्त विशेष रूप से इस प्रकार की परिस्थितियों का पर्याप्त विवेचन नहीं प्रस्तुत करते; अथवा जहाँ वे इनका उल्लेख करते भी हैं—जैसे आरस्तू ने अपनी Politics के प्रसिद्ध पंचम सर्ग में किया है तो वह Politik के रूप में न कि Staatslehre के रूप में।

परन्तु यह परिस्थिति इतनी शाश्वत और आवर्ती है कि मेकियावेली जैसे सूक्ष्म पर्यवेक्षक इस बात पर बल देते हैं कि इतिहास ऐसा चक्र-क्रम है, जिसके अन्तर्गत राज्य का प्रत्येक रूप नष्ट होकर अनिवार्य अनुक्रमानुसार किसी अन्य रूप में परिणत होता रहता है। संक्षेप में, इतिहास में राज्य की एकता, एकता होने से तो दूर, सदैव विघटित होती रहती है; जो निष्ठा राज्य अपने उद्देश्यों के लिए बलपूर्वक माँगता है, वह सदैव इस आधार पर प्रत्याहृत होती रहती है कि राज्य उन उद्देश्यों की पूर्ति, कम से कम पर्याप्त मात्रा में, नहीं कर पाता। सिद्धान्त का राज्य और व्यवहार का राज्य, इन दोनों का तादात्म्य

इतना क्षणिक होता है कि जो इनके कार्य-कलाप से प्रभावित होते हैं वे इसे विध्यनुकूल नहीं मान सकते ।

हम कह सकते हैं कि मूलतः यह क्षणिकता राज्य की आलोचना तो लेशमात्र भी नहीं बल्कि यह इस रहस्य का उद्घाटन करती है कि किन्हीं राज्यों की सरकारें अपने कर्तव्यों का पर्याप्त रूप से पालन नहीं करती ।^१ पर नागरिक तो राज्य तक सरकार के माध्यम से ही पहुँच सकता है । प्रत्येक आपत् काल में दोनों के एकात्म पर ही उसे बल देना पड़ता है; इसका सीधा कारण यह है कि चूँकि सरकारें राज्य के नाम पर काम करती हैं इसलिए उनके उद्देश्य ही राज्य के उद्देश्य हो जाते हैं क्योंकि राज्य की संप्रभुता द्वारा ही उनको कार्यरूप दिया जाता है । नागरिक राज्य के स्वभाव के बारे में अपने निष्कर्ष सरकार के कृत्यों के आधार पर ही निकालता है; किसी अन्य विधि से वह राज्य को नहीं जान सकता । इसी कारण राज्य सम्बन्धी कोई सिद्धान्त पर्याप्त नहीं हो सकता यदि वह राज्य के कार्यों को अपने विवेचन का केन्द्र-बिन्दु नहीं बनाता । राज्य वह ही है जो उसकी सरकार करती है । जैसा मैं कह चुका हूँ, कोई सिद्धान्त विशेष सरकार से आदर्श उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो कुछ करने की अपेक्षा करता है, वह राज्य के मूल्यांकन के लिए एक निकष होता है, न कि उसके वास्तविक सार का सूचक ।

जिस ऐतिहासिक वृत्त का मैंने अभी वर्णन किया है उसका विवेचन मैं इस पुस्तक के अगले अध्याय में करूँगा । यहाँ इस तथ्य और दार्शनिक सिद्धान्त के पारस्परिक सम्बन्ध पर बहस ही काफी होगी । यह सम्बन्ध, मेरी राय में, मानव-प्रवृत्ति के उस निरन्तर प्रयास पर आधारित है जिसका लक्ष्य समाज में अधिक समानता की प्रतिष्ठा करना है । इस बात पर राजनीति-दर्शन के उद्भव-काल से ही बल दिया जाता रहा है । अरस्तू का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ था ।^२ और यही रूसो और तोकेविल (Tocqueville) जैसे विभिन्न व्यक्तियों के दृष्टिकोण का मूल तत्त्व रहा है । लोगों का विचार है कि समाज में वर्तमान विषमताओं का औचित्य सिद्ध होना चाहिए; यदि उन्हें किसी विशेषाधिकार से अपवर्जित किया जाता है तो उनकी ओर से माँग होती है कि या तो उस विशेषाधिकार का उन्मूलन हो अन्यथा उसका प्रसार उन तक किया जाय । वे असमानता को तभी तक सहन करने को तैयार होते हैं जब तक

१. Cf. Barker की Political Thought since Herbert Spencer (1915), पृ० ८० ।

२. Politics III, 8; V, 1.

उन्हें यह विश्वास है कि समाज उन्हें वह सर्वोत्तम लाभ पहुँचा रह रहा है जो उसके प्रकारों द्वारा प्राप्त हो सकता है। पर जैसे ही उन्हें यह अनुभव होने लगता है कि वह लाभ जो उन्हें व्यवहारतः प्राप्त हो रहा है और वह लाभ जिसकी प्रत्याशा करना उनका अधिकार है, इन दोनों में सारभूत अन्तर है, तत्क्षण उनका ध्यान उस विषमता की ओर जाता है जिसका संरक्षण राज्य अपने संप्रभुत्व द्वारा करता है। मोटे तौर पर धार्मिक सहिष्णुता का यही इतिहास रहा है, और मताधिकार का और आर्थिक प्रक्रियाओं में राज्य के हस्तक्षेप का भी। वस्तुतः यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि जितना विस्तार मताधिकार का हुआ है उतना ही राज्य के हस्तक्षेप का। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि श्रमिकवर्ग को मताधिकार मिल जाने के फल-स्वरूप राज्य ऐसा संगठन बन गया है जो अपने नागरिकों को उसी मात्रा में संतुष्ट कर सकता है जिसमें कि वह विषमतापूर्ण समाज में विद्यमान प्रमुख व्यक्तियों में सुधार करने में सफल होता है। सामाजिक कल्याण का कोई प्रकार्य ऐसा नहीं जिसे आज सरकार अपने जिम्मे ले और जिसका उद्देश्य निर्धनों को उन सुविधाओं में से कुछेक प्रदान करना न हो जिन्हें धनिक अपने से ही प्राप्त कर लेते हैं।

दूसरे शब्दों में, राज्य अपने नागरिकों को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करता है कि वह निष्पक्षता से काम करता है, और उनके लिए पर्याप्त जीवन के भौतिक उपकरणों का संग्रह करने में प्रयत्नशील है, विशेषकर ऐसे लोगों के लिए जो स्वयं उन उपकरणों को प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं रखते। इस संग्रह का फैलाव, विशेषकर १९१६ के पश्चात्, अवलोकनीय हो गया है। स्वास्थ्य, शिक्षा, गृह-निर्माण, सामाजिक बीमा, उद्योग में पारिश्रमिक और काम के घंटों का विनियमन, उद्योगशालाओं की अवस्थाओं का नियंत्रण, पाठशालाओं में गरीब बच्चों के लिए भोजन की व्यवस्था, यह सब इस फैलाव के केवल विशिष्ट उदाहरण हैं। इस परिवर्तन का विवेचन हम विभिन्न आधारों पर कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि यह पहले से अधिक सौहार्दपूर्ण सामाजिक अन्तःकरण का परिणाम है। हम यह तर्क दे सकते हैं कि धनवानों को अपनी सुरक्षा के लिए निर्धनों को यह कीमत देनी पड़ी है। हमारा विचार यह भी हो सकता है कि इससे हीगेल का वह सिद्धान्त सिद्ध होता है जिसके अनुसार राज्य निरन्तर विस्तृत होने वाली स्वतंत्रता का द्योतक है। हम कुछ भी सोचें, यह तथ्य तो है ही कि, कम से कम औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात्—क्या पुरातन और क्या नवीन संसार में—आधुनिक विधि-निर्माण की

यह प्रवृत्ति लगातार रही है कि सरकार के कार्यों द्वारा उस क्रूर व्यतिरेक को कोमल बनाया जाय जो अन्यथा धनाढ्यों और दरिद्रों के जीवन के बीच वर्तमान होगा। दीर्घ काल तक राज्य अपने प्रति नागरिकों की निष्ठा उसी दशा में बनाए रख सकता है जबकि वह उपर्युक्त व्यतिरेक को अनवरत कोमल बनाने में समर्थ हो। और किसी एक क्षेत्र में सफलता प्राप्त होने के साथ ही अनिवार्यतः किसी अन्य क्षेत्र में माँग उठ खड़ी होती है।

मेरे विचार में दार्शनिक सिद्धान्त के लिए इस अनुभव का महत्व स्पष्ट है। इस सिद्धान्त को यह विचार लेकर चलना होगा कि राज्य का कर्तव्य निष्पक्षतापूर्वक समस्त नागरिकों के हितार्थ कार्य करना है। राज्य होने के नाते वह अपने ध्येय में सफल नहीं हो सकता, यदि वह (नागरिकों में) भेद-भाव से काम ले, बिना पक्षपात के अधिकार को इस प्रकार सिद्ध किये कि जिनके विरुद्ध पक्षपात होता है उनको भी शेष नागरिकों के समान ही लाभ होता है। आज तक यह सिद्ध हो सका हो, इतिहास इसकी साक्षी नहीं देता। पेंगनों के हित में ईसाइयों के विरुद्ध, ईसाइयों के हित में 'पेंगनों' के विरुद्ध, धनिकों के हित में निर्धनों के विरुद्ध, और श्वेत रंग वालों के हित में श्यामवर्ण वालों के विरुद्ध पक्षपात हुआ है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पक्षपात का उद्देश्य सबके कल्याण की चेष्टा थी, वरन् यह कि पक्षपात आंशिक और स्वार्थमय कल्याण के लिए हुआ जिससे वे लोग अपवर्जित हुए जिन्हें समानता के व्यवहार से वंचित रखा गया। इस बात का कुछ भी महत्व नहीं कि हमेशा लोगों को पक्षपात के औचित्य पर विश्वास हुआ; भौतिक और सामाजिक विज्ञानों में कोई ऐसी भूल नहीं हुई जिसे लोगों ने सच न मान लिया हो, यदि ऐसा समझना उनके हितानुकूल रहा हो।

राज्य का उपधारण यह होना चाहिए कि जो लाभ उसके बल प्रयोग द्वारा निःसृत होते हैं, उन पर सब नागरिकों का समान अधिकार है। यदि राज्य इस लक्ष्य को अपनाता है तो उसे वे अवस्थाएँ भी स्थापित करनी चाहिए जिन पर इस लक्ष्य की सिद्धि निर्भर करती है। दार्शनिक सिद्धान्त को व्यावहारिक राज्यों के आचरण का मूल्यांकन इस आधार पर करना चाहिए कि वे इन अवस्थाओं को स्थापित करने में कहाँ तक सफल होते हैं। विगत काल में इसने ऐसा करने की चेष्टा विविध प्रकार से की है। अधिकांशतः, इसने ऐसी अधिकार-व्यवस्था पर बल दिया है जिसे वह नागरिकों के लिए श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए आवश्यक दशाएँ समझता है। इसने राज्यों के व्यावहारिक आचरण का मूल्यांकन इस आधार पर किया है कि उसका नागरिकों की उस अधिकार-

व्यवस्था से क्या सम्बन्ध है जिसे मान्यता मिलनी चाहिए। इस सामान्य प्रवृत्ति के अपवाद अवश्य हैं। राजनीति-दर्शन के इतिहास के एक बड़े भाग में यह सिद्ध करने की भरपूर चेष्टा की जाती रही है कि कुछ विशेष व्यक्ति-समूह नागरिकता के विशेषाधिकारों के योग्य नहीं होते; और इस आधार पर विशेषाधिकारों से उनका अपवर्जन उचित समझा गया है। पर यदि इन अपवर्जनों की, चाहे वे नगण्य सम्पत्ति के स्वामित्व पर अथवा किसी विशेष जाति, धर्म या दल की सदस्यता पर आश्रित हों, ध्यानपूर्वक समीक्षा की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका मूलभूत आधार उनके समर्थकों की यह चेष्टा है—और यह चेष्टा अन्ततः उनका भावाधारित पूर्वग्रह है—कि शक्ति के किसी ऐसे क्षणिक संतुलन का औचित्य सिद्ध किया जाय जिसे वे शाश्वत बनाने के इच्छुक हैं। अरस्तू द्वारा दास-प्रथा का समर्थन, लॉक द्वारा रोमन कैथोलिकों के और हिटलर द्वारा यहूदियों के नागरिकता से अपवर्जन का समर्थन, ये सब निजी तात्सुवों को विवेक के सावंधीम सिद्धान्तों का रूप देने के प्रयत्न हैं। इनमें से कोई भी किसी ऐसे विचारक द्वारा परीक्षा की कसौटी पर ठीक नहीं उतरेगा जो उन भावाधारित पूर्वग्रहों को स्वीकार नहीं करता जिन पर वे आधारित हैं।

किसी भी विचारक द्वारा प्रस्तुत अधिकारों की व्यवस्था को लीजिए; विश्लेषण से स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि इसका निर्माण तत्कालिक ऐतिहासिक परिस्थितियों से प्रभावित रहा है। अरस्तू के ऐतिहासिक पर्यावरण को दृष्टि में रखा जाय तो आश्चर्यजनक होता यदि वह दास-प्रथा के समर्थन का प्रयत्न न करता; इसी प्रकार लॉक के समय का पर्यावरण देखते हुए उसका रोमन कैथोलिकों को नागरिकता से अपवर्जित करना सुगमता से समझा जा सकता है। लोग उचित रूप से (राज्य से) क्या प्रत्याशा कर सकते हैं, इस बारे में उनकी अवधारणा का आधार उनका अनुभव और उस अनुभव से निःसृत आवश्यकताएँ हैं। पोप की अप्रत्यक्ष शक्ति जैसा सिद्धान्त, उदाहरणार्थ बेलरमाइन का, ऐसे मस्तिष्क की स्वाभाविक उपज है जिसने धार्मिक सुधार (Reformation) के राजनीतिक परिणामों को स्वीकार कर लिया, पर साथ ही जिसने रोम की शक्ति को यथासम्भव अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की।^१ लॉक ने अपनी स्वाभाविक स्पष्टवादिता के साथ स्वीकार किया कि Two Treatises लिखने में उसका उद्देश्य राजसिंहासन पर विलियम तृतीय के स्वत्व का समर्थन करना था।^२

१. बेलरमाइन और उसके पोप की अप्रत्यक्ष शक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त के लिए देखिए उसकी De Romano Pontifice, जिल्द, 1—8.

२. Two Treatises on Government, पाठक के लिए प्रस्तावना।

मालबी और मोरेली के साम्यवाद तथा मार्क्स और एंगिल्स के साम्यवाद में अन्तर का कारण बीच में औद्योगिक क्रान्ति का आ जाना था। राजनीति की सब दार्शनिक अवधारणाओं को समझने के लिए उनके व्यवहारगत तत्व को दृष्टि में रखना अत्यावश्यक है।

सिद्धान्त और ऐतिहासिक पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्ध का महत्व अनेकांगी है। मगर यहाँ इस पारस्परिक सम्बन्ध के एक तत्व की ओर सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है क्योंकि इस तत्व का राज्यों के आचरण के बारे में लोगों के दृष्टिकोण से विशेष सम्बन्ध है। वे राज्य के कार्य-कलाप से कतिपय संतुष्टियों की प्रत्याशा करते हैं और वे राज्य का मूल्यांकन इस आधार पर करते हैं कि वह कहाँ तक उनकी प्रत्याशाओं की तुष्टि करता है। एक अंग्रेज श्रमिक को यह बताना व्यर्थ है कि उसकी वास्तविक आय का स्तर नैपोलियन-युग^१ के अंग्रेज श्रमिक के आय-स्तर की अपेक्षा चौगुना ऊँचा है, यदि ऐसा कहने का आशय यह हो कि अपनी अवस्था से संतुष्ट रहना उसका कर्तव्य है; क्योंकि अपनी अवस्था के प्राक्कलन में वह जो उपधारण बनाता है उसका आधार इस प्रकार की तुलना नहीं; बल्कि आज के अपने प्राधिकार के विषय में उसका निर्णय होता है। हमारे जीवन का स्यात् ही कोई भौतिक तत्व होगा जिसमें गत शताब्दी के प्रमापों की तुलना में भारी प्रगति न हुई हो; पर यह समझ लेना भी कम आवश्यक नहीं है कि हमारी उपकार की प्रत्याशाएँ भी पहले से कहीं अधिक हो गई हैं। प्रौद्योगिक उन्नति में हम जितना आगे बढ़ते हैं उतना ही इस उन्नति के फलस्वरूप हमें क्या मिलना चाहिए इस विषय में हमारी धारणाएँ भी बढ़ जाती हैं। एक शताब्दी के मलिनआवास^२ उनके निर्माताओं में वह विक्षोभ की भावना नहीं उत्पन्न करते थे जिससे आज हमारा मन उद्विग्न हो उठता है। बेंथम के युग में शिक्षा के अवसर के निषेध को अधिकारों का अपहरण उतना नहीं समझा जाता था जितना कि वर्तमान युग में समझा जाता है।

अतः राजनीतिक दर्शन को एक गतिहीन सिद्धान्त से संतोष नहीं हो सकता; वह राज्य-सत्ता के चिर-स्थायी होने की आशा तभी कर सकता है जब वह इस बात पर भी ध्यान दे कि उसकी अवधारणाओं का व्यवहार में क्या रूप होता है। अतः जब यह कहते हैं कि राज्य को प्रत्येक नागरिक के लिए

१. L. Robbins की The Great Depression (1934) पृ० २।

२. ये मलिनआवास कैसे थे, इसके विवरण के लिए देखिए J. L. एवम् B. Hammond रचित, The Town Labourer (1918)।

वे दशाएँ उपलब्ध बनानी चाहिएँ जिनके अन्तर्गत ही वह एक नैतिक प्राणी के रूप में आत्मोन्नति कर सकता है तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि वे दशाएँ स्थायी नहीं हैं, अपितु वे एक निरन्तर परिवर्तनशील पर्यावरण से सम्बन्धित हैं; किस मात्रा में ये दशाएँ प्राप्त की जानी चाहिएँ, निरवादतः इसका आधार वह पर्यावरण ही है। गोया, हम काल के एक विशिष्ट क्षण को बाँधकर रख नहीं सकते और उसकी सम्भावनाओं को न्याय-संगत प्रत्याशाओं का निकष नहीं बना सकते। आत्म-सिद्धि के जो मानदण्ड हम निर्धारित करते हैं, गतिमान अनुभव उन्हें ध्वस्त किया करता है।

अतः किसी अधिकार-व्यवस्था को अपने कार्यान्वय के प्रत्येक युग में परिवर्तन के लिए तैयार रहना चाहिए। कनिष्ठ पिट के समय में राजद्रोह-विधेयक (Sedition Bill) जैसे विधेयक पर जनता में रंच-मात्र भी क्षोभ न होता; परन्तु विक्टोरिया के युग में, तत्कालीन सुरक्षा और सहिष्णुता के वातावरण के फलस्वरूप, भाषण-स्वतन्त्रता का व्यापक अर्थ लगाया जाता था; इसलिए उपर्युक्त विधेयक पर विवाद-काल में जनता में रोष की ऐसी प्रबल भावना भभक उठी जिसे पिट के समकालीन कदाचित न समझ पाते। बेकारी-बीमा के फलस्वरूप हमारी पारिश्रमिक-व्यवस्था में ऐसी कठोरताएँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनकी कोई संगति उन नम्यताओं से नहीं जो मूल्य-व्यवस्था की निर्बन्ध प्रक्रिया के लिए आवश्यक हैं; पर जब किसी राज्य के श्रमिक बेकारी-बीमा के लाभों का एक बार अनुभव करलें तो कोई राजनेता अपने को खतरे में डाले बिना उसके उन्मूलन का सुझाव नहीं कर सकता। कोई ५० वर्ष पूर्व अधिकांश अर्थशास्त्रवेत्ताओं का विचार था कि मूल्य-व्यवस्था की स्वतंत्र प्रक्रिया जीवन के अपरिवर्तनीय कल्याण का आवश्यक तत्व है; आज इस आधार पर मूल्य-व्यवस्था को निर्बन्ध प्रक्रिया का समर्थन सामान्य नियम नहीं, अपितु एक अपवाद मात्र है।

इस सबसे सीधा निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य की दार्शनिक अवधारणा, हमें व्यावहारिक राज्यों के आचरण की जाँच के लिए एक माप-दण्ड मात्र प्रदान करती है, इससे अधिक कुछ नहीं। उस आचरण की पर्याप्तता एक ऐसा विषय रह जाता है जिस पर हमें स्वयं निर्णय करना पड़ता है, चाहे वह निर्णय कितना ही अधूरा क्यों न हो। केवल औपचारिकता की परिधि के बाहर राज्य की आज्ञा के पालन का कोई दायित्व हमारे ऊपर नहीं है। राज्य के कर्तव्य पर हमारा निर्णय ही हमारे लिए आज्ञा-पालन का आधार है और हो सकता है। साथ ही वह निर्णय कदापि ऐसा नहीं होता जिसे प्रत्येक

नागरिक एक ही प्रकार के बौद्धिक अथवा भावाधारित उपधारणों के आधार पर कर सके। वह जिस निश्चय पर पहुँचता है वह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य में क्या स्थान उसे प्राप्त है और उसके मत में क्या स्थान उसे प्राप्त होना चाहिए। उसका विचार गलत हो सकता है; परन्तु अपने निश्चयों के प्रकाश में कार्य करने के अतिरिक्त कोई विवेक-संगत विकल्प उसके सामने नहीं होता।

(४)

इस दृष्टिकोण पर कानून की एक ऐसी धारणा अवलम्बित है जिसके अन्तर्भाव महत्त्वपूर्ण है। यह कानून की वैधता को उस स्रोत से, जिससे यह उद्भूत है, असम्बद्ध मानता है। कानून कार्यान्वित होने, अर्थात् स्वीकृत होने से ही कानून बनता है। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि स्वीकृत कानून उचित भी है; क्योंकि कानून उस शक्ति के बल पर भी स्वीकृत हो सकता है जो उसके पीछे होती है। वास्तव में, हमें उन तीन विभिन्न आशयों में, जिनमें कानून की धारणा प्रयुक्त होती है, भेद करना होगा। सर्वप्रथम कानून का वह औपचारिक न्यायज्ञीय आशय है जिसके अनुसार कानून एक ऐसी घोषणा मात्र है जिसका आधार अन्ततः राज्य की अपनी प्रभुत्व-सत्ता द्वारा अपने निर्णयों को मनवा लेने की शक्ति है। दूसरे, कानून का वह राजनीतिक आशय है जिसके अनुसार कानून को लोगों द्वारा स्वीकृत होने पर ही वैध समझा जाता है। अन्त में कानून का वह नैतिक आशय है जिसके अनुसार राज्य के घोषित निर्णय का पालन इसलिए किया जाना चाहिए क्योंकि नैतिक दृष्टि से यही उचित है कि राज्येच्छा जो प्रस्तावित करती है वही किया जाय।

यह स्पष्ट है कि इन तीन में से पहले दो आशयों में कानून का आज्ञा-पालन नागरिक का सहज-कर्तव्य नहीं है। कदाचित् ही कोई यह दावा करेगा कि कानून के न्यायज्ञीय और नैतिक आशयों में सदैव समानता होती है; उदाहरणार्थ, निश्चय ही कोई भी क्वेकर यह नहीं मान सकता कि एक ऐसा राज्य जिसकी सरकार अपने नागरिकों को युद्ध करने का आदेश दे, इस कार्य के लिए, उनके आज्ञा-पालन पर अधिकार रखता है। न, मेरे विचार में, गंभीरतापूर्वक यही कहा जा सकता है कि राजनीतिक और नैतिक आशय एक रूप हैं; हिटलर-राज्य के आदेश ३० जून, १९३४, को कानून थे, इस आशय में कि वे सक्रियरूप से कार्यान्वित थे, और उस जन-संख्या द्वारा, जिस पर वह शासन करता था, स्वीकृत थे; किन्तु मेरा कहना है कि अधिकांश लोग, जो स्वतंत्र निर्णय करने की स्थिति में हों, उन्हें नैतिक दृष्टि से अत्याचार-मूलक समझते हैं। शक्ति कितनी भी महान् हो वह समुचित नहीं हो जाती; कानून का

सफल कार्यान्वय नैतिक पर्याप्तता के प्रश्न को फिर भी अनिर्णीत छोड़ देता है।

तो न तो औपचारिक क्षमता, न राजनीतिक शक्ति आज्ञा पालन पर उचित अधिकार प्रदान कर सकती है। हमारे पास क्या शेष रह जाता है ? मेरे विचार में, केवल यह आग्रह कि कानून को नैतिक दृष्टि से बंध होने के लिए उस अधिकार-पद्धति की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए जिनके उद्देश्यों के संधारण के निमित्त राज्य का अस्तित्व है। और क्योंकि कानून मेरे आचरण को विशिष्ट प्रकार से नियंत्रित करने वाला आदेश है, इसलिए मैं उस अनुरूपता को उसकी नैतिक योग्यता का निकष बनाकर निर्णय करता हूँ। तात्पर्य यह है कि बंध कानून की जड़ें व्यक्ति के सद्बिवेक में हैं, और केवल वहीं हो सकती हैं। हमारे शब्दों में, मैं कानून के कार्यान्वय को अपने सद्बिवेक की सहमति प्रदान कर उसे बंध बनाना हूँ।

यदि यह कहा जाय कि ऐसा दृष्टिकोण अवज्ञा का समर्थन करके अराजकता का द्वार उन्मुक्त कर देता है, तो उत्तर है कि अभियोग सही है। किन्तु यह कोई गम्भीर अभियोग नहीं है। राज्यों के जीवन में अराजकता का द्वार सदैव उन्मुक्त होता है, क्योंकि मनुष्य बिना शर्त के शक्ति प्रदान करने को कभी इच्छुक नहीं होते। यदि, आगे, यह कहा जाय कि व्यक्ति का सद्बिवेक कम-से-कम उतना ही गलत हो सकता है जितना कि राज्य के नाम पर शासन करने-वालों का, तो उत्तर फिर यह है कि यद्यपि यह सत्य हो सकता है, लेकिन जो नागरिक इस आधार पर अपने विश्वास का परित्याग कर देता है कि हो सकता है कि वह भूल में हो, वह शीघ्र ही किसी भी अर्थ में नागरिक नहीं रह जायगा। राज्य को अपने प्रकार्य की पूर्ति में सक्रिय बनाए रखने के लिए इस ज्ञान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है कि लोग उसके आदेशों को, जहाँ उनसे उस प्रकार्य का उल्लंघन होता है, मानने से इन्कार कर देंगे। पेरीक्लीज को इसी सत्य का आभास हुआ था जब कि उसने एथेंस के नागरिकों को बताया कि स्वतन्त्रता का रहस्य साहस में है। अपनी अन्तर्दृष्टियों के भ्रमपूर्ण होने पर भी जब तक मनुष्य इन अन्तर्दृष्टियों के अनुसार कार्य करने को तैयार न हों, वे ऐसे आदेशों के अकर्मण्य प्रतिग्राहक मात्र बन जायेंगे, जिनकी नैतिकता के प्रति वे उदासीन हैं। ऐसा करने से वे राज्य की नींव को विषाक्त कर देंगे; क्योंकि फिर तो वे किसी अर्थ में नैतिक प्राणी नहीं रह जाते। वे सत्य, न्याय और औचित्य को अनायास पाशविक शक्ति के स्वामित्व से सम्बद्ध कर देते हैं। कोई भी जाति, जो अपनी मानवता का परित्याग कर देने की ऐसी परिपाटी में पाली गई हो, विधायक उपलब्धियों के लिए दीर्घकाल तक सक्षम

नहीं बनी रह सकती । क्योंकि इस प्रकार नैतिक निर्णय के कर्त्तव्य का परित्याग करने का आशय है अपने को गुलामी के हाथों बेच देना ।

कहा जाता है कि व्यक्ति शक्ति-विहीन है, और वह अपने निर्णय के अनुसार कार्य करके अपनी ऊर्जा का अपव्यय करता है । किन्तु इस विचार के कम-से-कम दो उत्तर हैं । एक नैतिक दायित्व इसलिए कम संवाधक नहीं हो जाता कि उसका अन्त विफलता में हो सकता है । प्रयास का ऐसा नियम अंगीकार करना इस विचार को स्वीकार करना है कि न्याय अधिक शक्तिशाली की इच्छा है—एक ऐसा सिद्धान्त जिसके विरुद्ध, जैसा मैं संकेत कर चुका हूँ, मानवता का समस्त इतिहास एक प्रतिवाद है । और दूसरे, यह कहना कि व्यक्ति शक्तिविहीन है, स्पष्टतः बिल्कुल असत्य है । वह शक्ति-विहीन केवल तब है जब उसके अनुभव अन्य नागरिकों द्वारा इस प्रकार अनुभूत हों कि वह इनमें विचार का स्वर उत्पन्न करने में असफल रहे; और उसको यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि घटना-चक्र कालान्तर में उन्हें उसके अनुभवों में सम-भागी बना सकता है । आरम्भ के ईसाई, जिन्होंने रोम की प्रभुता को चुनौती दी थी, अपने समकालीनों को नितान्त निरर्थक प्रतीत हुए होंगे; किन्तु उनकी दृढ़ता ने पश्चिमी संसार को विजित कर लिया । लूथर की हठ-धर्मी उस चर्च को, जिसे Conciliar विद्रोह के संघात से सफलतापूर्वक बच निकलना स्मरण था, लगभग पागलपन जंची होगी, परन्तु अपने साहस से उसने संसार का इतिहास बदल दिया । इमर्सन जैसा उदार-हृदय व्यक्ति अमेरिका के दासता-भंजकों के विषय में यह लिख सकता था कि वे “संकुचित, आत्म-प्रशंसक और दंभी लोग थे, और हम पर पागलों-जैसा प्रभाव डालते हैं ।”^१ किन्तु मुश्किल से एक पीढ़ी बीती होगी कि ऑलीवर बन्डेल होम्स जैसे समादरणीय पर्यवेक्षक, जो उग्र विचार-वादी नहीं थे, अपने मित्र के निर्णय के विषय में कह सकते थे कि, “यदि इमर्सन के उस भाषण की सब शिक्षाओं को स्वतन्त्रता के मूल मंत्र के रूप में स्वीकार किया गया होता तो दासता से मुक्त होने में बहुत लम्बा समय लगता ।”^२

वास्तव में इतिहास में ऐसे उदाहरणों का बाहुल्य है । वह व्यक्ति, जो ऐसे कानून के विरुद्ध, जिन्हें वह अन्यायमूलक समझता है, प्रतिवाद करता है, अपनी कल्पना की अपेक्षा कहीं कम निःसंग होता है । वह ऐसे मानसिक

१. V. F. Calverton के *The Liberation of American Literature* (1932) पृष्ठ ३३० से उद्धृत ।

२. उपरिबत्, पृष्ठ ३३१ ।

वातावरण में कार्य कर रहा है जिसमें उसका अनुभव दूसरों का अनुभव भी हो सकता है; और अपने कार्य से वह दूसरों में दायित्व-परायणता का भाव जाग्रत कर सकता है। मताधिकारान्दोलन करनेवाली महिलाओं के इतिहास का जो कोई भी सिंहावलोकन करे उसके मन में सन्देह नहीं रह सकता कि कानून की जो अवज्ञा आठ वर्ष तक इन महिलाओं ने की उसके फलस्वरूप ब्रिटिश गवर्नमेंट को उनकी माँग की गम्भीरता को स्वीकार करना पड़ा—जिससे उन माँगों का सम्पूर्ण परिप्रेक्षण ही बदल गया। न ही किसी को इसमें कोई सन्देह हो सकता है कि लेनिन का अडिग संकल्प ही १९१७ में बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता का मर्म था। मुझे लगता है कि इतिहास का यह अनिवार्य अन्तर्भाव है कि यदि हमारा अपने दर्शन में विश्वास है तो हमें उसके लिए अवश्य संघर्ष-शील होना चाहिए।

इस दृष्टिकोण के विरोध में दो विचार रखे जाते हैं, और निस्सन्देह इन दोनों में पर्याप्त बल है। कहा जाता है कि सरकार को चुनौती देना कानून के प्राधिकार को निर्बल बनाना है, और ऐसा करना अव्यवस्था के लिए द्वार खोल देना है। इसी आपदा की अनुभूति के कारण टी० एच० ग्रीन का जो अन्तिम साधन के रूप में क्रान्ति के अधिकार को स्वीकार करता है, आग्रह है कि हमें राज्य के निकट डरते हुए, काँपते हुए जाना चाहिए। परन्तु निश्चय ही यह अनुभव करना कम महत्वपूर्ण नहीं है कि कानून के प्रति आदर का नात्पर्य कानून जो कुछ करता है उसके प्रति आदर होना चाहिए; और यदि व्यक्ति, अकेला अथवा औरों के संग, इस निर्णय पर पहुँचता है कि कानून जो कुछ करता है वह नैतिक दृष्टि से असह्य है तो उसको अपने निर्णय के आधार पर ही कार्य करना चाहिए। इसके विपरीत निश्चय करने का अर्थ यह तर्क देना होगा कि व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य व्यवस्था का संधारण है, बिना इस बात का विचार किए कि वह व्यवस्था क्या है। मैं इस तर्क को व्यक्ति के नैतिक प्राणी होने की भावना के अनुरूप नहीं पाता।

दूसरे, यह कहा जाता है कि यह दृष्टिकोण स्वीकार करता है कि किसी भी सिद्धान्त को बलपूर्वक अपना समर्थन करने का अधिकार है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बल-प्रयोग का औचित्य सिद्ध करने के वास्ते लोगों के लिए यह घोषणा कर देना ही पर्याप्त होगा कि वे गहरे आत्म-विश्वास से प्रेरित हैं। कहा जाता है, यह दृष्टिकोण, सामाजिक मंगल की जड़ों के लिए नितान्त विनाशकारी है।

किन्तु उत्तर यह है कि कोई भी सिद्धान्त, चाहे वह कितना ही बुरा हो,

बल-प्रयोग की ओर अग्रसर तब तक नहीं होता जब तक उसका आधार ऐसा गहरा उत्पीड़न न हो जिसके उपचार का उसे कोई और मार्ग न दीखता हो। हमारा वह विश्वास हो सकता है कि बोल्शेविक क्रान्ति सम्पूर्णतया बुरी रही है; परन्तु यह स्पष्ट है कि इसके उद्भव और कार्य-पद्धति का दायित्व रूसी राज्य की इसके पहले की परिस्थितियों पर है। साम्यवादियों की भाँति हमारा यह तर्क हो सकता है कि हिटलर जर्मनी में वित्त-पूँजीवादी का अभिकर्ता होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।^१ लेकिन यह भी स्पष्ट है कि उसकी विजय का निर्माण उन लाखों जर्मनों के गहरे उत्पीड़न से हुआ था जिन्होंने अपने लिए बीमर गणतंत्र के कारनामों में कोई समुचित उपचार नहीं पाया। सत्य तो यह है कि साधारण जनता आज्ञा-पालन की इतनी अभ्यस्त होती है कि उसका राजनीतिक आचरण के सामान्य नियमों से अपसरण अवश्य ही राज्य में किसी भयंकर व्याधि का सूचक है। बर्क के कथनानुसार, उसकी “अव्यवस्था में कोई रुचि नहीं होती; जहाँ वह गलत काम करती है, वह उसकी भूल है, अपराध नहीं।” हमको यह तर्क देने की आवश्यकता नहीं है कि किसी सिद्धान्त का शस्त्रग्रहण करना बुद्धि संगत वा उचित होता है। परन्तु, तथ्यों के आधार पर हमें कहना पड़ता है कि कोई भी सिद्धान्त तबतक सफलतापूर्वक शस्त्र नहीं ग्रहण करता जबतक कि जिस सरकार पर यह आक्रमण करता है वह इसके द्वारा तर्कसंगत ढंग से व्यक्त की गई शिकायतों के निराकरण में विफल नहीं हो जाती।

मेरे विचार में, यह बात अधिकांश क्रान्तियों के इतिहास में प्रत्यक्ष है। इंग्लंड के गृह-युद्धों, फ्रांस और रूस की क्रान्तियों का विद्यार्थी पाएगा कि इन सबका सर्वाधिक विशिष्ट लक्षण यह था कि जन-साधारण ने, बल-प्रयोग की ओर अग्रसर होने के पूर्व, धैर्यपूर्वक सुधारों की प्रतीक्षा की। किसी समाज में बल प्रयोग असम्भव है, यदि; यह धारणा व्यापक हो कि राज्य अपने दायित्वों की पूर्ति की चेष्टा गंभीरतापूर्वक कर रहा है। बल-प्रयोग तब होता है जब, तथ्यों के आधार पर, लोगों को यह विश्वास हो जाय कि उनके शासकों की ईमानदारी अब विश्वसनीय नहीं रही। उनका यह विश्वास भ्रमपूर्ण हो सकता है। इतिहास में ऐसे अवसर अवश्य आए हैं जबकि एक ऐसी सरकार को अपदस्थ कर दिया गया हो, जिसके सदस्य सदिच्छा से प्रेरित थे, और जो ऐसी विपरीत परिस्थितियों से संवर्ष कर रहे थे जिन पर विजय प्राप्त करना असम्भव था।

१. तुलना कीजिए E. Henri रचित Hitler Over Europe (1933)।

ऐसे अवसर भी रहे हैं जबकि राज्य का विरोध करने वाले मनुष्य ऐसे उद्देश्यों की सिद्धि चाहते थे जिनकी प्राप्ति वर्तमान संस्थाओं की परिधि में नहीं हो सकती थी। मेरे मत में डॉक्टर ब्रूनिंग का अपदस्थ होना पहले का उदाहरण है; फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का इतिहास स्पष्टतया दूसरे का।

परन्तु, प्रायः कानून को पराजित करने के लिए बल-प्रयोग ऐसे मूल्यों के संघर्ष का प्रतिफल है, जिनमें समझौता असम्भव होता है। ऐसा होने पर परिस्थिति कैसी होती है? कोई भी, यह नहीं कह सकता कि समस्या सरल है। उदाहरणार्थ, यह कहना इसका कोई उत्तर नहीं है कि अल्पसंख्यक-वर्ग का जिसके मूल्यों को अस्वीकार किया जाता है सीधा-सादा कर्तव्य बहुसंख्यक-वर्ग बनना है, और इसलिए उसे विचार-विनिमय द्वारा शक्ति प्राप्त करने के लिए वैधानिक प्रक्रियाओं का प्रयोग करना है। क्योंकि एक तो, हो सकता है कि उन वैधानिक प्रक्रियाओं का अस्तित्व ही न हो। आज किसी योरोपीय अधिनायकवाद के नागरिक को यह बताने में कोई लाभ न होगा कि उसे अपने दृष्टिकोण को स्वीकृत कराने के लिए शान्तिमय विचार-विनिमय के उपायों का अवलम्बन करना चाहिए क्योंकि वहाँ इन उपायों के वैध प्रयोग का अधिकार ही भंग कर दिया गया है। यदि वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति चाहता है, तो कम-से-कम उसके लिए क्रान्ति का कोई विकल्प नहीं है। जर्मन समाजवादी को हिटलर की जर्मनी के शान्तिमय परिवर्तन की आशा करने को नहीं कहा जा सकता।

कहा जाता है कि एक ऐसे राज्य में, जिसका रूप वैधानिक प्रजातंत्र का है, स्थिति दुसरी है। वहाँ तो आलोचना की स्वतंत्रता होती है; और सविचार यह व्यवस्था की जाती है कि वे लोग, जो वर्तमान सरकार में भिन्न मत के हों, उसका स्थान ले सकते हैं यदि वे अपने बन्धु-नागरिकों में से अधिकांश को अपने पक्ष में मत देने को तैयार कर सकें। मेरे विचार में इस दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण सत्य निहित है। माधारणतः राजनीति में अन्तिम माधन के रूप के अतिरिक्त बल-प्रयोग को क्षमा करना असम्भव है; बल-प्रयोग का सहारा लेने के पूर्व यह सिद्ध करना आवश्यक है कि कार्य के सभी वैकल्पिक साधन समाप्त हो चुके हैं। किन्तु मेरे विचार में यह सम्भव लेना आवश्यक है कि वैधानिक प्रजातंत्र में भी तर्क-संगत विचार-विनिमय का अवलम्बन कुछ विशेष दशाओं के वर्तमान होने पर ही सम्भव है और सम्बन्धित अल्पसंख्यक वर्ग को वह विश्वास होना चाहिए कि ये दशाएँ उसके लिए सुलभ हैं। इन दशाओं में से सर्वप्रथम यह आशा करने का अधिकार है कि राजकीय-संस्थाओं का संचालन निष्पक्ष रूप से होगा। राजनीतिक समीकार के प्रत्येक अंग पर उनका भार समान होना

चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन जैसे स्वतंत्र राज्य में भी इस भार की समानता नहीं पाई जाती; क्योंकि हाउस ऑफ लॉर्ड्स राज्य के केवल एक दल के हाथ का शस्त्र है; और इसके प्राधिकार का प्रयोग विपक्षियों की इच्छा की अवहेलना के लिए स्वीकार किया जा सकता है, चाहे उनको मतदाताओं का बहुमत प्राप्त हो। और यदि कहा जाय कि मतदाताओं की इच्छा निश्चयात्मक रूप से ज्ञात होने पर (उदाहरणार्थ, सामान्य निर्वाचन द्वारा, जो कि किसी विशेष प्रश्न पर लड़ा जाता है) हाउस ऑफ लॉर्ड्स सदैव अपनी पराजय स्वीकार कर लेगा, तो उत्तर यह है कि यदि ऐसा हो भी तो इससे राज्य के एक दल को ऐसी विकट नियोगताओं का शिकार होना पड़ता है, जिनसे उसका प्रतिद्वन्द्वी दल बिल्कुल मुक्त है; और इन नियोग्यताओं के फलस्वरूप एक दल का परिश्रम जिसने मतदाताओं का बहुमत प्राप्त कर लिया है, उन प्राविधिक दशाओं के कारण जिनके अन्तर्गत वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति की चेष्टा कर सकता है, निष्फल हो जाता है।

इतना ही नहीं। यह आवश्यक है कि राजकीय संस्थाओं का भार निष्पक्ष होना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि जो उनका संचालन करते हैं उन्हें इस बात का विश्वास हो कि उनके प्रतिद्वन्द्वी वैधानिक प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का ही प्रयोग करेंगे। यह तर्क प्रस्तुत करना सुगम है कि यह धारणा लगभग एक स्थिर नियम के रूप में भी समर्थनीय है। हम किंचित् निश्चय के साथ कह सकते हैं कि जो समाज ऐसे सिद्धान्तों का दीर्घ अभ्यस्त है उसमें उनसे अलगाव, उस समाज की अपेक्षा, जहाँ उनके प्रयोग की आदत नई है, कम संभव है। परन्तु ऐसे समाज में भी, मैं कहता हूँ, उनका पालन तभी होगा, जब एक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक-दल के हितों पर, जिन्हें वह गलत या सही, मौलिक समझता है, आपदा न हो। ग्रेट ब्रिटेन में १९१४ के बसन्त में अल्स्टर सम्बन्धी संकट का अन्तर्भाव यही है; यही अन्तर्भाव मिस्टर फोर्ड और इत्याद अधिपतियों जैसे अमेरिका के नियोजकों का National Industrial Recovery Act^१ की उस धारा के प्रति दृष्टिकोण का है जिसका आशय श्रमिकों को उन संगठनों के स्वतन्त्र निर्वाचन का अधिकार देना था जो औद्योगिक दशाओं को निश्चित करने में उनका प्रतिनिधित्व करें। जब तक कि एक वैधानिक प्रजातन्त्र में एक सरकार को यह विश्वास न हो कि उसके निर्णयों का पालन होगा तब तक यह निश्चय जानिए कि ऐसी व्यवस्था की धारणाएँ बहुत समय तक सुरक्षित नहीं रहेंगी।

इससे, कहा जाता है, उस दायित्व का जन्म होता है और जो कि ऐसे सभी राज्यों की सरकारों पर लागू होता है, कि किसी महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक दल की मौलिक भावनाओं पर कुठाराघात न किया जाय। आशय यह है कि जिस बहुसंख्यक दल के प्रतिनिधि संप्रभुता की शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं उसके अधिकारों की सीमाएँ हैं। यह एक ऐसी साधारण बात है जिसमें कुछ भी गहराई नहीं है। कोई भी समझ सकता है कि यदि संसदसहित-सम्राट् रोमन कैथोलिक धर्म के पालन का निषेध कर दें तो उसके अनुयायी कानून भंग करेंगे, न कि उसका अनुगमन। यह भी हर एक समझ सकता है कि यदि संसद सहित-सम्राट् मूर्खतावश श्रमिक-संघों को अवैध संगठन घोषित कर दें, तो श्रमिक-संघ हार मानने की अपेक्षा संघर्ष करने को तैयार हो जायेंगे। संप्रभुता के संचालन के वैध अधिकार को कोई भी स्वेच्छानुसार कुछ भी कर लेने के नैतिक अधिकार के समान नहीं समझता।

परन्तु यह कहने मात्र से कि बहुसंख्यक-दल के अधिकारों की सीमाएँ हैं वे सीमाएँ निर्धारित नहीं हो जाती; और अन्ततोगत्वा, समस्या का मर्मस्थल यही है। हम गम्भीरतापूर्वक यह नहीं कह सकते कि किसी भी सरकार को ऐसा निर्णय करने का अधिकार नहीं है जिससे महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्ग के विवेक को भारी आघात पहुँचता हो। दासता के उन्मूलन के निर्णय से अमेरिका की जनता के एक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्ग को भारी आघात पहुँचा था; परन्तु उसमें उन्मूलन का निर्णय अन्याय्य नहीं हो गया। एक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्ग ने १८३२ के सुधार अधिनियम को अत्याचार ही माना; लेकिन हमें इस आधार पर सुधार अधिनियम के निराकरण का समर्थन नहीं करना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन में आज एक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्ग बेकारी-बीमा के सम्बन्ध में “साधन परीक्षण” को अत्याचारमूलक समझता है; इससे उसके प्रत्याहार का समर्थन नहीं होता। वस्तुतः सामाजिक लाभ का कोई बृहद् उपकरण, जिसका महत्त्वपूर्ण हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा हो, कदाचित् ही ऐसा रहा है जिसको, इस प्रकार प्रभावित अल्पसंख्यक वर्ग ने, कभी न कभी, अत्याचारमूलक न समझा हो। सर विलियम हरकोर्ट द्वारा लगाये गये मृत्यु-कर पर भी शंका की गई थी; और मिस्टर लायड जॉर्ज द्वारा लगाये गए भूमि-करों की निन्दा, उन लोगों द्वारा जिन पर वे लागू थे, अत्याचारमूलक कहकर की गई।^१

१. मृत्यु-कर से उत्पन्न असंतोष के विवरण के लिए तुलना कीजिए गार्डिनर रचित *Life of Sir W. Harcourt*, (1923) जिल्द २. पृ. २८२।

तो क्या हमको यह कहना चाहिए कि बहुसंख्यक शासन की सीमाएँ उस बिन्दु पर पहुँचकर स्पष्ट हो जाती हैं जहाँ अल्पसंख्यक वर्ग हट जाने के बजाय लड़ने का प्रस्ताव करने लगता है ? इससे कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं । क्या लड़ाई के प्रस्ताव का अर्थ सड़कों पर वास्तविक संघर्ष से है, या यह तात्पर्य है कि एक आम हड़ताल जैसे कार्य की ही, जिसमें कुछ हिंसा अनिवार्यतः स्वाभाविक है, चेष्टा होनी चाहिए ? किन्तु इस गर्त पर व्यवस्थित सरकार की प्रक्रियायों का संचालन असंभव है कि जब अल्पसंख्यक वर्ग प्रतिरोध की धमकी दे तो बहुसंख्यक वर्ग को अपनी शक्ति का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए । उदाहरणार्थ, १९१४ की आयरलैंड की-सी स्थिति में सरकार की इच्छा पूर्णतः पंगु बन जाती । क्योंकि वहाँ अल्स्टर के उग्रवादी, होमरूल विधेयक के लागू होने की दशा में, लड़ाई की धमकी दे रहे थे, और आयरिश राष्ट्रवादी, विधेयक के प्रत्याहृत होने पर, सरकार को अपदस्थ करने का भय दिखाते थे; और एस्किवथ के समाधान के फलस्वरूप, जिसके अनुसार विधेयक अधिनियम बन गया परन्तु उसका कार्यान्वय अनुलम्बित कर दिया गया, अल्स्टर के उग्रवादियों की पूर्ण विजय रही ।

निस्सन्देह, ऐसे अवसर आते हैं जबकि इस प्रकार धमकाई गई सरकार के लिए अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने की अपेक्षा समझौता कर लेना बुद्धिमानी है; लेनिन का १९२१ में 'नई आर्थिक नीति' को स्वीकार करना संकटपूर्ण परिस्थितियों के सामने सिद्धान्त को बुद्धिमानी के साथ समर्पित कर देने का प्रख्यात उदाहरण है । परन्तु यह एक ऐसी विधि नहीं है जिसको एक सामान्य नियम बनाया जा सके क्योंकि इसमें बहुसंख्यक-सरकार निश्चय ही असम्भव हो जायगी । सामान्यतः जिस सरकार को चुनौती दी जाती है वह जब तक यह अनुभव करती है कि जनमत उसके साथ है उस चुनौती का सामना अवश्य करती है; क्योंकि वैधानिक प्रजातन्त्र का यह आदि सिद्धान्त है कि कानून द्वारा निर्धारित विशेष विधियों से ही उसे (सरकार को) अपदस्थ किया जा सकता है । अतएव बहुसंख्यक-शासन की सीमाएँ, वस्तुतः सिद्धान्त-रूप में सुगमता के साथ निर्धारित नहीं की जा सकतीं । वे अनुभूत अन्तर्दृष्टियों पर आश्रित हैं, न कि परिस्थिति-विशेष के अन्तर्भावों के ठीक-ठीक नाप-जोख पर । वास्तव में एक सरकार को, जो उनके अर्थ का अनुमान करती है, सदैव स्मरण रखना चाहिए कि स्वार्थ की माँग के सामने लगातार आत्मसमर्पण करते जाना शीघ्र ही उसको किसी भी गम्भीर महत्व का कार्य करने की योग्यता-प्राप्ति में वंचित कर देगा ।

हमारे ऐतिहासिक अनुभव से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह शिक्षा है कि एक वैधानिक प्रजातन्त्र के नागरिकों पर कोई सरकार अपनी इच्छा का आरोपण तबतक कर सकती है, और केवल तभी तक, जबतक वे नागरिक राज्य के वास्तविक उद्देश्यों के विषय में उससे मूलतः एकमत हों। जब भी गहरा मतभेद उत्पन्न होता है तब सभी वैधानिक आकारों की दुर्बलताएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं, और ऐसी परिस्थितियों में अधिनायकवाद की ओर प्रगति सुगम और तीव्र हो जाती है। आर्थिक अरक्षा के समय में यह बात सर्वाधिक होती है। जिन लोगों की ऐसे दूर-गामी परिवर्तनों में, जिनकी बुद्धिमत्ता पर उनका विश्वास नहीं है, भारी हानि होने को है, वे सरकार के उन परिवर्तनों के करने के अधिकार पर भी सरलता से विश्वास नहीं करेंगे। यदि वे समझें कि उनके हितों पर आपदा आने वाली है तो इस भावना का साधारणीकरण वे यह कहकर करेंगे कि पूरे सम्प्रदाय का कल्याण खतरे में है; और प्रायः कानून और व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के मूल्य पर भी, वे ऐसे काम करेंगे जिन्हें वे अपने से उसकी प्रतिरक्षा कहेंगे। वे ऐसा पूर्ण ईमानदारी से करेंगे; उदाहरणार्थ, १६१४ में लॉर्ड कार्सन और उनके अनुयायियों की ईमानदारी पर किसी को शंका नहीं होती। हम उनके कार्यों को नैतिक दृष्टि से गलत और राजनीतिक दृष्टि से मूर्खतापूर्ण समझ सकते हैं, लेकिन, साक्ष्य के आधार पर, हमारे लिए यह शंका करना असम्भव है कि ऐसे अवसर आ सकते हैं जबकि इस प्रकार के कार्य का निश्चय किया जायगा।

हम उन्हें नैतिक दृष्टि से गलत और राजनीतिक दृष्टि से मूर्खतापूर्ण समझ सकते हैं; परन्तु यह जान लेना बड़े ही महत्व का है कि हम उनके कार्यों पर सदा ऐसा निर्णय नहीं देते। आज कम ही लोगों का ऐसा विचार होगा कि संसद् द्वारा, सारे रक्तपात और कष्टों के मूल्य पर, चार्ल्स प्रथम का विरोध असमर्थनीय था; इसको तो और भी कम लोग अस्वीकार करेंगे कि जिन लोगों ने १६८८ में जेम्स द्वितीय का विरोध किया, उन्होंने उचित किया। अधिकांश फ्रांसीसी अब फ्रांसीसी-क्रान्ति की घटनाओं का समर्थन करेंगे, और मार्च १६१७ की रूसी क्रान्ति का जिस सार्वभौम संतोष के साथ स्वागत हुआ था, उसे स्मरण करना हमारी पीढ़ी के लिए अब भी सम्भव है। किन्तु यह कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि कुछ विरोध उचित है; और चूंकि कोई ऐसा न्यायालय नहीं है जिसको इस समस्या पर निर्णय देने के लिए निर्देश किया जा सके, इसलिए विरोध करने का निर्णय मनुष्यों के हाथ में छोड़ देना पड़ता है। हम उनसे केवल यही अनुरोध कर सकते हैं कि वे अपने कामों की परीक्षा

उन्हीं निर्भय निकषों के आधार पर करें जो वे उस सरकार पर, जिसका कि वे विरोध करते हैं, लागू करते हैं।

कानून के दर्शन पर, मेरे विचार में, इसका प्रभाव सीधा है। इससे प्रभावी वैध कार्य की सीमाएँ नागरिकों की सहमति पर आश्रित हो जाती हैं। यह अवश्य है कि यह सहमति निर्भय बल-प्रयोग द्वारा प्राप्त की जा सकती है; हिटलर की जर्मनी में लाखों नागरिक ऐसे हैं जिनका आज्ञा-पालन तलवार की धार के बल पर प्राप्त किया जाता है। परन्तु कानून का ऐसा दर्शन जो अपने सिद्धान्तों का, जिस पर वह आधारित है, परीक्षण अपने प्रयोग के फल से प्रभावित होने वाले लोगों के मस्तिष्क में स्थित अपनी जड़ों के निरन्तर निर्देश द्वारा नहीं किया करता, वह राज्य के एक व्यावहारिक सिद्धान्त का सृजन कभी नहीं कर सकता। हमको कहना चाहिए कि वैध कानून वह है, जिसे मनुष्य पर्याप्त समर्थ जबकि वह उनकी सहमति प्राप्ति के प्रयत्न में हों। संप्रभु शक्ति से निःसृत होने के कारण ही वह स्वीकृति का चरम अधिकार नहीं पा लेता। इसलिए भी उसको स्वीकृति का अधिकार नहीं मिल जाता कि वह अपने को औचित्य-प्राप्ति के प्रयत्न के रूप में प्रस्तुत करता है। आज्ञा-पालन पर उसका अधिकार मनुष्यों के उस निर्णय में निहित है जो वे उसके दावों के औचित्य के विषय में करते हैं। जिन संस्थाओं की इच्छा का प्रतिनिधित्व वह करता है उन पर की गई माँगों को संतुष्ट करने की शक्ति से ही वह वैध कानून बनता है।

इस प्रसंग में एक और भी टिप्पणी आवश्यक है। इस परिच्छेद के तर्क का आधार मुख्यतया दो प्रस्थापनाओं का अस्वीकरण रहा है। एक ओर, मैंने अस्वीकार किया है कि कानून का विशुद्ध तात्त्विक सिद्धान्त राजनीतिक दायित्व का समुचित दर्शन प्रदान कर सकता है; तथ्यों का कोई भी ढाँचा-मात्र, स्वयं अपने से, उचित कानून नहीं बन सकता। दूसरी ओर, मैंने इस आदर्शवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है कि वास्तविक कानून का किसी भी समय, कानून जैसा होना चाहिए, उससे तादात्म्य किया जा सकता है। जैसा मैंने संकेत किया है, राजनीति में यथार्थ और सद्बिवेक का हीगेल द्वारा किया गया तादात्म्य इतिहास का संतोषजनक दर्शन प्रस्तुत करने में असमर्थ है। और मूलतः राजनीतिक दायित्व के सभी सिद्धान्त ऐसे ही दर्शन का रूप लेना चाहते हैं।

क्योंकि कानून और न्याय के बीच अर्थात् कानून जो है और कानून जो होना चाहिए के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। मेरी तर्कना है कि

कानून को सहमति के अधिकार का आधार व्यक्तिगत नागरिकों के निर्णय में खोजना चाहिए। यदि कहा जाय कि व्यक्ति द्वारा भूल हो सकती है, इसलिए यह एक ऐसा निर्बल आधार है जो उस भार के अयोग्य है जिसे इस पर रखा जा रहा है, तो मेरे विचार से, दो चीजें न्यायतः कही जा सकती हैं। प्रथम, व्यक्तिगत निर्णय ही तो हमारे पास है। यदि हम निश्चय करने के इसके अधिकार को अस्वीकार कर दें तो हमें तीन चीजों में से एक का सहारा लेना पड़ेगा। हमें यह तर्क देना पड़ेगा कि व्यवस्था ही सर्वोच्च कल्याण है, अतः सभी परिस्थितियों में कानून भंग करना गलत है; यह एक ऐसा मत है जिसका समर्थन कोई नहीं करता। अथवा हमको यह कहना पड़ेगा कि तात्त्विक कानून, उन उद्देश्यों के कारण जिनकी पूर्ति यह करना चाहता है, आज्ञा-पालन का अधिकारी है; इस तर्क को मैंने इस आधार पर अस्वीकार कर दिया है कि यह मान लेने का कोई नैसर्गिक कारण नहीं है कि कुछ निर्दिष्ट कानून इन उद्देश्यों की पूर्ति का वास्तव में प्रयत्न कर रहे हैं, क्योंकि यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय सदैव उनके और उनको क्या होना चाहिए के विषय में हमारी भावना के बीच सम्बन्ध की परीक्षा द्वारा ही हो सकता है। या तीसरे, यह दावा किया जाय कि कानून, जो कि संप्रभु राज्य की इच्छा है, केवल इसीलिए समुचित है कि वह उस संवास की इच्छा है। सामान्य भाषा में यही आदर्शवादी दृष्टिकोण है और मैंने यहाँ वे कारण दिए हैं कि मुझे यह क्यों अप्रतिपाद्य प्रतीत होता है।

यदि कहा जाय कि इतनी गहन कठिनाइयों के बीच बुद्धिमानों का कर्तव्य संशयवाद होना चाहिए, तो मैं समझता हूँ, यह उत्तर पर्याप्त होगा कि हम यह निर्णय करने की आवश्यकता से बच नहीं सकते कि राजनीति में क्या गलत है और क्या सही है। और, मेरे विचार में, कई कारणों से हमें संशयात्मक स्थिति को अस्वीकार करना पड़ेगा। हम देखेंगे कि मनुष्यों के राजनीतिक अधिकार के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण अधिकतर समाज में उनकी विभिन्न स्थितियों और असमान दावों से उत्पन्न होते हैं; जितनी ही अधिक पूर्णता से हम सम्बन्धों का ऐसा समतल प्राप्त कर सकते हैं जहाँ विषमताओं का निराकरण हो उतना ही अधिक कानून का, उन लोगों के समक्ष, जिन्हें यह बाध्यकारी जंचता है, उचित प्रतीत होना सम्भव हो जायगा। यह महत्वपूर्ण है कि इतिहास के ऐसे युग जब मनुष्य कानून से सर्वाधिक संतुष्ट हों विस्तार के वे ही युग हैं जबकि सुअवसरों की बुद्धि से प्रत्येक के व्यक्तिगत दावे की संतोषजनक पूर्ति की संभावना उत्पन्न हो। ऐसे विस्तार से

सुरक्षा आती है, और सुरक्षा के गुणों में तर्क-बुद्धि को मनुष्यों के मस्तिष्क पर अपना साम्राज्य स्थापित करने का सर्वोत्तम अवसर होता है। इस दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है कि कानून के सर्वाधिक व्यापक रूप में समुचित जंचने की सबसे अधिक संभावना वहाँ होती है जहाँ इसके प्रयोगों से समाज में उत्पादन के यंत्रों का पूर्णतम उपयोग सम्भव हो जाय। जहाँ मंभाव्य-उत्पादन शक्ति और प्राप्त उत्पादन-शक्ति के बीच अन्तर्विरोध है, जिसे सामाजिक संस्थाएँ बनाए रखती हैं, वहाँ इस अन्तर्विरोध के फलस्वरूप पीड़ित लोग सामाजिक संस्थाओं की कार्य-विधि को सहज अनुचित कहेंगे।

इसके अतिरिक्त, यह महत्वपूर्ण है कि चूँकि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, इसलिए जो लोग कानून का निर्माण करते हैं वे उसके सामने इस आधार पर इसका समर्थन करने को व्यग्र रहते हैं कि वास्तव में कानून न्याय के बराबर है। आशय यह है कि वे यह सिद्ध करने के लिए तर्क देते हैं कि, कानून जैसा है, उसे, कानून जैसा होना चाहिए, के बराबर समझना चाहिए। यह स्पष्ट है कि यदि एक बार हम स्वीकार करें कि किसी परिस्थिति-विशेष में जो एक कानून है वह वही है जो कानून होना चाहिए, तो हम प्राकृतिक कानून का अस्तित्व स्वीकार कर रहे हैं। मेरा स्वयं का दृष्टिकोण यह है कि प्राकृतिक कानून की सारी कठिनाइयों के होते हुए भी राजनीतिक दायित्व के दर्शन के आवश्यक अंग के रूप में इसको उपगृहीत करने की आवश्यकता का परिहार नहीं हो सकता। इसके आलोचकों ने इसे नष्ट करने के प्रयत्न में अभी तक जितने तर्क दिए हैं उनमें से कोई भी सफल नहीं रहा है। प्राकृतिक कानून पर ऐतिहासिक आक्रमण केवल इस कारण विफल रहा है कि जिस समस्या का निवास आदर्श के क्षेत्र में हो उस पर निर्णय अनेक नथ्य के स्तर पर नहीं हो सकता। तात्त्विक न्याय-विचारकों का आक्रमण केवल इसलिए विफल रहा कि यह स्पष्ट हो गया कि, तात्त्विक कानून सभी सम्भव परिस्थितियों के लिए पर्याप्त नहीं होता; किसी अदृष्टपूर्व परिस्थिति के उठ खड़ी होने पर उसका समाधान करने के लिए न्यायाधीश या धारा-सभा को यह विचार करना पड़ता है कि उक्त परिस्थिति में क्या उचित या तर्क-संगत है। सर फ्रेडरिक पोलक ने इसे भली भाँति व्यक्त किया है। उनका कहना है,^१ “हमारे न्यायालय को बहुत बड़ी संख्या में कानून बनाते चलना है, जो, चाहे वे इसे जानते हों अथवा नहीं, वास्तव में प्राकृतिक कानून हैं क्योंकि जो भी प्रश्न उनके सामने आते हैं उनका समाधान पाना उनके लिए आवश्यक है;

१. Expansion of the Common Law (1904), पृष्ठ ११२।

और न्याय और सुविधा के सामान्य विचारों को, तात्त्विक प्राधिकार के अभाव में, प्रथम मिलना चाहिए।" वस्तुतः यह अवलोकनीय है कि जो व्यक्ति प्राकृतिक कानून की भावना का खण्डन करने के लिए बहुत अधिक व्यग्र है (उदाहरणार्थ दूवे^१) उनमें से बहुत से राजनीतिक दायित्व सम्बन्धी अपना दृष्टिकोण इसकी अवधारणाओं पर निर्मित करते हैं।

आध्यात्मिक आक्रमण की स्थिति भी इससे अच्छी नहीं है। कहा जाता है कि न्याय सम्बन्धी सभी प्रश्न सापेक्ष्य हैं। समय और स्थान ही उसके सार-तत्व को सार्थक बनाते हैं। एक ऐसे संसार में जहाँ एक अंगरेज को तो वसीयतनामा की स्वतन्त्रता ही 'प्राकृतिक' प्रतीत होती हो, और बीस मील की दूरी पर एक फ्रांसीसी को वसीयतनामा का नेपोलियन-निर्मित नियमों द्वारा कड़ा नियंत्रण 'स्वाभाविक' अनुभव हो, सार्वभौम वैधता का दावा रखने वाले न्याय-विज्ञान की खोज करना व्यर्थ है। आध्यात्मिक आक्रमण इस आग्रह का रूप भी धारण कर सकता है, जो गीघ्रता से परिवर्तित होने वाले नैतिक मानों के युग में बहुत प्रिय हो रहा है, कि न्याय का प्रश्न व्यक्तिगत मत का प्रश्न है जिसके समक्ष वस्तुपरक निकष अस्वीकार्य है।

पर यह दृष्टिकोण जितना पहले प्रतीत होता है उससे कहीं कम संतोषजनक है। जैसा प्रोफेसर कोहेन ने संकेत किया है, पहले तो, इसका निर्माण विज्ञान के तर्क की एक साधारण भ्रान्ति पर हुआ है।^२ प्रोफेसर कोहेन ने कहा है कि, "(प्राकृतिक कानून के प्रति आध्यात्मिक) आपत्ति व्यवहृत नियम संहिता और सिद्धान्त-विज्ञान के बीच जो अन्तर है उस पर ध्यान नहीं देती यद्यपि यह अन्तर उतना ही स्पष्ट होना चाहिए जितना इंजीनियर द्वारा बेलदारों को दिए गये निर्देशन और यांत्रिकी-विज्ञान के बीच का अन्तर।"^३ न्याय के विषय में जो मत-वैभिन्य मिलता है उसके कारण एक न्याय-विज्ञान का निर्माण उतना ही असम्भव हो जाता है जितना कृषि-कर्म के विभिन्न तरीकों के कारण कृषि-विज्ञान का।

और हमको जो मत-वैभिन्य मिलता है उसके अतिरंजन से भी सावधान

१. Cf. My Paper in Modern Theories of Law (1934), अध्याय ४।

२. देखिए उनका Reason and Nature (1931), जिल्द ३, अध्याय ४, विशेषकर पृष्ठ ४१२ और आगे। इस सुन्दर पुस्तक का मुझ पर ऋण पाठकों को स्पष्ट हो जायगा।

३. वही, पृष्ठ ४११।

रहना चाहिए। वसीयतनामे का उदाहरण लेते हुए, यह स्पष्ट है कि हम कानून के इस क्षेत्र में अंगरेजी और फ्रांसीसी पद्धतियों में जो अन्तर है उसका अतिरंजन सरलता से कर सकते हैं। क्योंकि उस अंगरेज का वसीयतनामा, जिसने किसी विशेष ध्येय को, जिसमें उसे रुचि थी, लाभ पहुँचाने के लिए, अपने परिवार को विपन्न छोड़ दिया, अधिकांश लोगों द्वारा सर्वथा अन्यायपूर्ण समझा जायगा; और इंग्लैंड में वसीयत की स्वतन्त्रता बनी रहने का, ऐतिहासिक कारणों को अलग छोड़कर, मुख्य कारण यह है कि अधिकांश वसीयत करने वाले, वस्तुतः, अपनी सम्पत्ति का अधिकतर भाग अपने परिवारों को छोड़ जाते हैं।^१ मूल्यांकन के विषय में हमारे अन्तर उल्लेखनीय सही, पर हमारी सहमतियाँ भी उतनी ही उल्लेखनीय हैं। इस विषय में लगभग सार्वभौम सहमति है कि हत्या, बेकारी, अनाहार-मरण, बेगार, स्त्रियों का व्यापार और हानिकर भेषज, ये बुरे हैं। मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों के विषय में हमारे मतभेद वस्तुतः, उन विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिफल हैं जिनका सामना हमको करना पड़ता है; आज के वातावरण में अरस्तू से कोई भी दासता के समर्थन की आशा नहीं करेगा। और यह अप्रासंगिक नहीं है कि राजनीति की सारी प्रक्रिया इसी कल्पना पर निर्मित होती है कि कोई प्रस्तावित व्यवस्था कहाँ तक न्याय-संगत है, इस विषय पर विवेकपूर्ण विवाद द्वारा प्रभावी मतैक्य प्राप्त हो सकता है। यदि ऐसा न होता तो सामूहिक सामाजिक जीवन स्पष्टतः असम्भव हो जाता।

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि आज हमारे पास प्राकृतिक कानून के उपयुक्त विज्ञान के निकट पहुँचने वाली कोई वस्तु है। उसके मार्ग में अपार बाधाएँ हैं। प्रश्न केवल यह नहीं है कि जो निसर्गतया उचित है उसे सामाजिकतया सम्भव होना चाहिए। या केवल यह बात भी नहीं है कि इस क्षेत्र में उपधारणों का निश्चय करना भौतिक या रसायन शास्त्र के क्षेत्रों से कहीं अधिक संश्लिष्ट व्यापार है। अन्त में, केवल यह बात भी नहीं है कि विशुद्ध तर्क के रूप में, सार्वभौम सिद्धान्त हमें विशिष्ट परिस्थितियों के लिए सरल नियम नहीं देते; ऐसे बहुत से 'यदि' और 'परन्तु' हैं जो इन साकार परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं।^२ कठिनाई तो हमारे इस अज्ञान से उत्पन्न

१. पार्लियामेंट में उनको ऐसा करने के लिए बाध्य करने का प्रयत्न अभी हुआ है। देखिए Hansard (Fifth Series), Vol. 71, 1928, 37—61।

२. इसी प्रश्न पर आकर कानून के सिद्धान्त के विषय में कान्ट, स्टैमलर और केलसन जैसों के रूपात्मक प्रयत्न कुंठित हो जाते हैं।

होती है कि हमारे प्रस्ताव वास्तव में क्या करेंगे; संयुक्त राज्य में मद्य-निषेध का प्रयोग करने वालों को उस ठग-शासन का पूर्व-ज्ञान नहीं था जो, हम आज अनुभव करते हैं, उस प्रयत्न में अनिवार्यतः निहित था और कठिनाई यह है कि हमारे प्रस्ताव प्रायः कानून बनानेवाले और कानून माननेवाले वर्गों के स्वार्थों में अनुरूपता की कल्पना कर लेते हैं। कठिनाई इसमें है कि एक कानून, उदाहरणार्थ १८९६ का Workmen's Compensatin, Act^१ मनुष्यों के एक दल द्वारा कुछ उद्देश्यों के लिए निर्मित हो सकता है, और एक दूसरे दल द्वारा दूसरे उद्देश्यों के लिए कार्यान्वित हो सकता है; और इसी से सम्बन्धित कठिनाई इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य में कानून जन-साधारण द्वारा नहीं, बल्कि एक छोटे से दल द्वारा बनाया जाता है जिसकी प्रवृत्ति इस धारणा की ओर होती है कि कानून की आवश्यकता की उसकी अवधारणा में शेष समाज उतनी ही तत्परता से सम्मिलित है। इस भूल की अधिकता विधान के इतिहास के अत्यन्त करुणाजनक तथ्यों में से एक है। उदाहरणार्थ स्पीनोज़ा के समय में भी इस बात पर बल देना सम्भव हो चुका था कि भोज-व्यय-विषयक कानून अपना लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहते हैं; किन्तु उससे आगामी प्रत्येक युग में हमारा उनके बनाने का प्रयत्न रुक नहीं गया।^२ हिटलर के शासन ने तो यह भी निर्धारित करने की चेष्टा की है कि लोग अपने खाने में क्या खायेंगे।

एक अन्तिम कठिनाई पर बल देना आवश्यक है, क्योंकि सामाजिक विज्ञानों की बहुत-सी भ्रान्तियों की जड़ इसी में है। प्राकृतिक कानून का कोई भी सिद्धान्त अमूर्त ढंग से ओर सार्वभौम पदावली में व्यक्त होना चाहिए। इससे ऐसे सिद्धान्तों के कार्यान्वय की समस्या उत्पन्न होती है जिनके विस्तार की कोई सीमा नहीं है। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि यह एक सामान्यतया स्वीकृत सिद्धान्त है कि कानून के सामने सब मनुष्य समान होने चाहिए। परन्तु जबतक सामाजिक दशाएँ इसकी पूर्ति का अवसर न दें हम इस सिद्धान्त के प्रयोग को प्रत्येक व्यक्ति के लिए सार्थक नहीं कह सकते। जॉर्जिया में, उदाहरण के लिए, कानून के सामने नीग्रो और गोरो के बीच समता नहीं है। इंग्लैंड में सभी दीवानी और अधिकांश फौजदारी मुकदमों में खर्च की समस्या अमीर और गरीब के बीच समता के आदर्श की प्राप्ति कठिन

१. तुलना कीजिए मेरी Studies in Law and Politics (1932), अध्याय १२, विशेषकर पृ. 286ff.

२. Tractatus Politicus, X.

बना देती है। हिटलर-शासन के प्रथम वर्ष में ब्राउन आर्मी के सदस्यों के साथ न्यायालयों का बर्ताव पक्षपातपूर्ण होता रहा। और भी, चूँकि प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त ऐसी समरूपता पर निर्मित हैं जो अमूर्त है और इसीलिए कृत्रिम हैं; अतएव, यदि उनके द्वारा अन्याय नहीं होना है तो, न्याय के अनुरूप उन्हें बराबर संशोधित करते रहना आवश्यक है। परन्तु औपचारिक नियम के अतिरिक्त न्याय की नैसर्गिक भावना तो प्रत्येक परिस्थिति-विशेष के साथ कानून का समायोजन है। और इसलिए, दूसरे शब्दों में यह प्राकृतिक कानून का ऐसे क्षेत्रों पर आक्रमण है जिनकी प्रकृति वैध नहीं है। अतएव यह निश्चयात्मकता नहीं आने देती, जो स्वयं कानून का वांछनीय लक्ष्य है, और यह बर्ताव की उस औपचारिक और सैद्धान्तिक समानता का निषेध करती है जिसे माना गया है कि प्राकृतिक कानून समान रूप से व्यक्तियों के लिए प्राप्त करता है। संक्षेप में, हम जानते हैं कि कानून का अनमनीय व्यवहार अधिकतर न्याय का लक्ष्य पराजित करेगा। यदि हम चाहते हैं कि हमारे सिद्धान्तों को दीर्घकाल तक सम्मान प्राप्त होता रहे तो विभिन्न परिस्थितियों के कारण, जिनका सामना उन्हें करना पड़ेगा, उनको अपने व्यवहार में नमनीय होना चाहिए। हम इस विकल्प में अस्त मालूम होते हैं कि यदि हम नियम का प्रयोग निरपवाद रूप से करते हैं तो किसी अवसर पर हम से भयंकर अन्याय हो सकता है, और यदि हम नियम का प्रयोग नहीं करते तो हम ऐसे स्व-विवेक का प्रयोग करते हैं जो कानून की सभी कोटियों में पृथक है।

मेरे विचार में इस प्रकार की कठिनाइयों से हमें उन आवश्यकताओं के सामने नतमस्तक होना पड़ेगा जिन पर विजय पाना प्राकृतिक कानून की भावना के लिए जरूरी है, इसके पहले कि वह राजनीतिक कार्य के स्वीकृत निकष के रूप में प्राप्त हो। परन्तु मैं नहीं समझता कि इस आवश्यक विनयशीलता को स्वीकार करने का तात्पर्य यह है कि हम पर्याप्तता की खोज करना छोड़ दें। ज्ञान का अर्जन, विशेषकर विगत शताब्दी में, अत्यधिक रहा है। जो न्यायसम्बन्धी सामग्री लॉर्ड एल्डन या प्रधान न्यायपति मार्शल को सुलभ थी और जिसका उपयोग न्यायाधीश होम्स और ब्रैन्डीज ने किया, इन दोनों का अन्तर उस महान प्रगति के समान है जो भौतिक शास्त्र में मध्य युग और सत्रहवीं शताब्दी के बीच हुई। इतिहास और मानव-शास्त्र के विषय में भी यही सत्य है। हमको यह विश्वास करने का अधिकार है कि, यदि हम चाहें तो, हमारे बढ़ते हुए ज्ञान से मानवी मामलों को उचित ढंग से निपटाने में अधिका-

धिक विवेक की प्राप्ति हो सकती है ।

यदि हम ऐसा चाहें तो यह सीमा-प्रतिबन्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । सामाजिक कल्याण की वास्तविक परख के प्रति प्रत्येक उपनयन, (इसीलिए राजनीतिक दायित्व का सारा मूलाधार) अंततः बढ़ती हुई सामाजिक समानता का प्रतिफल है । क्योंकि इसमें अत्युक्ति नहीं हो सकती, विशेषकर उस भौतिक आधार के विषय में जो सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करने में प्रधान है, कि भिन्न रीति से रहने वाले मनुष्य भिन्न रीति से सोचते हैं और इसलिए वह एकता जो कि समाज को सहनशीलता और स्थायित्व प्रदान करती है वहाँ असाध्य है जहाँ मनुष्य इतनी भिन्न रीति से रहते हैं कि वे जीवन को एकभाव से देख नहीं सकते । यह विपमता का विष ही है जिसने विगत काल में सभी विशाल साम्राज्यों को नष्ट कर दिया । क्योंकि यह सार्वजनिक जीवन के प्रति जनता की निष्ठा को भंग कर देता है और उसको, प्रायः उचित ही, यह समझाता है कि इसके विनाश से ही राज्य-वाद की न्यायोचित अवधारणा का मार्ग निर्मित हो सकता है । कालान्तर में, शक्ति का ऐसा प्रयोग जो असम विभाजित लक्ष्यों के लिए होता है, समाज में सदैव ईर्ष्या, घृणा और विग्रह को जन्म देता है; और कोई भी समाज जिसकी रगों में ऐसी बुराईयाँ प्रवाहित हों, जीवित नहीं रह सकता ।

राजनीतिक दर्शन की शास्त्रीय अवधारणाओं की दुर्बलता यही रही है कि इस सत्य के प्रति गम्भीर ध्यान देने में बह असफल रहा है; या जहाँ ध्यान दिया भी गया है वहाँ वह तलोपरिक और खंडित रहा है । हमारे लिए यह अविश्वसनीय होना चाहिए कि हीगेल के जैसे शक्तिशाली और श्रमसाध्य दर्शन का अन्त प्रशा के राज्यतंत्र की उपासना, उसे मानव-कौशल की सर्वोपरि उपलब्धि मानकर करने में हो । हमारे लिए इसमें एक चेतावनी है (उतनी बड़ी जितनी हम अपने निजी वातावरण से उपदिष्ट आदर्श द्वारा ग्रहण कर सकें) कि बोसांके का जैसा हट्ट और सजग मस्तिष्क भी राजनीति के आर्थिक आधारों की बिल्कुल उपेक्षा कर गया । हमारे समय में भी, जबकि रूस की घटनाएँ हमारी पीढ़ी को उससे कम स्पष्ट चेतावनी नहीं दे रही हैं जो फ्रांसीसी क्रान्ति ने उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ के लोगों को दी थी, प्रख्यात विचारक उसी 'स्वतन्त्रता की प्राकृतिक पद्धति' की पदावली में अपनी पद्धतियों का निर्माण कर रहे हैं जो यह समझने में दयनीय रूप से असफल रही है कि स्वतन्त्रता की अवधारणा समानता के प्रसंग से अलग होकर व्यर्थ हो जाती है । यह कहना सत्य है कि मार्क्स के पूर्व अधिकांश राजनीतिक परिकल्पना अपूर्ण थी क्योंकि

राज्य के उद्देश्यों के निर्धारण में सम्पत्ति-सम्बन्ध का जो प्रबल प्रभाव था उसे समझने में यह असफल थी । केवल इस प्रभाव को ठीक समझने में ही राज-नीतिक दायित्व का पूर्ण सिद्धान्त पाया जा सकता है ।^१

१. आर्थिक इतिहास के अनुशीलन पर मार्क्स के प्रभाव के लिए देखिए R. H. Tawney का *Economica* (१९३३) जिल्द १३, में लेख, पृ. १ ।

अध्याय : २

यथार्थ संसार में राज्य और शासन-तंत्र

मेरा तर्क रहा है कि आज्ञा-पालन पर राज्य का दावा उसकी अपने नागरिकों की आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि करने की इच्छा और क्षमता पर निर्भर है। इस दावे का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य का कार्य-कलाप निष्पक्षता से सम्पन्न हो। जहाँ राज्य का प्रयत्न उसके द्वारा नियंत्रित समाज के किसी वर्ग-विशेष के हितार्थ विकृत होता है तो एक न एक दिन क्रान्ति हो जाने की सम्भावना रहती है। क्रान्ति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वह विधानानुसार सत्तारूढ़ शासन-तंत्र के विरुद्ध बल-प्रयोग द्वारा राज्य के उन लक्ष्यों में परिवर्तन करने का प्रयास है जिन्हें बल-प्रयोग करने वाले राज्य के वास्तविक लक्ष्य समझते हैं।

राज्य के कार्य-कलाप में पक्षपात रहता है, इस तथ्य से कोई ऐसा व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता, जो ऐतिहासिक साक्ष्य का सूक्ष्मता से परीक्षण करता है। यूनान का नगर-राज्य दासों के विरुद्ध पक्षपात करता था। रोम-साम्राज्य दासों और निर्धनों के विरुद्ध पक्षपात करता था। मध्यकालीन संसार के राज्य भूमिपतियों के हित में पक्षपात करते थे। औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त राज्य की पूर्वधारणा उत्पादन-साधनों के स्वामियों के पक्ष में और उन लोगों के विपक्ष में रही है जिनके पास सिवाय अपनी श्रम-शक्ति के कुछ बेचने को नहीं है।

वास्तव में उपरोक्त विवेचन एक ऐसी प्रक्रिया का अति-सरलन है जो अपने विस्तार में इतनी संश्लिष्ट है कि शायद ही कोई दो इतिहासकार इस कहानी को एक ही प्रकार से कह पाएँ। पर इतिहास के साक्ष्य के अन्तर्भाव एक-से ही हैं। जिस वर्ग की यह धारणा होती है कि राज्य उसके विरुद्ध पक्षपात कर रहा है वह निश्चय ही अपनी निष्ठा राज्य की ओर से हटा लेता है। सम्प्रति हमें इससे कुछ प्रयोजन नहीं कि उस वर्ग की यह धारणा ठीक है कि नहीं। महत्व इस बात का है कि राज्य में परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष द्वंद्व का स्थायी अस्तित्व है जो अब तक राज्य-सत्ता के संचालन के अधिकार के लिए हमेशा खुले संघर्ष के रूप में प्रस्फुटित होता आया है।

बाह्य रूप से इस संघर्ष के उद्देश्य इतने ही विभिन्न रहे हैं जितने कि हम समाज में वर्ग देखते हैं। कभी तो संघर्ष धर्म के आधार पर हुआ; सोलहवीं शताब्दी के फ्रांस में हुए गृह-युद्धों का घोषित लक्ष्य ह्यूगोनाट्स के लिए धार्मिक सहिष्णुता की प्राप्ति था। कभी-कभी क्रान्तिकारी राजनीतिक स्वच्छन्दता के स्थान पर वैधानिक शासन-पद्धति की स्थापना को अपना ध्येय घोषित करते हैं; सत्रहवीं शताब्दी में हुआ आंग्ल गृह-युद्ध इसका उदाहरण है। १६१७ की बोल्शेविक क्रान्ति का उद्देश्य समाजवादी समाज की प्रस्थापना था। १९३३ में हुई हिटलर की क्रान्ति का उद्देश्य जर्मन समाज में यहूदी रक्त अथवा मार्क्सवादी विचार वाले नर-नारियों के प्रभाव को समाप्त कर जर्मन-राज्य को पुनर्जीवित करना था।

क्रान्तिकारी संकल्प जैसे भी घोषित हों—और वे कदाचित् ही क्रान्ति की उपलब्धियों के अनुरूप होते हैं—राजनीतिक दर्शन को तो इतिहास से प्राप्त वास्तविक प्रक्रियाओं के परिणामों को ले लेना है। मनुष्यों ने अपने को क्या करते हुए समझा, महत्व इस बात का नहीं, बरन् इस बात का है कि उन्होंने वास्तव में जो कुछ किया उनका अभिप्राय क्या है। राज्य की जीवन-विधियों में अन्य विधियों के लिए निरन्तर परिवर्तन किए जाने हैं। आचरण की नई पद्धति सम्प्रदाय में एक अस्थायी उल्लाम का संचार करती है। नई आचरण-प्रणाली के आधार पर एक नवीन एकता का निर्माण होता है जिसका अस्तित्व उन चिह्नों के प्रादुर्भाव होने तक रहता है जो एक नूतन क्रान्तिकारी स्वभाव के उदय की सूचना देते हैं। क्या हम कोई ऐसा सामान्य सिद्धान्त ढूँढ़ सकते हैं जो इस वृत्त का समाधान दे सके ?

दो सौ वर्ष हुए मान्टेस्को और समो दोनों ने अनुभव किया कि शासन-तंत्रों में पतन की अनिवार्य प्रवृत्ति होती है; और थॉमस जेफर्सन का, जिसने स्वयं दो क्रान्तियाँ देखी थीं, विचार था कि प्रत्येक पीढ़ी में क्रान्ति की आवश्यकता होती है और यह इसलिए कि शासन-तंत्रों को उन लक्ष्यों को स्मरण करने पर बाध्य किया जा सके जिनके लिए उनकी स्थापना होती है। राजनीतिक दार्शनिकों की यह आम धारणा रही है कि शक्ति, उसे प्रयोग करने वालों के लिए विषाक्त सिद्ध होती है; इसी धारणा ने ज्येष्ठ मिल को यह कहने के लिए प्रेरित किया कि जिन युक्तियों से शक्ति-प्रदान का औचित्य सिद्ध होता है उन्हीं के आधार पर यह भी आवश्यक हो जाता है कि शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध रक्षा-कवचों का निर्माण किया जाय।^१ ऐसे रक्षा-कवचों की

तो कमी नहीं। लिखित संविधान, अधिकार-सूचियाँ, शक्तियों का पृथक्करण, मौलिक कानून, केवल इन प्रमुख प्रविधियों को ही लीजिए, इनमें से कोई भी मनुष्यों को यह समझाने में पर्याप्त सिद्ध नहीं हुई कि वे अपने उद्देश्य हिंसा के बिना ही प्राप्त कर सकते हैं। हमारी समस्या की जड़ें इतनी गहरी हैं कि वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा उनका उद्घाटन नहीं हो सकता। यदि मान्टेस्को और रूसो का कहना ठीक है तो भी यह जान लेना आवश्यक है कि शासन-तंत्रों का अधःपतन क्यों होता है? यदि जेम्स मिल का सावधानी पर बल देना विवेक-संगत है तो भी यह मालूम करने की आवश्यकता है कि किन कारणों से शासन-तंत्र अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं।

तात्पर्य यह है कि राजनीतिक दर्शन का समीचीन आधार इतिहास का दर्शन है। यदि हम ऐतिहासिक घटनाओं के कारणों का समाधान कर सकें तो एक संतोषजनक राज्य-सिद्धान्त के उपधारण निमित्त करने के लिए सामग्री सुलभ हो जायगी। निस्सन्देह ऐसे दर्शनों का अभाव नहीं है। इतिहास ईश्वरेच्छा के उद्घाटन का अभिलेख है, अथवा हीगेल के मतानुसार इतिहास परम का संचरण है। अथवा सामाजिक परिवर्तन की मीमांसा जलवायु-परिवर्तन की पदावली में की जाती है। हमें मंद-कटिबंधों में प्रजातंत्र और उष्ण-कटिबंधों में तानाशाही की प्रत्याशा करनी चाहिए। या इतिहास को महापुरुषों की जीवनी बताया जाता है और हमें सीज़र, लूथर, नैपोलियन, लेनिन आदि नायकों की इच्छा को घटना-चक्र का प्रेरक मान लेने को कहा जाता है।

इन सब सिद्धान्तों में एक मोटा दोष यह है कि हम इनके सहारे घटनाओं के संभाव्य भविष्य के बारे में पेशीनगोई नहीं कर सकते। ये हमको भाग्य के सामने दृष्टि-विहीन छोड़ देते हैं। इतिहास को ईश्वरेच्छा का उद्घाटन मान लेने से तो हम उस इच्छा के आगामी चरण के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। इतिहास को परम का संचरण मान लेने से यह पता नहीं चलता कि परम की प्रगति किस दिशा में हो रही है; और यदि हम फिर हीगेल के साथ कहें कि यह प्रगति अधिकतर स्वतंत्रता की प्राप्ति की ओर हो रही है तो हमें यह समझाना होगा कि इस विचार की क्या संगति सुरक्षा (जो स्वतंत्रता की अनिवार्य शर्त है) की विफलता के साथ है जो हमारे युग को ऐसे अधिनायकतंत्रों का युग बनाती प्रतीत होती है जो सदैव उदार नहीं होते। जलवायु को परिवर्तन का कारण मानने का सिद्धान्त सर्वथा तथ्य-शून्य नहीं है; पर ज्ञात ऐतिहासिक काल में यूरोप की जलवायु में तो कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुए, फिर वहाँ की संस्कृति और शासन-प्रणालियों में गहन परिवर्तन हो गए हैं। महापुरुषों का

प्रभाव इतिहास पर अवश्य रहा है, फिर भी जिन कारणों से यह प्रभाव सम्भव हुआ वे अव्याख्यात रह जाते हैं। वाशिंगटन ने अमरीका की क्रान्ति नहीं कराई, यद्यपि उसकी सफलता में वह एक महत्त्वपूर्ण उपकरण था; और विद्युत-शक्ति के औद्योगिक प्रयोग का, जिसके कारण हमारी सभ्यता का काया-कल्प हो रहा है, श्रेय किसी एक महापुरुष या महापुरुषों के किसी समुच्चय को नहीं जाता। हमें अनुसंधान इनकी बजाय किन्हीं अन्य दिशाओं में करना होगा।

(२)

किसी निश्चित समाज का मूल तत्व यह है कि वह समाज किस प्रकार में जीविकोपार्जन करता है; सब सामाजिक सम्बन्ध उन मुख्य भौतिक आवश्यकताओं के प्रबन्ध के आधार पर निर्मित होते हैं जिनकी संतुष्टि के बिना जीवन चल नहीं सकता। और किसी भी समाज के विश्लेषण में यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी संस्कृति वा संस्थाओं और भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के तरीकों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जैसे ये तरीके बदलते हैं वैसे ही समाज की संस्थाओं और संस्कृति में परिवर्तन होता है। जिस समाज में संतुष्टि का मुख्य कार्य दासों द्वारा होता है उसकी जीवन सम्बन्धी अवधारणाएँ एक ऐसे समाज की अवधारणाओं से भिन्न होंगी जिसमें इस कार्य को स्वतन्त्र मनुष्य करते हैं। स्त्रियों, कानून, शिक्षा और यहाँ तक कि धर्म के प्रति ऐसे समाज का दृष्टिकोण इस तथ्य द्वारा निर्धारित होगा कि वह दासों और स्वतन्त्र मनुष्यों, इन दो वर्गों में विभक्त है। विशेषकर इस समाज के कानूनों का उद्देश्य दासों के श्रम-दायित्व का संधारण होगा। इस समाज का धर्म अपनी अधिकार-शक्ति दासों से दायित्व-पालन कराने के निमित्त प्रयुक्त करेगा।

आर्थिक उत्पादन के तरीकों के परिवर्तन ही हमारे जाने हुए अन्य सभी सामाजिक ढाँचों में परिवर्तनों के प्रमुख कारण होते हैं; क्योंकि उन तरीकों के परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तनों को निर्धारित करते हैं; और फिर ये परिवर्तन मनुष्यों की समस्त सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में सूक्ष्मता से समाविष्ट हो जाते हैं। हम कानून का इतिहास नहीं लिख सकते जब तक हम उसकी जड़ों को आर्थिक उत्पादन के तरीकों में नहीं देखें। हम धार्मिक सिद्धान्तों के इतिहास का विवेचन नहीं कर सकते, बिना उनका प्रसंग उस सामाजिक पृष्ठभूमि में जोड़े जिसमें उनका विकास हुआ; और इस पृष्ठभूमि का रहस्य सदा उन सम्बन्धों में मिलता है जो कि उत्पादन के तरीकों पर आधारित होते हैं। हमारी शिक्षा-प्रणालियों का लक्ष्य बालक को जीवन के लिए तैयार करना होता है, पर उसे किस प्रकार के जीवन के लिए तैयार करना होगा, यह भी किसी निश्चित

समाज में प्रचलित उत्पादन के तरीकों पर आधारित सम्बन्ध-व्यवस्थाओं का ही परिणाम होता है। हमारी वास्तु-कला की शैलियाँ, हमारे साहित्य के रूप, हमारे विज्ञान की प्रकृति, वह सब कुछ जिसे सम्पत्ता कहा जाता है, उसका आधार-कंकाल मूलतः इन्हीं उत्पादन-सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है।

हमारा आग्रह है कि सामाजिक अधि-आकार (super-structure) की जड़ें इस आर्थिक नींव में होती हैं और तदनुसार उत्तरोत्तर के सम्बन्धों को बदल देने से पूर्वोक्त के सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो जाता है। इसके आगे हमारा पुनः तर्क यह है कि किसी निश्चित आर्थिक सम्बन्ध-व्यवस्था में अन्तर्निहित सभी गुणों के विकास के लिए अनुकूल राजनीतिक और सामाजिक कलेवर की आवश्यकता रहती है। उदाहरणार्थ, कानून ऐसे सम्पत्ति-सम्बन्ध स्थिर करेगा जो उपर्युक्त आर्थिक-सम्बन्ध-व्यवस्था की उपलक्षणाओं के अनुरूप हों। शिक्षा-व्यवस्था इस प्रकार स्थिर होगी कि वह मनुष्यों को उस पद्धति के अन्तर्गत समाज में अपने लिए निश्चित स्थान के कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रशिक्षित करे। सामन्त-युग का कानून ऐसे समाज के लक्षणों को अभिव्यक्त करेगा जिसमें मनुष्यों के आर्थिक सम्बन्ध मुख्यतः भूमि-स्वामित्व के साथ उनके सम्बन्ध द्वारा निश्चित होते हैं। ऐसे समाज में शिक्षा-प्रणालियों का समाधान उन आवश्यकताओं के साथ किया जाता है जो उन सम्बन्धों में अन्तर्भूत होती हैं; जिनका संधारण वह समाज चाहता है; क्योंकि स्पष्ट है कि यदि वह समाज इस समाधान को स्थापित करने में असमर्थ हो तो उसकी उत्पादन-शक्ति और प्रभावी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की उसकी क्षमता को ऐसी क्षति पहुँचेगी जिससे उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा।

किसी भी समाज को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए उत्पादन के कुछ स्थायी सम्बन्धों को सुरक्षित रखना पड़ता है; और उन्हें कानून का सहारा देना पड़ता है। यानी उन सम्बन्धों को बनाए रखने के लिए समाज को एक बल-प्रवर्तक यंत्र की आवश्यकता होती है, कारण यह कि बिना उसके वह समाज अपना जीविकोपार्जन नहीं कर सकता। वस्तुतः वे सम्बन्ध अधिकांशतः उन लोगों की इच्छाओं से स्वतन्त्र होते हैं जो उनसे सम्बद्ध हैं। ज्ञात समाजों के अन्तर्गत सम्बन्धों में परिवर्तन कम ही होते हैं; ये परिवर्तन व्यक्तिगत होते हैं, व्यापक नहीं। सामाजिक गतिशीलता से यह तथ्य निश्चयात्मक रूप से स्पष्ट हो गया है कि समूहों के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी दास दास ही रहते हैं, नियोजक नियोजक ही रहते हैं और भृत्ति-भोगी भृत्ति-भोगी ही रहते हैं।^१ किसी समाज

में किसी निश्चित समय पर आमूल परिवर्तन उसके जीवन का विघटन हुए बिना नहीं हो सकता। चूँकि ऐसा विघटन वर्तमान व्यवस्था की नींव को ही खतरे में डाल देता है इसलिए समाज को एक ऐसे यंत्र की जरूरत होती है जिससे यथावश्यक शक्ति-प्रयोग द्वारा उस खतरे को रोका जाय जो ऐसे विघटन में निहित होता है; ऐतिहासिक दृष्टि से यह यंत्र राज्य ही रहा है। इसका मुख्य काम समाज में शान्तिपूर्वक उत्पादन-प्रक्रिया को सुस्थिर रखना है। इस उद्देश्य से वह उन उत्पादन सम्बन्धों का संरक्षण करता है जो उस प्रक्रिया के लिए आवश्यक होते हैं। इसका काम शक्तिपूर्वक उन विधगित सम्बन्धों को विक्रमित करना है जिनके द्वारा वह समाज अपनी जीविकोपार्जन की परिपाटी के अनुरूप जीवन व्यतीत करना है।

पर जैसा हम देख चुके हैं राज्य को व्यक्तियों के माध्यम से कार्य करना पड़ता है—इन व्यक्तियों को सामूहिक रूप से हम सरकार या शासन-तंत्र कहते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि समाज में विधगित सम्बन्धों का नियन्त्रण उन लोगों के हाथ में रहना है जिन्हें शासन-तंत्र होने के नाते संप्रभुता के प्रयोग का औपचारिक अधिकार प्राप्त होता है। संप्रभुता का प्रयोग किस प्रकार होगा, यह तय करने के मानी हैं कि उत्पादन प्रक्रिया के फल का वितरण किस प्रकार होगा और संप्रभुता का प्रयोग करने के अधिकार के बिना यह तय हो नहीं सकता। अतः जो लोग समाज की वितरण प्रक्रिया में आमूल परिवर्तन करने की चेष्टा करते हैं, या, अन्य शब्दों में, जो उन उत्पादन-सम्बन्धों को बदलना चाहते हैं जिनके अन्दर वे जीवन-यापन कर रहे हैं उन्हें ऐसा करने के लिए समाज के कानूनी आधारों को बदलना होगा। इस कार्य में वे, शान्तिपूर्वक अथवा हिंसापूर्वक, राज्य-सत्ता को अपने अधिकार में कर लेने में ही सफल हो सकते हैं, क्योंकि राज्य-सत्ता ही वह एकमात्र यंत्र है जिसके द्वारा आवश्यक कानूनी-सम्बन्ध बदले जा सकते हैं।

इसमें कुछ ऐसे निष्कर्ष निकलते हैं जो मेरे विचार में राजनीतिक सिद्धान्त के लिए परम महत्व रखते हैं। समाज में संप्रभुता जिस व्यक्ति-समूह के अधिकार में होती है। वह उसके संचालन में इस भावना से प्रेरित होता है कि आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि हो सके। किन्तु उसकी यह भावना अवश्य ही उत्पादन-प्रक्रिया के साथ उसके विशेष सम्बन्ध से रंजित होती है। दास-प्रथा वाले समाज में स्वामी-वर्ग का यह विचार होगा कि दास-प्रथा समूचे समाज के लिए हितकर है और वह राज्य-सत्ता का प्रयोग उन सम्बन्धों के प्रवर्तन के हेतु करेगा जो दास-प्रथा के अन्तर्गत आवश्यक होते हैं। परन्तु स्पष्ट है कि

सामाजिक हित की जो अवधारणा स्वामि-वर्ग की है वह दामों की अवधारणा के साथ मेल नहीं खायेगी। जन-हित की धारणा लोगों के अपने अनुभव से बनती है, इसलिए राज्य में स्वार्थ विभिन्न होने से, विभिन्न अनुभूतियों के परिणामस्वरूप, राज्य-सत्ता का उपयोग कैसे हो, इस विषय में विभिन्न अवधारणाएँ बन जाती हैं। इन अवधारणाओं में जीवन के लिए पारस्परिक संघर्ष होगा, और इस प्रसंग में जीवन के मानी हैं यह निश्चित करने का अधिकार कि राज्य का संचालन किन प्रयोजनों के निमित्त हो। ऐसे किसी भी समाज के मूल में द्वंद्व अन्तर्निहित होता है जिसमें ऐसे वर्ग हों, जिनके उत्पादन-प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध मूल रूप में भिन्न हों।

यह संघर्ष दो प्रकार का होता है। अंशतः यह वर्गों का पारस्परिक संघर्ष होता है; अंशतः यह संघर्ष विभिन्न वर्गों के जन-हित सम्बन्धी उन विचारों में होता है जिनकी उत्पत्ति उन वर्गों की अपनी-अपनी स्थिति द्वारा प्राप्त अनुभूतियों से होती है। संक्षेपतः, प्रत्येक वर्ग के अपने जीवन-मूल्य होते हैं जो उनके सामाजिक सम्बन्धों का परिणाम होते हैं। ये जीवन-मूल्य सदा शाश्वत होने का दावा करेंगे और स्वयं को वर्ग से बाहरवालों लोगों के लिए भी न्याय्य बनाएँगे; ठीक उसी तरह जैसे संयुक्त राज्य के दक्षिणी दाम-पतियों का दावा था कि दामता दामों के लिए भी लाभकर है। किन्तु वास्तव में मूल्य मदा उस अनुभव की परिधि तक ही सीमित होते हैं जिसमें उनका जन्म होता है। और जो मूल्य व्यवहार में कार्यान्वित होते हैं वे सदा उस वर्ग के होते हैं जिसके अधिकार में किसी निश्चित समय में राज्य का शासन-यंत्र होता है। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त दृष्टिकोण यह मानकर नहीं चलता कि प्रभुत्वशाली वर्ग चैतन्य रूप में या जान-बूझकर अपने निजी स्वार्थ का तादात्म्य समस्त समाज के कल्याण से करता है। न इस दृष्टिकोण का तर्क यह है कि राज्य को क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अपनी अवधारणा को सार्वभौमिकता का रूप देने की चेष्टा करने में अधिकार-सम्पन्न वर्ग ईमानदारी से काम नहीं लेता। समाज की विचार-प्रक्रियाएँ इस सरल सिद्धान्त द्वारा इंगित प्रेरणा से कहीं अधिक जटिल और सूक्ष्म होती हैं। मनुष्य पर उसके परिपार्श्व का रंग चढ़ना स्वाभाविक ही है। वह उसी अनुभव को जानता है। जो मूल्य इस अनुभव से उत्पन्न होते हैं वे मनुष्य तक ऐसे भावों, आशाओं और भयों से रंजित होकर पहुँचते हैं जो अज्ञात ही उसे यह सोचने पर प्रेरित करते हैं कि वे मूल्य समाज-कल्याण के लिए आवश्यक हैं। जिस बालक का प्रशिक्षण कैथोलिक परम्पराओं में होता है

वह रोमन चर्च के मूल्यों को अन्तिम व्यवस्था का अंग मान लेता है; और इसी प्रकार मक्का का मुसलमान कुरान के मूल्यों को मानता है; और इसी प्रकार सोवियत रूस का शिशु साम्यवादी दृष्टिकोण को सामाजिक सम्बन्धों के वास्तविक रूप में निहित मानता है। जिन लोगों का नियन्त्रण परिपार्श्व पर होता है वे उसके अन्तर्गत जीवन के सैद्धान्तिक लक्षण को इस मात्रा में और इस प्रकार निर्धारित करते हैं कि उसकी छाप स्वयं उन पर ही नहीं, वरन् उन पर भी पड़ती है जिन पर वे शासन करते हैं। समाज में विरलतम व्यक्ति वह है जो इन परिचित अनुभूतियों से ऊपर उठ सकता है।

उनसे ऊपर उठा अवश्य जाता है और इसके कारणों में उस सिद्धान्त का सारतत्व है जिसे मैं निरूपित कर रहा हूँ। हम देखते हैं दास-प्रथा एक युग में स्वाभाविक समझी जाती है और दूसरे में असमर्थनीय। स्त्रियों के लिए समानता का प्लेटो द्वारा समर्थन प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी को तो एक महान् दार्शनिक की सनक से अधिक कुछ नहीं लगा; आज हमें यह सामान्य बुद्धि की बात प्रतीत होती है। विलियम विटम के लिए कॉमन सभा को राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली में निहित खतरे के विरुद्ध सावधान करना सम्भव था^१; आधी शताब्दी बाद राबर्ट लो ने अपने स्वामियों को शिक्षा देने की चेतावनी दी थी।^२ सत्रहवीं शताब्दी में उत्पादन-प्रक्रिया के प्रत्येक पार्श्व में राज्य का हस्तक्षेप मुट्ठी भर विचारकों को छोड़ सभी को सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त की आर्थिक विचारधारा का प्रमुख स्वर यह आग्रह था कि न्यूनतम शासन करनेवाली सरकार ही सर्वोत्तम है। मध्यकालीन विचारक के लिए 'समुचित मूल्य' एक अर्ध-धार्मिक अवधारणा थी जो नैसर्गिक कानून के कुछ उपधारणों के तर्क-संगत विश्लेषण से निःसृत होती थी; आधुनिक अर्थ-शास्त्री की दृष्टि में 'समुचित मूल्य' तो धार्मिक पूर्वधारणाओं से सर्वथा मुक्त मंडी में लौकिक माँग और पूर्ति का फल है। अठारहवीं शताब्दी के समस्त राजनीतिक साहित्य में एक दर्जन भी ऐसी पुस्तिकाएँ नहीं होंगी जिनमें शासन-परिधि के अन्तर्गत लॉर्ड सभा के उस समय के अधिकारों पर संशय किया गया हो; और बीसवीं शताब्दी में एक भी ऐसी नहीं जिसमें लॉर्ड सभा के उन्मूलन अथवा उसके विधान में मूलभूत परिवर्तनों की माँग न की गई हो। पचास वर्ष

१. एप्रिल २४, १८०७, Speeches, जिल्द ३, पृष्ठ १७।

२. लो के श्रमिक वर्ग सम्बन्धी विचार के लिए देखिए कॉमन सभा में उनका १३ मार्च १८६६ को दिया गया भाषण।

पूर्व स्यात् ही कोई अँगरेज—विशेषकर, यदि वह राजनीति में स्थान पाने की महत्वाकांक्षा रखता हो—ऐसा होगा जो धार्मिक मामलों में अविश्वास प्रकट करे। आज इस प्रकार की विचार-अभिव्यक्ति का प्रभाव कुछ कैथीड़ील नगरों को छोड़कर शायद ही कहीं हो। इस प्रकार के विकास-क्रम की व्याख्या कैसे हो ?

जिस अधि-निबन्ध (thesis) के पक्ष में मैं यहाँ तक दे रहा हूँ वह यह है कि उपर्युक्त विकास-क्रम सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के फलस्वरूप होते हैं और ये परिवर्तन होते हैं उत्पादन की भौतिक शक्तियों में परिवर्तनों के कारण। लोग दास प्रथा को स्वाभाविक समझना इसलिए छोड़ देते हैं कि उसके द्वारा उत्पादन-शक्तियों से पर्याप्त लाभ उठाना कठिन हो जाता है। स्त्रियों के अधिकार, एक दार्शनिक की सनक से, समाज द्वारा स्वीकृत वैध दावों में तब परिणत हो जाते हैं जब उत्पादन-प्रक्रिया के सम्बन्ध इसे आवश्यक कर देते हैं। जब उद्योगों में ऐसे काम करने वालों की आवश्यकता पड़ती है जो पढ़-लिख सकते हों तब शिक्षा एक-मात्र निजी मामले के स्थान पर राज्य-कार्य बन जाती है। उद्योग-क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की मात्रा इस पर निर्भर करती है कि यह हस्तक्षेप भौतिक साधनों की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने के लिए—जिस पर समाज आधारित है—कहाँ तक सहायक समझा जाता है। लार्ड सभा के प्रति हमारी धारणा हमारे इस विचार से शासित होती है कि वांछनीय विधि-निर्माण से इस सदन का क्या सम्बन्ध है; और वांछनीय विधि-निर्माण के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण मुख्यतः सामाजिक सम्बन्ध-क्रम में हमारे स्थान की उपज होता है। परन्तु स्वयं सामाजिक सम्बन्ध-क्रम भौतिक शक्तियों से अधिकतम लाभ उठाने का एक मार्ग है।

इस बात पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि तीव्र परिवर्तन के युग वही होते हैं जिनमें उत्पादन के ढंग भी गीघ्रता से परिवर्तित होते हैं और अपेक्षाकृत स्थिरता के युग वह होते हैं जिनमें लोग बिना किसी विप्रेष अन्तर के उत्पादन के अभ्यस्त तरीकों का अवलम्बन करते हैं। इस विचार के अनुसार हम यह प्रत्याशा कर सकते हैं कि पुनर्जागरण जैसे भौगोलिक अनुसंधानों के युग अथवा उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी जैसे महान् वैज्ञानिक परिवर्तन के युग महान् सामाजिक और बौद्धिक सर्जना के युग हों। वे राज्य में अस्थिरता को जन्म देते हैं क्योंकि उत्पादन-पद्धति में होने वाले परिवर्तन अनिवार्यतः उस सम्पूर्ण अधि-आकार में प्रतिबिम्बित होते हैं जो उस पद्धति द्वारा जन्य आवश्यक सम्बन्धों पर प्रतिष्ठित होता है।

पर हम इससे आगे भी कह सकते हैं। अस्थिरता के युग वे भी होते हैं जिनमें परिवर्तित उत्पादन रीतियों के कारण वर्तमान सम्पत्ति-सम्बन्ध अपर्याप्त हो जाते हैं, यानी राज्य द्वारा संधारित वैध सिद्धान्त समाज को उत्पादन के तरीकों से पूरा लाभ उठाने नहीं देते। समाज के किसी एक वर्ग की यह धारणा बन जाती है कि जिन सम्बन्धों को वह एक समय स्वाभाविक मानता था वे अब उसकी माँग की पूर्ण संतुष्टि में बाधक हो रहे हैं। अतः वह उन सम्बन्धों को बदलने की चेष्टा करता है। परन्तु जिस वर्ग के अधिकार में राज्य-सत्ता है वह यदि किसी कारण से उन सम्बन्धों में वांछित परिवर्तन के लिए तैयार न हो तो परिवर्तन चाहने वाले वर्ग के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह समाज की बल-प्रवर्त्तक-शक्ति द्वारा, सामाजिक सम्बन्धों के पुनः निर्धारण के निमित्त, राज्य को हस्तगत करने का प्रयत्न करे। अर्थात् किसी वर्ग को सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तन में अपना हित दिखाई देता हो तो वर्तमान व्यवस्था के उस परिवर्तन के लिए तैयार न होने की दशा में वह वर्ग क्रान्तिकारी बन जायगा, ताकि यथासम्भव वह वांछित परिवर्तनों को आरोपित कर सके।

संक्षेप में इतिहास उन वर्गों के संघर्ष का प्रलेख है जिनका उद्देश्य ऐसे दावों की प्रतिरक्षा करना है जिन पर उत्पादन-प्रक्रिया के विकास के अन्तर्भावों के कारण वे अपना अधिकार समझते हैं। यदि ऐसे समय, जब इन दावों की स्वीकृति उत्पादन-शक्तियों की संभावनाओं की अधिकतम प्राप्ति के लिए आवश्यक है, उनकी उपेक्षा की जाय तो क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात होता है। वास्तव में ये दावे इस रूप में प्रस्तुत नहीं किए जाते। लोग इन्हें ऐसे रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं कि वे सार्वभौम जैचें; और उनकी उपेक्षा भी इसी आधार पर की जाती है। इंग्लैंड की क्रान्ति ने अपने को वैधानिक सिद्धान्त और प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रतिरक्षक घोषित किया। यह क्रान्ति इन चीजों की रक्षा तो कर ही रही थी पर इनके पीछे मूलभूत तथ्य यह था कि एक अर्ध-सामन्तवादी राज्य की, जो स्टुअर्ट-राज्य की तरह नरेशों के दैवी अधिकार के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित था, व्यवसायी वर्ग द्वारा की गई प्रभुसत्ता में भाग की माँग के साथ कोई संगति नहीं रही थी। यह बात १७८९ की फ्रांसीसी क्रान्ति के विषय में भी सत्य है। यद्यपि यह क्रान्ति सत्य के सार्वभौम सिद्धान्त के नाम पर हुई, इसका वास्तविक फल यह हुआ कि सम्पत्ति-स्वामियों को, भूमिपतियों के हितार्थ संचालित होने वाले राज्य की अधीनता से मुक्ति मिल गई। यह कहने की आवश्यकता भी नहीं है कि

क्रान्तिकारी वर्ग अपने उद्देश्यों की घोषणा में पाखंड से काम लेता है। निश्चय ही ग्राज भी कर्नल रेंसबरो के सिद्धान्तों के प्रति क्रामवेल और ग्रायटन के विरोध में उसी सच्ची उग्र भावना का परिचय मिलता है जिसने उन्हें चाल्सं प्रथम के विरुद्ध मैदान में उतरने के लिए प्रेरित किया था।^१ किसी विचार-धारा का महत्व इसमें नहीं होता कि वह अपने को क्या घोषित करती है, बल्कि इसमें कि सामाजिक सम्बन्धों में वह क्या परिवर्तन करने का सुझाव रखती है।

ये वर्ग जो आपस में राज्य-सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं, मूलतः समाज-विशेष में स्थिति-सम्बन्धों और उत्पादन प्रणाली की संभावनाओं में अन्तर्विरोध को प्रकट करते हैं। यानी, आधारभूत संघर्ष सदा आर्थिक वर्गों में राज्य-सत्ता पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए होते हैं। आर्थिक वर्ग की परिभाषा ऐसे वर्ग के रूप में की जा सकती है, उत्पादन-प्रक्रिया में जिसका स्थान, अन्य वर्गों से स्पष्टतया भिन्न होता है। यह स्थान उन आर्थिक सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है जिनका संधारण राज्य करता है। समाज के प्रभुत्व-शाली वर्ग की सेवा में राज्य अपनी बल-प्रवर्त्तक शक्ति अर्पित कर देता है। इस शक्ति पर अधिकार किए बिना कोई वर्ग समाज में अपनी स्थिति को मूल रूप से बदल नहीं सकता। अतः जो वर्ग ऐसी मूलभूत तब्दीली चाहता है, उसके लिए राज्य को हस्तगत करना अनिवार्य है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार के राजीतिक संघर्षों में राज्य कभी तटस्थ नहीं रह सकता; प्रतिद्वन्द्वी वर्गों से ऊपर रहकर यह उनके बीच निष्पक्षता से निर्णय नहीं करता। स्वभाव से ही वह एक ऐसी बल-प्रवर्त्तक शक्ति है जो आर्थिक सम्बन्धों की एक प्रक्रिया के अधिकार-कर्त्तव्य-पद्धति को किसी अन्य वर्ग के, जो उसे किसी अन्य प्रक्रिया के हितार्थ बदलने की चेष्टा करता है, आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए प्रयुक्त होती है; क्योंकि, विश्लेषण करने पर, राज्य एक ऐसा जन-समूह प्रतीत होता है, जो कुछ उद्देश्यों की सिद्धि के लिए, जिन्हें वह कल्याणकारी समझता है, आदेश देता है। कल्याण सम्बन्धी उसकी अवधारणा, उस प्रक्रिया में, उसके स्थान का फल, होती है जिसे चुनौती दी गई है। इस प्रक्रिया को बदलने के लिए उसे अपने स्थान से हटना होता है और यद्यपि ऐसा त्याग सम्भव है, पर है यह इतिहास की विरलतम घटनाओं में से।

१. इन वाद-विवादों के लिए देखिए क्लार्क पेपर्स (पंचम संस्करण) चार जिल्दे, 1891-1901, विशेषकर १, पृष्ठ २२७-३५।

में इस अध्याय में आगे चलकर इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्भावों का विवेचन करूँगा, जिसके आधार की व्याख्या यहाँ करने की मैंने चेष्टा की है । इस समय यह बताना जरूरी है कि मेरे तर्क से क्या अर्थ नहीं निकलता । मेरा यह तर्क नहीं है कि प्रौद्योगिक विकास सामाजिक परिवर्तन का सूत्राधार है । प्रौद्योगिक विकास का महत्व तो निश्चय ही है, पर वह सामाजिक आवश्यकताओं की उपज होता है न कि उनका निर्धारक । उदाहरणार्थ हमारी जैसी प्रणाली में किन आविष्कारों को प्रयोग के लिए चुना जाय यह मुख्यतः इस पर निर्भर करता है कि उनमें, प्रयुक्त होने पर, लाभ दिखाने की कितनी क्षमता है, क्योंकि यह हमारे समाज के स्वभाव-गत आर्थिक सम्बन्धों में आवश्यक प्रेरक तत्व है । यदि केवल प्रौद्योगिक विकास की महत्ता होती, तो मिल को मानव की सामाजिक दशा सुधारने में यंत्रों की विफलता पर अपना विख्यात शोकोद्गार न अंकित करना पड़ता ।^१ मेरा तर्क यह भी नहीं है कि राज्य हमेशा प्रभुत्वशाली वर्ग के निजी स्वार्थ की अधीनता में रहता है । या यह कि निजी लाभ के लिए उनकी स्वार्थपूर्ण आकांक्षा ही राज्य की नीति का सूत्राधार होती है । मैं पूर्णतः मानता हूँ कि किसी निश्चित समय में राज-नीतिज्ञ, अपने आलोचक के समान ही, अपने इस विश्वास में ईमानदार होते हैं कि वे राज्य-यंत्र का प्रयोग, अपने ज्ञानानुसार सर्वोच्च लक्ष्यों की प्राप्ति के निमित्त कर रहे हैं । मेरा तर्क तो इसमें सर्वथा भिन्न है और वह यह कि उनका ज्ञान उन आर्थिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है जिनके संधारण के लिए राज्य का अस्तित्व है, और ये सम्बन्ध अपने प्रत्येक ऐतिहासिक पार्श्व में उद्देश्यों की एक विशिष्ट शृंखला का निर्माण करते हैं जिनकी महत्ता उत्पादन की सम्भावनाओं को अधिकतम बनाने की उनकी शक्ति में है; और इन आदर्शों का विकास और विघटन इस विचार के अनुसार होता है कि जिन सम्बन्धों को वे व्यक्त करते हैं वे अपने ध्येय को कहाँ तक प्राप्त करते हैं ।

इतिहास अर्थशून्य हो जाता है, यदि उसे संस्पर्धक स्वार्थी हितों का संघर्ष मात्र समझा जाय; ऐसा समझना तो मानव-प्रकृति का अपमान करना है । वास्तव में इतिहास अतिजीवन के लिए उद्देश्यों के बीच प्रतिस्पर्धा है और इस प्रतियोगिता का रूप उत्पादन संभावनाओं का अधिकतम उपयोग करने की उनकी शक्ति द्वारा निश्चित होता है । ये उद्देश्य होड़ इसलिए करते हैं कि उत्पादन की संभावनाओं के साथ वर्गों के सम्बन्ध अधिकार-सम्बन्धी दावों की सृष्टि

१. Political Economy (1848) IV, 6, 2. यह ठीक है कि मिल यहाँ अति जन-संख्या के विरुद्ध चेतावनी दे रहा था ।

करते हैं जो संतुष्टि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये दावे वर्ग-सम्बन्ध में ही अन्तर्भूत होते हैं और जब भी यह अनुभव किया जाता है कि दावे और संतुष्टि का अनुपात शिथिल पड़ रहा है तो स्वभावतः मनुष्य उस अनुपात के संयोजन की चेष्टा करते हैं। और मेरा तर्क रहा है कि वे राज्य को हस्तगत करके ही ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि वर्ग-सम्बन्धों का संयोजन राज्य की विशिष्ट बल-प्रवर्तक शक्ति द्वारा ही सम्भव है। अतः किसी भी समाज में नये वर्ग-सम्बन्धों का अर्थ होता है नये आदर्शों की विजय। फ्रांस में उन्नीसवीं शताब्दी की विशिष्ट विचारधारा अठारहवीं शताब्दी की विचारधारा से भिन्न थी क्योंकि इस बीच फ्रांस की क्रान्ति ने उस समाज के वर्ग-सम्बन्धों में परिवर्तन कर दिया था और यह परिवर्तन इसीलिए सम्भव हुआ था कि जो राज्य-सत्ता पहिले कुलीन वर्ग के हाथ में थी उसे मध्यम वर्ग ने अपने अधिकार में कर लिया था।

मेरे तर्क का यह तात्पर्य भी बिल्कुल नहीं है कि समस्त ऐतिहासिक परिवर्तन अनिवार्यतः आर्थिक तत्त्व द्वारा ही निर्धारित होते हैं। आर्थिक तत्त्व के महत्व की चर्चा मैंने की है पर मेरे कहने का मतलब इतना ही है कि ऐतिहासिक परिवर्तन के कारणों में आर्थिक तत्त्व सर्वाधिक प्रभावशाली होता है। मैं मानता हूँ कि परिवर्तन में व्यक्तित्व, परम्परा और तर्क का प्रभाव रहता है। इंग्लैंड में अधिनायकवाद का विरोध रूस की अपेक्षा इसलिए अधिक व्यवहार्य है कि अंग्रेज स्वतंत्रता के अभ्यस्त हैं और रूस के लोग नहीं। यदि लूथर, नैपोलियन या लेनिन का जन्म न होता तो निश्चय ही आज हमारा जीवन भिन्न होता; और कम से कम यह तो सम्भवप्राय ही है कि लेनिन के बिना नवम्बर १९१७ की रूसी क्रान्ति का स्वरूप भिन्न होता। कानून के प्रवर्तन में पेशेवर न्यायज्ञ औपचारिक संगति की ओर प्रयत्नशील रहते हैं जिसके फलस्वरूप कानून एक मात्र आर्थिक तत्त्व पर निर्भर रहने से मुक्त हो जाता है। यह भी इतना ही सत्य है कि जहाँ व्यक्तित्व, परम्परा और तर्क का स्वरूप मुख्यतः आर्थिक तत्त्व द्वारा निर्धारित होता है वहाँ वे भी आर्थिक तत्त्व का रूप निर्धारित करते हैं। सामाजिक परिवर्तन के विधायक तत्वों की इस पारस्परिकता से कोई गम्भीर पर्यवेक्षक इन्कार नहीं कर सकता।

पर यह मान लेना कि ऐतिहासिक परिवर्तन के कई कारण होते हैं और आर्थिक तत्त्व की प्राथमिकता से इन्कार करना—यह दोनों बातें एक-सी नहीं हैं। मेरा प्रयोजन यह आग्रह करने से है कि अन्य कोई तत्व कितना कार्य करेगा यह उस पर्यावरण पर निर्भर करता है जिसका स्वरूप उसके अन्तर्गत आर्थिक

सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है। जो रूप आर्थिक सम्बन्ध समाज को देते हैं वह सांस्कृतिक जीवन के सभी पाश्वर्कों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रविष्ट हो जाता है, और उनका रूप स्थिर करता है। परम्पराएँ आर्थिक सम्बन्धों की आवश्यकताओं के अनुकूल ही रूप धारण करती हैं। महान् व्यक्तियों की आत्मानुभूति उन अवसरों की परिधि में ही होगी जो इन सम्बन्धों द्वारा उत्पन्न होते हैं। विधि-व्यवस्था की नींव भी आर्थिक सम्बन्धों की आवश्यकताओं द्वारा रखी जाती है और ऐसा हो जाने पर ही न्यायज्ञों द्वारा औपचारिक संगति की खोज शुरू होगी। कोई भी देख सकता है कि रूस के नवीन आर्थिक सम्बन्धों की आवश्यकताओं ने स्वप्नदर्शी, रहस्यवादी, निराशावादी स्लाव की उस परम्परा को तोड़ दिया है जिसे हम गत शताब्दी के रूसी इतिहास का प्रतीक मानते थे। इसी प्रकार रूस की कला, उसका साहित्य और उसका दर्शन अपने को धीरे-धीरे इन नये आर्थिक सम्बन्धों के अनुरूप बना रहे हैं। हम यह मान भी लें कि लेनिन ने संसार के इतिहास में गहरा परिवर्तन किया तो भी यह ठीक ही है कि उसे ऐसा करने का अवसर उन वर्ग सम्बन्धों के विघटन से ही मिला जिन पर ज़ार का रूस आधारित था। कॉमन-लॉ न्यायालयों ने विधि-व्याख्या के जो प्रनियम स्थिर किए हैं वे कॉमन-लॉ के इस आधारभूत सिद्धान्त के अनिवार्य निष्कर्ष हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा कानून की मुख्य कल्पना है, पर यदि ग्रेट ब्रिटेन या संयुक्त राज्य समाजवादी समाधिाराज्य बन जायें तो औपचारिक संगति के लिए—जो कानून का आवश्यक आदर्श है—न्यायालयों को सर्वदा भिन्न प्रनियमों की जरूरत होगी; क्योंकि जिन उपधारणों को लेकर हम चलते हैं उन्हीं के द्वारा आत्म-संगति की प्रकृति निर्धारित होती है, और यह उपधारण उन आर्थिक सम्बन्धों द्वारा स्थिर होते हैं जिनके उद्देश्यों की रक्षा के लिए उनका अस्तित्व होता है।

(४)

हम जिस गम्भीर निष्कर्ष पर पहुँच गए हैं, वह यह है कि जिस समाज में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है उसमें मुख्य महत्व का तथ्य उस वर्ग के बीच जो इन साधनों का स्वामी है तथा उस वर्ग के बीच जो इस स्वामित्व के लाभों से वंचित है, राज्य-शक्ति को प्राप्त करने के लिए होने वाला संघर्ष है। निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य सदैव ही पूर्वोक्त वर्ग का स्वार्थ-साधन करता है। वे व्यक्ति जिनके हित में राज्य का प्राधिकार प्रयुक्त होता है, अपने लाभों को उस समय तक नहीं त्यागेंगे जबतक कि उन्हें ऐसा करने के लिए विवश न कर दिया जाये। मैं यह बात पुनः जोर देकर कहता हूँ कि वे

इस स्थिति को केवल स्वार्थपूर्ण आधारों पर ही ग्रहण नहीं करते । वे इस रीति से आचरण इसलिए करते हैं क्योंकि समाज के वर्ग-संगठन में उनकी स्थिति उन्हें अपने अधिकारों को (जिन्हें वे विशिष्ट अधिकार कठिनता से ही मानते हैं) सम्पूर्ण समाज के कल्याण के साथ समीकृत करने की प्रेरणा देती है ।

प्रस्तुत दृष्टिकोण बहुत से उदार मस्तिष्कों को निसर्गतः विक्षुब्ध कर देता है । इस दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रान्ति अपरिहार्य है । यह सिद्धान्त इस बात को मानता है कि मानव-विकास में कुछ चरण ऐसे आते हैं जबकि मनुष्य अपने मतभेदों को विवेक के द्वारा नहीं सुलभाते और भाग्य के अंतिम निर्णायक के रूप में शक्ति का सहारा लेते हैं । वे गृह-युद्ध की भयंकरताओं को, प्लूटिन क्रान्ति की शोचनीय घटनाओं को, फ्रेंच क्रान्ति और रूसी क्रान्ति के समय वहाँ की जनता के कष्टों को और हिंसा द्वारा उत्तेजित घृणा, शत्रुता एवं निर्दयता को याद करते हैं । उन्हें उन सुधारों का ध्यान हो आता है जो विशेष रूप से औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् मनुष्य के भौतिक जीवन में हुए हैं । वे समाज के अधिक भाग्यशाली व्यक्तियों द्वारा किए गए उन भगीरथ प्रयासों का चिन्तन करते हैं जो उन्होंने दान द्वारा निर्धनों के कष्ट दूर करने के लिए किए हैं । वे अनावश्यक कष्ट देने के सम्बन्ध में जो हमारे युग की एक प्रमुख विशेषता है, बढ़ती हुई सम्बेदनशीलता के बारे में सोचते हैं । वे गहरी सामाजिक चेतना की वृद्धि की ओर जो राज्य के कृत्यों के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण में प्रकट होती है, उन ऊँचे करों की ओर जो अमीर अपने ऊपर लगाने के लिए तैयार हैं तथा युग के विपुल अवसरों की ओर इशारा करते हैं । यदि इन चीजों को शान्तिपूर्वक प्राप्त किया जा सकता है, तो फिर हम हिंसा का आश्रय क्यों लें ? हम यह क्यों नहीं कह सकते कि मनुष्यों ने हिंसा के खतरे को इतना अधिक समझ लिया है कि वे विवेक के निर्णय को अंतिम निर्णय मान लेंगे ।

मेरे विचार से इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है । वह यह है । ऐतिहासिक दृष्टि से जितने भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन शान्तिपूर्वक हुए हैं, वे सदैव ही एक विकासशील आर्थिक व्यवस्था द्वारा सम्भव हो सके हैं । जहाँ विस्तार होता है, वहाँ सुरक्षा होती है और जहाँ सुरक्षा होती है, वहाँ लोगों को इस बात का समय और अवसर रहता है कि वे विवेक के अनुसार कार्य कर सकें । कारण यह है कि जहाँ विस्तार होता है, विशेषाधिकार-सम्पन्न व्यक्तियों की परम्परागत प्रत्याशाओं को उस समय कोई चोट नहीं पहुँचती जबकि वे जनता की माँगों को स्वीकार कर लेते हैं । ऐसे समाज में जिसमें नए भौतिक लाभ निरन्तर प्राप्त

होते रहें, समझीता सदैव सम्भव है। इस समझीते को खतरा तभी पहुँचता है जबकि इन माँगों को समाज के वर्ग-सम्बन्धों में क्रांति लाए बिना पूरा न किया जा सके। परिवर्तित वर्ग-सम्बन्धों का अर्थ परिवर्तित विचारधाराएँ हैं। वे कल्याण की उन मान्यताओं की जो उन व्यक्तियों के लिए जिनमें उन्हें त्यागने के लिए कहा जाता है, सम्पूर्ण सार हैं, अस्वीकृति हैं। मनुष्य उन पदों को तो त्याग सकते हैं जिन्हें कि वे आधारभूत नहीं मानते। अब तक उन्होंने इतिहास में ऐसे किसी पद को शान्तिपूर्वक नहीं छोड़ा है जिसको उन्होंने अपने कल्याण के लिए आधारभूत माना हो।

यह बात तथ्यों के मामूली परीक्षण से समझी जा सकती है। आज कोई भी सम्य व्यक्ति दासता की आर्थिक संस्था का समर्थन नहीं करता। लेकिन अमेरिका के दक्षिणी राज्यों को इस बात का विश्वास दिलाने के लिए कि यह एक घृणित प्रथा है, एक युद्ध का आश्रय लेना पड़ा था। अब कोई भी सम्य व्यक्ति धार्मिक विश्वास के मामलों में अमहिषणुता का समर्थन नहीं करता, लेकिन धार्मिक युद्ध उस मूल्य के प्रतीक हैं जो हमें इसकी अनुभूति के लिए चुकाना पड़ा था। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल अपने विभिन्न सदस्यों के बीच पद की समता के सिद्धान्त पर आधारित है। लेकिन इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने के लिए तीन गृह-युद्ध हुए थे। सामाजिक न्याय के ऐसे बहुत थोड़े से सिद्धान्त होंगे जिनके लिए कि उनके प्रवर्तकों को लड़ना न पड़ा हो। ऐसे छोटे सिद्धान्तों तक के लिए जिनकी मृत्युता आज दिन के प्रकाश की भाँति स्पष्ट है, लोगों को भारी कीमत चुकानी पड़ी थी। मतदान का अधिकार, विधि के समक्ष समता, स्त्रियों का उत्थान, श्रम के घंटों की सीमा, कारखानों में अच्छी दशाओं की स्थापना, इन उद्देश्यों में मानव-जीवन के मूल्य पर सफलता प्राप्त हुई थी। आज भी हम औद्योगिक क्षेत्र में स्वतन्त्र समुदाय बनाने के अधिकार के लिए लड़ रहे हैं। नीग्रो जातियाँ कानूनी समता के अधिकार से वंचित हैं, हम उनके इस अधिकार की स्थापना के लिए संघर्ष कर रहे हैं। विवेक के धरातल पर हम युद्ध की निष्फलता को स्वीकार करते हैं, लेकिन लीग ऑफ नेशन्स के कॉन्फ्रेंस में और पेरिस पैक्ट में, उसे जिम डंग से अस्वीकार किया गया है, उसमें यह विश्वास गभित है कि यदि राष्ट्रों के सम्मान अथवा महत्वपूर्ण स्वार्थों पर आँच आती हो, तो वे युद्ध का आश्रय ले सकते हैं।

जब हम यह कहते हैं कि हमें विवेक में विश्वास करना चाहिए, तब हमारा वास्तविक अभिप्राय क्या होता है? वह किसका विवेक है, जिसमें हम मतभेदों के निर्णय के लिए विश्वास रखें? क्या वह सरकार का विवेक है? हम यह

जानते हैं कि सरकार का विवेक बहुधा पक्षपातपूर्ण और गलत भी होता है। क्या वह समाज के उन 'प्रधान और ज्येष्ठ भागों' का विवेक है जिन्हें मध्ययुगीन विचारक इतना समाहित करते थे ? लेकिन "प्रधान और ज्येष्ठ भागों" की परिभाषा क्या है ? क्या वह बहुमत की इच्छा मात्र है ? क्या हमें यह विचार मानना चाहिए जिसे कि मनुष्य अस्वीकार कर देते हैं कि अल्पमत को सदैव ही बिना शर्त आत्म-समर्पण करना चाहिए। यदि बहुमत ज्येष्ठ भाग नहीं है, तब फिर वह क्या है ? क्या वह विशेषज्ञों का निर्णय है ? शायद नहीं क्योंकि विशेषज्ञों के निर्णय न केवल अक्सर गलत ही होते हैं प्रत्युत सामाजिक रचना के प्रश्नों पर उनका कोई वश भी नहीं चलता। यदि हम मानवीय कर्मक्षेत्र में बल-प्रयोग का अधिकार हटा देते हैं, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि हम उस समय तक वर्तमान व्यवस्था को शिरोधार्य करते रहें जबतक कि उसके संचालक उसमें स्वतः कोई परिवर्तन करना न चाहें।

कहा जाता है कि व्यक्तियों के लोकतन्त्रात्मक राज्य और एकतन्त्रात्मक राज्य में विवेक के प्रति जो दायित्व होते हैं, उनमें अन्तर होता है। लोकतन्त्रात्मक राज्य में व्यक्ति बहुमत के द्वारा जब चाहें; शासन के सिद्धान्तों को और इसलिए उन उद्देश्यों को जिनकी राज्य-शक्ति पूर्ति करती है, बदल सकते हैं। लोकतन्त्रात्मक राज्य में परिवर्तन के प्रतिपादकों का कार्य व्यक्तियों के द्वारा अपने विचार का बहुमत प्राप्त करना है। उन्हें शक्ति के प्रयोग का अधिकार नहीं है क्योंकि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं है।

यह सब सही है लेकिन जो लोग अपने सम्पूर्ण दर्शन को इस तक पर आधारित करते हैं, वे लोग मेरे आशय को नहीं समझते। यह कहना कोई बड़ी खोज नहीं है कि युक्तिसंगत सहमति द्वारा प्रस्तुत किए गए समाधान हिसा द्वारा प्रस्तुत किए गए समाधानों से सदैव अच्छे होते हैं। यह कहना भी कोई बड़ी खोज नहीं है कि लोकतन्त्रात्मक समाज में मनुष्यों को वह सब शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए जिसे वे एक बड़ी बुराई समझते हैं क्योंकि उन्हें यदि वे अपने समर्थन के लिए बहुमत प्राप्त कर सकें तो अवांछित कानून को बदल देने का वैधानिक अधिकार प्राप्त है। जहाँ तक मुझे मालूम है उस किसी व्यक्ति को जो यहाँ प्रस्तुत किये गए अधि-निबंध का समर्थन करता है, कोई भी सन्देह नहीं है।

अन्तर्ग्रस्त प्रश्न को एक भिन्न आधार पर सुलझाना आवश्यक है। मेरी युक्ति बिल्कुल भिन्न है। मेरा कहना यह है कि पूँजीवादी समाज में लोकतन्त्रात्मक संस्थाएँ उसी समय तक ठीक मानी जाती हैं जबतक कि वे पूँजीवाद के निष्कर्षों को अर्थात् उन वर्ग सम्बन्धों को जो उत्पादन के साधनों के व्यक्ति-

गत स्वामित्व के फलस्वरूप बन जाते हैं, कोई चोट नहीं पहुँचाती। जब राजनीतिक लोकतंत्र यह स्वामित्व समाज को देना चाहता है, पूँजीवादी वर्ग यदि उससे हो सका तो लोकतंत्रात्मक संस्थाओं का दमन करेगा। इसलिए, मैंने यह निवेदन किया है कि इस अवस्था में वर्गों का भेद केवल शक्ति के द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। मैंने यह युक्ति प्रस्तुत की है कि राजनीतिक लोकतंत्र का संधारण ही राज्य का मूल उद्देश्य नहीं है। इटली, जर्मनी और आस्ट्रिया के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है। लोकतंत्र एक ऐसी शासन-प्रणाली है जो अपनी रक्षा उसी समय तक कर सकता है जबतक कि वह पूँजीवादी समाज के वर्ग-सम्बन्धों की आवश्यकताओं का विरोध नहीं करता। पूँजीवादी समाज उसी समय तक लोकतंत्रात्मक रह सकता है जबतक कि वह अधिकाधिक भौतिक लाभों के लिए मजदूरों की माँगों को पूरा कर सकता है। जब वह ऐसा करने में असमर्थ रहता है, उसके सामने दो ही विकल्प रह जाते हैं—या तो वह अपने वर्ग-सम्बन्धों का दमन करे या फिर लोकतंत्रात्मक संस्थाओं का। उसे इन दोनों में से एक का चुनाव करना होता है।

यह कहना कि व्यक्तियों को लोकतंत्रात्मक शासन के सिद्धान्तों को इसलिए स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि इनसे हिंसक समाधानों के स्थान पर युक्तिसंगत समाधान सम्भव हो जाते हैं, मेरे तर्क का कोई उत्तर नहीं है। यह ठीक है कि उन्हें ये सिद्धान्त स्वीकार कर लेने चाहिए लेकिन प्रश्न यह है कि क्या वे इन्हें स्वीकार कर लेंगे? यह प्रदर्शित करना कठिन नहीं है कि लोकतंत्रात्मक राज्य सामाजिक न्याय को अन्य किसी विकल्प की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से प्राप्त कर सकता है। लेकिन, हमारा यहाँ जिस राज्य से सम्बन्ध है, वह विशुद्ध लोकतंत्रात्मक राज्य नहीं, प्रत्युत पूँजीवादी लोकतंत्र का राज्य है। इस राज्य के राजनीतिक निष्कर्ष तो यह हैं कि प्रत्येक नागरिक समाज के भौतिक लाभों के लिए समान दावा रखता है लेकिन इस राज्य के आर्थिक निष्कर्ष उसकी पूँजीवादी बुनियादों के कारण मुनाफा कमाने की आवश्यकताओं के द्वारा भौतिक लाभों के प्रति समानता के दावे को अस्वीकार कर देते हैं। तब फिर समस्या यह नहीं रहती कि क्या राजनीतिक लोकतंत्र को त्याग देना ठीक होगा प्रत्युत यह हो जाती है कि क्या पूँजीवाद के संकोच के युग में लोकतंत्र की रक्षा की जा सकती है।

इसलिए, यहाँ प्रस्तुत किए गए दृष्टिकोण का वास्तविक उत्तर यह होगा कि लोकतंत्र की रक्षा सम्भव है। इस प्रकार के विचार का प्रमाण कुछ भद्दे तथ्यों को छिपा लेगा। उसे यह बताना पड़ेगा कि उन सच्चे और ईमानदार

व्यक्तियों का जिन्होंने इटली, जर्मनी और आस्ट्रिया में फासिज्म का स्वागत किया है, लोकतंत्र के औचित्य में विश्वास क्यों नहीं रहा है। उसे यह भी बताना होगा कि यह विश्वास पूंजीवाद के आर्थिक संकट के समय में ही क्यों नष्ट हुआ है ? उसे यह भी बताना पड़ेगा कि फासिस्ट राज्य आतंकवादी उपायों से किस प्रकार अपने को प्रतिष्ठित रखते हैं और उनका दमन-चक्र क्योंकर श्रमिक वर्ग की संस्थाओं के विरुद्ध ही चलता रहता है। उसे इसकी भी व्याख्या करनी पड़ेगी कि फासिज्म के आने के साथ-ही-साथ क्योंकर सामाजिक सेवाओं का पतन या स्थगन हो गया है, मजदूरों के प्रौद्योगिक मानदण्डों में कमी आ गई है, विरोधी तत्वों की आलोचना को दबा दिया गया है। जब तक इन प्रश्नों की व्याख्या सामने नहीं आती, यहाँ किए गए विश्लेषण के औचित्य पर सन्देह करना कठिन है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि लोकतंत्र पर आक्रमण केवल उन्हीं देशों में सफल हुआ है जहाँ उसकी संस्थाओं का अनुभव नया था। जिन देशों में लोकतंत्रात्मक संस्थाओं का अनुभव पुराना है—उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, बेल्जियम, स्केन्डिनेविया—वहाँ लोकतंत्रात्मक संस्थाओं पर आक्रमण असफल रहा है। यह सही है, लेकिन हमको सावधानी से इस बात की जाँच करनी चाहिए कि सचाई क्या है। यह ध्यान देने योग्य है कि इन सब देशों में लोकतंत्रात्मक संस्थाओं को गम्भीर क्लेश पहुँच रहा है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हाल के कुछ वर्षों में इन देशों में स्वतन्त्रता में कमी कर दी गई है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इनमें से किसी भी देश में ऐसी सरकार नहीं बनी है जिसने कि वर्ग-सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या के लिए लोकतंत्रात्मक संस्थाओं का प्रयोग किया हो। मेरी युक्ति के निष्कर्षों का यही वास्तविक अन्तर होगा। यदि इंग्लैण्ड, फ्रांस या अमेरिका में समाजवादी सरकार शान्तिपूर्ण रीति से सम्पत्ति-व्यवस्था का आधार गैर-सरकारी हाथों से सरकारी हाथों में सौंप दे, तो यह तर्क कि आधारभूत परिवर्तन लोकतंत्रात्मक उपायों से किए जा सकते हैं, बहुत मजबूत पड़ जायेगा।

उक्त साक्ष्य उपस्थित नहीं है और आजकल तो स्वयं लोकतंत्रात्मक देशों में ही ऐसे खतरे पैदा हो गए हैं, जो बड़े सन्देह पैदा कर देते हैं। फ्रेंच गणराज्य को फासिज्म का भारी खतरा है तथा वहाँ फरवरी १९३४ की घटनाओं ने वामपक्ष तथा दक्षिणपक्ष को और भी एक दूसरे से अलग कर दिया है। अमेरिका में श्रमिक वर्गों का ऐसा कोई संगठन नहीं है जो वर्तमान वर्ग-सम्बन्धों को कोई चोट पहुँचा सके। लेकिन रूजवेल्ट के प्रयोग में यह बात ध्यान देने

योग्य है कि राष्ट्रपति की जिन योजनाओं में मजदूरों को लाभ पहुँचता, उनका नियोजकों ने पालन नहीं किया है। यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रपति का प्रयोग पूँजीवाद के उत्थान के लिए था, पतन के लिए नहीं।^१ इंग्लैण्ड में एक अल्पमत वाली श्रमिक सरकार के लिए भी जिसने कोई भी समाजवादी विधान पास करने का प्रयास नहीं किया था, यह समझा गया था कि वह आर्थिक स्थिरता की बुनियादों के लिए एक खतरा है। इसके बाद ही एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हुआ जो पूँजीवादी व्यवस्था का समर्थन करनेवाले राजनीतिक दलों के पूर्ण विलयन के ऊपर आधारित थी। राष्ट्रीय सरकार ने इस मिद्धान्त के अनुसार आचरण करना प्रारम्भ किया कि देश के आर्थिक संकट के कारण श्रमिकों को अधिक सुविधाएँ देना बन्द करना उचित होगा। इस मिद्धान्त के समर्थन में यह कहा गया कि राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि में गरीबों को भी उतना ही त्याग करना चाहिए जितना कि अमीरों को।

यहीं इति नहीं हो जाती। इंग्लैण्ड में पूँजीवादी लोकतंत्र इसलिए कायम है क्योंकि उसके मूलाधार का अभी तक परीक्षण नहीं हुआ है। हमारे ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि १९३१ के बाद की घटनाओं ने श्रमिक दल को अधिकाधिक पूर्ण समाजवाद की ओर उन्मुख कर दिया है। इसके साथ ही साथ अनुदार दल के सदस्यों ने ब्रिटिश संविधान के मूलाधारों के प्रति शंकाएँ प्रकट करने की प्रवृत्ति दिखाई है। लॉर्ड-सभा का इस प्रकार से पुनर्गठन कि वह श्रमिक सरकार के कानून के पास होने में अधिकारपूर्वक विलम्ब कर सके; राजकीय निषेधाधिकार के जिसका पिछले दो सौ वर्षों में कोई प्रयोग नहीं हुआ है; पुनर्स्थान की चेष्टा, संसद् के विघटन और पीयर बनाने की शक्ति के सम्बन्ध में सम्राट् की शक्ति पर जोर देना और यदि सम्राट् विरोधी पक्ष का समर्थन पा सके, तो उन्हें अपने मन्त्रियों के परामर्श पर आचरण करने की आवश्यकता नहीं है; ये समस्त प्रस्ताव अत्यन्त रोचक हैं।^२ अनुदार दल के सदस्य इनमें से प्रत्येक स्थिति के लिए एक ऐसी टेकनीक का सुझाव देने हैं जो श्रमिक दल के प्रतिकूल पड़ेगी। वे लोग यह मान लेते हैं कि समाजवादी विधान के मार्ग में ऐसे विघ्न उपस्थित कर देने चाहिए जो समाजवाद-

१. इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए देखिए ए. बिअर्ड और जी.एच. ई. स्मिथ, *दि फ्यूचर कम्स*, (१९३३); सी. एल. डियेरिंग, *दि ए. बी. सी. ऑफ दि एन. आर. ए.* (१९३४), जार्ज सोल, *दि कर्मिंग रेवोल्यूशन*, (१९३४)।

२. इन प्रस्तावों के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए मेरी पुस्तक 'लेबर एण्ड दि कंस्टीट्यूशन'।

विरोधी सरकार के मार्ग में कोई बाधा न पहुँचा सकें।

इंग्लैण्ड की स्थिति के बारे में दो बातें और कही जा सकती हैं क्योंकि उनसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। हमसे यह बार-बार कहा जाता है कि उदार दल और श्रमिक दल के बीच समझौता होना अच्छा है। इसका कारण यह है कि दोनों ही दल लोकतंत्र के लिए वचनबद्ध हैं और इस तरह के समझौते से निर्वाचकीय शक्ति जीतकर कट्टर अनुदारवादियों के आक्रमण से लोकतंत्र की रक्षा कर सकते हैं। लेकिन उदार दल के नेता यह बार-बार कह चुके हैं कि यद्यपि वे राज्य के कार्यक्षेत्र को बढ़ाने के पक्ष में तो हैं, लेकिन वे समाजवाद के विरुद्ध हैं। इसका अर्थ यह है कि वे वर्ग-सम्बन्धों के मूल आधार को बदलने के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे। फलतः, यदि श्रमिक दल और उदार दल में कोई समझौता होता है, तो श्रमिक दल को अपना समाजवादी कार्यक्रम स्थगित करना पड़ेगा और समाज-सुधार के उदारवादी कार्यक्रम को अपनाना होगा। यह एक ऐसी योजना है जो श्रमिक दल के बहुमत को स्वीकार्य नहीं होगी क्योंकि १९२४ के पश्चात् में उमका अनुभव यह रहा है कि ऐसी नीति बिल्कुल बेकार है जो वर्ग-सम्बन्धों के मूल आधार को अछूता छोड़ देती है।

अच्छा, कुछ देर के लिए यह मान लीजिए कि श्रमिक दल उदार दल के साथ समझौता करके निर्वाचन में विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने समाजवादी कार्यक्रम को कुछ समय के लिए स्थगित कर देता है। इस स्थिति में यह विजय अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हो सकती है? यदि उसके पद-ग्रहण करने के उपरान्त द्रुत आर्थिक उत्थान नहीं होता, तो वह समाज-सुधार की व्यापक योजनाओं को प्रारम्भ नहीं कर सकता। इन योजनाओं का व्यय शीघ्र ही ऐसी स्थिति पैदा कर सकता है जिससे कि १९३१ में उसे पराजित किया था। यदि श्रमिक दल को पूँजीवादी व्यवस्था का मंचालन करना है, तो उसे स्पष्ट रूप से पूँजीवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार करना होगा। इन सिद्धान्तों का मूलतत्त्व यह है कि व्यावसायिक अवपात के युग में राज्य व्यवसाय्य सामाजिक सुधारों को अपने हाथ में नहीं ले सकता। ऐसी सरकार अपने समर्थकों की अधिक समय तक विश्वासभाजन न रह सकेगी क्योंकि उसकी परिस्थितियाँ उन उद्देश्यों की पूर्ति अवरोध कर देंगी जिनके लिए उसने सत्ता प्राप्त की थी।

यदि वह व्यावसायिक उत्थान के समय में सत्तारूढ़ हुई, तब भी वह अधिक दूर तक नहीं जा सकेगी। उदारवादी दल के साथ उसका जिन शर्तों पर समझौता हुआ था, उनके कारण वह समाजवादी नीति को कार्यान्वित

करने में असमर्थ होगी। फलतः उसका कार्य यहीं तक सीमित होगा कि वह पूँजीवादी व्यवस्था से मजदूरों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने का प्रयास करे। हम यह नहीं कहते कि आवास, शिक्षा, रोजगार और श्रमिक संघों के कार्यों आदि के क्षेत्रों में सुधार और उन्नति करने की नीति का कोई महत्व नहीं है। लेकिन यदि व्यावसायिक उत्थान में स्थायित्व नहीं है, तो सुविधाओं की इस नीति का फल मजदूरों में ऐसी आशाएँ उत्पन्न कर देना होगा, जो आगामी अवपात आने पर निराशा में परिणत हो जायेंगी। चाहे हम आर्थिक उन्नति का विचार मानें या अनवरत संकट का, यदि श्रमिक दल वर्तमान व्यवस्था के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि वह पूँजीवाद और लोकतंत्र के अन्तर्विरोध को स्वीकार कर लेता है जो मेरी दृष्टि में देर-सबेर एक के लिए या दूसरे के लिए घातक है। मेरा विचार है कि श्रमिक दल इन शर्तों पर अपनी रक्षा नहीं कर सकेगा। १९२६ की श्रमिक सरकार के अनुभव से निर्वाचकों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि ज्यादा अच्छा यही होगा कि पूँजीवादी राज्य का नियंत्रण ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहे जो उसके सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। श्रमिक दल से पूँजीवादी राज्य का प्रशासन करने के लिए कहना वैसा ही मूर्खतापूर्ण है जैसा कि किसी नास्तिक से रोमन कैथोलिक चर्च का प्रधान पादरी बनने के लिए कहना।

इसलिए, उक्त प्रस्ताव प्रस्तुत समस्या का समाधान नहीं देता। समस्या यह है कि क्या पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना तथा उसके साथ ही वर्ग-सम्बन्धों का परिवर्तन एक लोकतन्त्रात्मक समाज में शान्तिपूर्वक हो सकता है? मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि यदि उत्पादन के साधनों के स्वामी लोकतंत्र के निष्कर्षों को मानने के लिए तैयार हैं, तो यह परिवर्तन शान्तिपूर्वक नहीं हो सकता। लेकिन यह कोई बहुत बड़ी बात कहना नहीं हुआ। मैं यह पूछ रहा हूँ कि क्या भूतकालीन अनुभवों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पूँजीपति इन निष्कर्षों को मान लेंगे। मुझे तो स्थिति ऐसी मालूम पड़ती है कि केवल कोई अत्यधिक कट्टर आशावादी ही इस प्रश्न पर स्वीकारात्मक दृष्टिकोण ग्रहण कर सकता है। महाद्वीपीय देशों और अमेरिका का युद्धकालीन अनुभव तो इसके प्रतिकूल मालूम पड़ता है। जब मनुष्य राज्य की बुनियादों के सम्बन्ध में वैमत्य रखते हैं, तब राज्य की एकता को किस तरह कायम रखा जा सकता है?

कुछ प्रतिष्ठित लेखकों ने उक्त पक्ष का समर्थन करने की चेष्टा की है और उनकी युक्तियों का तनिक निकटता से विवेचन करना उचित होगा। प्रो०

ग्रिगोरी ने लिखा है, “यदि पाश्चात्य बुद्धिजीवी प्रचारात्मक उद्देश्यों के लिए फासिज्म को पतनशील पूंजीवाद के साथ समीकृत करते हैं तो कम से कम यह तो समझ लिया जाना चाहिए कि उनके पास अपने इस कृत्य का कोई प्रमाण नहीं है।” वे अपने मत की पुष्टि में तीन युक्तियाँ उपस्थित करते हैं। पहली युक्ति यह है कि फासिज्म अधिकारवादी है; “पूँजीवादी व्यवस्था का मूलतत्त्व उद्यम की स्वतन्त्रता और आर्थिक आत्माभिव्यक्ति के लिए व्यक्ति का अधिकार है।” दूसरे “राष्ट्रीय समाजवादी कार्यक्रम (National Socialist Programme) के २५ सूत्र और रूसी साम्यवाद की विचारधारा पूँजीवादी राज्य के दर्शन की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक साम्य रखती है।” तीसरे, “यदि पूँजीवाद का सचमुच पतन हो रहा है, तो उसके पतन के बिना इंग्लैण्ड और अमेरिका में मिलने चाहिए, बल्कान्स, दक्षिण अमेरिका अथवा इटली जैसे देशों में नहीं। इसका कारण यह है कि इन देशों में पूरी पूँजीवादी व्यवस्था कभी रही ही नहीं। यह बात रूस के सम्बन्ध में और भी अधिक सत्य है।” जर्मन फासिज्म की समस्या के बारे में प्रो० ग्रिगोरी का कहना है—“जर्मनी की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है लेकिन इन कठिनाइयों का पूँजीवाद के दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं है।” प्रो० ग्रिगोरी कहते हैं, “यदि श्रमिक सरकार अपने क्षणिक बहुमत के द्वारा देश की आर्थिक संस्थाओं में आमूल परिवर्तन करने का प्रयास करेगी, तो इसका विरोध हो सकता है और इस विरोध से यह सिद्ध हो जायगा कि पूँजीवाद का अभी पतन नहीं हुआ है और उसके विश्वासियों की संख्या काफी है।” प्रो० ग्रिगोरी का निष्कर्ष यह है कि—“फासिज्म का उत्थान इस बात का प्रमाण नहीं है कि पूँजीवाद भग्न हो गया है। वह केवल इस बात का प्रमाण है कि कुछ देशों की युद्धोत्तर स्थिति बहुत शोचनीय समझी गई थी। यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि कुछ हालतों में विशेषकर जर्मनी में फासिज्म के उत्थान में गैर-आर्थिक तत्वों का भी ऐसा ही योग था जैसा कि आर्थिक तत्वों का।”

आइए, हम इन युक्तियों पर एक-एक करके विचार करें। यह सही है कि फासिज्म अधिकारवादी है और “पूँजीवादी व्यवस्था का मूलतत्त्व उद्यम की स्वतन्त्रता तथा आर्थिक आत्माभिव्यक्ति के लिए व्यक्ति का अधिकार है।” लेकिन हमें उस प्रयोजन का परीक्षण करना है जिसके लिए फासिस्ट सत्ता का प्रयोग होता है। जब हम यह देखते हैं कि फासिज्म स्वतन्त्र श्रमिक संघों को नष्ट कर देता है, पूँजी के व्यक्तिगत स्वामित्व की रक्षा करता है तथा मुनाफा

कमाने की दृष्टि से मजदूरों के वेतनों में कमी कर देता है, तब हमारा यह निष्कर्ष गलत नहीं है कि वे व्यक्ति जिनके "आर्थिक आत्माभिव्यक्ति के अधिकार के लिए" फासिज्म चिंतित है, श्रमिक वर्ग के सदस्य नहीं हैं। संक्षेप में, फासिस्ट सत्ता का प्रयोग पूंजीवाद के वर्ग सम्बन्धों की रक्षा के लिए होता है। 'पाश्चात्य बुद्धिजीवी' फासिज्म को पतनशील पूंजीवाद की अभिव्यक्ति इसलिए मानते हैं क्योंकि इस प्रकार की सत्ता का समर्थन पाए बिना इन वर्ग सम्बन्धों की रक्षा नहीं हो सकती।

यह भी सही है कि फासिज्म और साम्यवाद में काफी शाब्दिक साम्य है। यदि फासिस्ट कार्यक्रम अपनी घोषणाओं में समाजवाद तथा श्रमिक संघों का विरोधी होता, तो वह मजदूरों से सहायता पाने का साहस न कर सकता था। लेकिन हमें फासिज्म का परीक्षण उसके वचनों में नहीं, प्रत्युत उसके कृत्यों से करना है। मैं प्रो० ग्रिगोरी के बारे में यह नहीं सोचता कि वे यह मानते हैं कि इटली के उन सेनानायकों ने जिन्होंने मुसीलिनी का साथ दिया था या ह्यूगेनबर्ग और थीसीन जैसे उन जर्मन उद्योगपतियों ने जिन्होंने हिटलर का साथ दिया था, यह इस आशा से किया था कि वे उनके कार्यक्रम के साम्यवादी तत्वों पर आचरण करेंगे। यह ठीक है कि फासिज्म ने उद्योग की स्वतन्त्रता में कुछ हस्तक्षेप किया है लेकिन जर्मनी और इटली दोनों देशों में यह हस्तक्षेप पूंजीवादी उत्थान के हित में पूंजीवादियों का हस्तक्षेप है। प्रो० ग्रिगोरी को यह जाँचने का अधिकार है कि यह हस्तक्षेप गलत ढंग का हुआ है लेकिन जब वे आर्थिक संस्थाओं और मजदूरों की स्थिति पर इस हस्तक्षेप के प्रभाव का परीक्षण करेंगे, तब उन्हें यह निष्कर्ष निकालने का कोई अधिकार नहीं होगा कि यह फासिज्म के औपचारिक कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की कोई गम्भीर या निष्कपट चेष्टा है।

प्रो० ग्रिगोरी का दूसरा तर्क कि हमें पूंजीवाद की परीक्षा इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे उन देशों में करनी चाहिए जहाँ कि उसका विकसित रूप दिखाई देता है, बल्कान्स और दक्षिण अमेरिका जैसे उन देशों में नहीं जहाँ कि उसका अविकसित रूप दिखाई देता है, भी विशेष जानदार नहीं है। आर्थिक व्यवस्था की कसौटी तो सब जगह एक-सी ही है। वह कसौटी यह है कि आर्थिक व्यवस्था अपनी उत्पादक-शक्ति की सम्भावनाओं का पूरा उपयोग कहाँ तक कर पाती है। यदि हम इंग्लैण्ड और अमेरिका के पूंजीवाद को इस कसौटी पर कस के देखें, तो यह कहना गलत नहीं होगा कि वह भग्न हो चुका है। इंग्लैण्ड की हालत काफी खराब है। वहाँ लाखों बेरोज़गार हैं। साउथ वेल्स और नार्थ ईस्ट कोस्ट जैसे

आर्थिक क्षेत्र बिल्कुल विनष्ट हो चुके हैं। कपास, लोहा, फौलाद, इस्पात और जहाजरानी जैसे निर्यात वाणिज्य की दशा बिल्कुल दिवालियेपन पर आ गई है। दूसरे उद्योगों को अपने जीवित रहने के लिए सरकार से सहायता की करबद्ध याचना करनी पड़ रही है। ऐसी सरकार के शासन-काल में जो व्यक्तिगत उद्यम में विश्वास रखती है, इस प्रकार की स्थिति को बड़ी गम्भीरता से भग्नता की स्थिति कहा जा सकता है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद अमेरिका की स्थिति का जो वर्णन किया था, यदि कोई उसको पढ़कर देखे और वह उसका विवरण देने के लिए 'भग्नता' शब्द का प्रयोग न कर सके, तो उसे इसके लिए केवल एक अन्य पर्याय का चुनाव करना पड़ेगा।^१

प्रो० ग्रिगोरी कहते हैं कि यदि श्रमिक सरकार अपने क्षणिक बहुमत के द्वारा देश की आर्थिक संस्थाओं में आमूल परिवर्तन करने का विचार करेगी तो उसका विरोध हो सकता है और इसमें यह सिद्ध हो जायगा कि पूंजीवाद के समर्थकों की संख्या अब भी काफी है।

यह समझ में नहीं आता कि प्रो० ग्रिगोरी का "श्रमिक सरकार के क्षणिक बहुमत" से क्या अभिप्राय है? पराजित दल को अधिकांश निर्वाचकीय सफलताएँ क्षणिक सफलताएँ मालूम पड़ती हैं। युद्धोत्तर युग में श्री लायड जॉर्ज के विरोधियों ने १९१८ के निर्वाचन के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण ग्रहण किया था। १९२४ और १९३२ में श्रमिक दल की विजयों के सम्बन्ध में अनुदार दल का यही दृष्टिकोण रहा था। यदि निर्वाचक एक ऐसे दल को बहुमत दे देते हैं जिसके कार्यक्रम पर प्रायः बीस वर्षों से प्रचंड सार्वजनिक वाद-विवाद होता रहा हो, तो क्या वह 'क्षणिक' विजय हो जाती है? या क्या दल की विजय का स्वरूप इस बात से निर्धारित होता है कि उसे कितना बहुमत मिला है? यदि प्रो० ग्रिगोरी का अभिप्राय दूसरा है, तो यह स्पष्ट है कि किसी भी दल को देश की आर्थिक संस्थाओं में मूल परिवर्तन करने का उस समय तक कोई अधिकार नहीं है जबतक कि उसे पर्याप्त सार्वजनिक समर्थन पाने का विश्वास न हो। स्पष्ट है कि यदि जनता अपना समर्थन वापिस ले लेती है, तो दल की नीतियों का स्वरूप बिल्कुल बदल जायेगा क्योंकि प्रखर सार्वजनिक विरोध उनका क्रियान्वीकरण असंभवप्राय कर देगा।

१. एफ. डी. रूजवेल्ट, **मान अवसर वे** (१९३४); पृ. ३-३५, ई. के. लिंडले, **दि रूजवेल्ट रेवोल्यूशन** (१९३५) अध्याय १-३ भी देखिए।

जो व्यक्ति समाजवादी नीति पर इस ढंग से विचार करता है, उसका दृष्टिकोण जरा अजब-सा लगता है। यहाँ प्रयुक्त की गई भालंकारिक भाषा का अभिप्राय यह है कि समाजवाद पर आचरण करना अव्यवस्था को आमंत्रण देना है तथा यदि इसको करनेवाला संसदीय बहुमत 'क्षणिक' है, तो उसका प्रतिरोध अवश्यम्भावी है। यहाँ प्रो० ग्रिगोरी मेरी बात को स्वीकार कर लेते हैं। वे इस संभावना को मान लेते हैं कि कुछ विशेष परिस्थितियों में मनुष्य लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं को शिरोधार्य करने की अपेक्षा लड़ना अधिक पसन्द करेंगे। लेकिन प्रो० ग्रिगोरी का यह विचार बिल्कुल गलत मालूम पड़ता है कि चूँकि मनुष्य लड़ना पसन्द कर सकते हैं, अतः यह सिद्ध हो जाता है कि पूँजीवाद भग्न नहीं हुआ है। निष्कर्ष का सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई सिद्धान्त, व्यवस्था या विचार इसलिए सही नहीं हो जाता क्योंकि बहुत से लोगों को उसकी सचाई का इतना अधिक विश्वास होता है कि वे उसके लिए लड़ने को प्रस्तुत हैं। रूस में बहुत से लोग १९१७ के पश्चात् राज-तन्त्रात्मक विचार के लिए लड़ने को तैयार थे लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि यह विचार नष्ट नहीं हो गया था। जब तक प्रो० ग्रिगोरी जैसे निरासक्त और विचारवान् व्यक्ति समाजवादी नीति के सूत्रपात को देश की आर्थिक संस्थाओं के मूल में परिवर्तन करना मानते हैं, यह उचित शंका की जा सकती है कि क्या पूँजीवादी व्यवस्था के कम निष्पक्ष समर्थक समाजवादी प्रयोग को उस सद्भाव से देखेंगे जिस पर शांति की स्थापना निर्भर है।

प्रो० ग्रिगोरी का अंतिम तर्क यह है कि फासिज्म की जड़ें पूँजीवाद के पतन में नहीं खोजी जा सकतीं। उनका मूल कारण तो कुछ देशों की वह युद्धोत्तर परिस्थिति है जिसमें आर्थिक तत्वों के साथ ही साथ कुछ गैर-आर्थिक तत्व भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। इन देशों में उदाहरणार्थ जर्मनी में कुछ कठिनाइयाँ ऐसी भी थीं जिनका पूँजीवाद के अन्तर्भूत दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं था। यहाँ यह समझ लेना जरा महत्त्वपूर्ण है कि प्रो० ग्रिगोरी क्या कर रहे हैं। वे पूँजीवाद के एक ऐसे दर्शन का निर्माण करते हैं जो 'स्वतन्त्र व्यापार' और 'आर्थिक आत्माभिव्यक्ति के लिए व्यक्ति के अधिकार' के दो सिद्धान्तों पर आधारित है। पूँजीवाद का यह विशुद्ध दर्शन वर्तमान पूँजीवादी समाजों से भिन्न है। वर्तमान पूँजीवादी समाजों में जहाँ कहीं इन दो सिद्धान्तों पर रोक लगाई जाती है, वहाँ उत्पन्न होने वाले दोषों के लिए पूँजीवाद उत्तरदायी नहीं है। इन दोषों का कारण यह होता है कि लोगों ने पूँजीवाद का पालन नहीं किया है और उससे भिन्न मार्ग अपनाया है। प्रो० ग्रिगोरी

इस बात की चिन्ता नहीं करते कि पूँजीवाद का यह विशुद्ध विचार कभी विद्यमान नहीं रहा है और ऐसी राजनीतिक परिस्थितियाँ भी दिखाई नहीं देतीं जिनमें कि इसका कभी अवतरण हो सकेगा। जिस प्रकार एक आदर्श-वादी वास्तविक राज्यों के आधार पर विशुद्ध राज्य की आलोचना अप्रासंगिक मानता है, ठीक इसी प्रकार प्रो० ग्रिगोरी और उनकी विचारधारा के व्यक्ति पूँजीवादी राज्यों के व्यवहार के आधार पर विशुद्ध सिद्धान्त के पूँजीवादी राज्य की आलोचना व्यर्थ मानते हैं। इन लोगों ने तो विशुद्ध सिद्धान्त के पूँजीवादी राज्य की कसौटी ऐसी निर्धारित की है जिसका उन्हें तथ्यों द्वारा कभी परीक्षण नहीं करना पड़ेगा। इस विचार के अनुसार राज्य का समस्त हस्तक्षेप चाहे वह पूँजीवाद के पक्ष में हो या विपक्ष में, पूँजीवाद से पलायन माना जायगा और उसके परिणामों के लिए पूँजीवाद के संचालन को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

लेकिन, यदि हम यह मानते हैं जैसा कि हमें जीवन में मानना होगा कि पूँजीवादियों का आचरण ही पूँजीवाद है, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि पूँजीवादी स्वार्थों से ग्रस्त राज्यों की प्रवृत्तियाँ पूँजीवाद की विशेषताएँ हैं। इसलिए, हमें यह भी मानना होगा कि पूँजीवादी अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए राज्य-शक्ति का प्रयोग जब-तब नहीं करते, प्रत्युत आये दिन करते ही रहते हैं। किसी भी विचारधारा को परखने की एकमात्र कसौटी उसका व्यावहारिक स्वरूप है, उसका मौलिक उद्देश्य नहीं। पूँजीवाद एक सतत गतिशील विचारधारा है। आदि काल में उसकी जो प्रवृत्तियाँ थीं, वे आज नहीं हैं और उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। जब पूँजीपतियों की सुरक्षा खतरे में पड़ती है और उनके द्वारा राज्य-शक्ति का प्रयोग फासिज्म का रूप धारण कर लेता है, तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस संयोग के मूल में भी कार्य-कारण की शृंखला ही विद्यमान रही है। पूँजीवाद की यह एक प्रमुख विशेषता है कि जब कभी उसके ऊपर कोई आपदा आ पड़ती है, वह अपने विरोधियों का दमन करने के लिए राज्य-शक्ति का आश्रय लेता है। अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए वह वेतनों में कमी करता है, श्रमिक संघों का दमन करता है और हड़तालों का निषेध करता है। वह समझता है कि इस प्रकार के कार्यक्रमों पर आचरण करने से उसे अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। लेकिन ऐसा करते समय वह फासिज्म के स्वागत के लिए अपनी बाहें फैला देता है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मेरे इस विश्लेषण का यह मंतव्य

कदापि नहीं है कि गैर-आर्थिक तत्वों ने जर्मनी आदि देशों में फासिस्ट सिद्धान्तों के विकास में कोई सहायता नहीं पहुँचाई है। ऐतिहासिक भौतिकवाद, जैसा कि प्रो० ग्रिगोरी कल्पना करते मालूम पड़ते हैं, ऐतिहासिक निमित्तवाद (Causation) का अद्वैतवादी सिद्धान्त नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि फासिज्म के अवतरण में आर्थिक कठिनाई मूल कारण रही है। यदि आर्थिक कठिनाई न होती, तो गैर-आर्थिक तत्व अपना कोई प्रभाव नहीं दिखा सकते थे। जर्मनी में 'जातिवाद' युद्ध के पूर्व भी काफी था, लेकिन स्फीति (inflation) जैसे गहरे अनुभव ही गम्भीर और बुद्धिमान् व्यक्तियों को उस पर गम्भीरता से विचार करने की प्रेरणा दे सकते थे। ऐतिहासिक भौतिकवाद का दावा यही है कि आर्थिक तत्व ही 'मूलभूत आवश्यकता' का निर्माण करते हैं तथा अन्य समस्त तत्व केवल निमित्त मात्र होते हैं। यद्वादियों के प्रति विरोधभाव केवल एक आर्थिक घटना नहीं है। लेकिन इस भावना ने युद्धोत्तर काल में जर्मनी और रूस में जो विभिन्न राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ ग्रहण की हैं, उन्हें केवल आर्थिक तत्वों के प्रकाश में ही समझा जा सकता है। प्रो० ग्रिगोरी की ऐतिहासिक भौतिकवाद को एक ऐसे सरल सूत्र में बाँधने की चेष्टा जिसके अनुसार केवल आर्थिक तत्व ही घटनाओं की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त हैं, इस बात का एक और उदाहरण है कि आलोचक ने उस सिद्धान्त को ही जिसका वह खंडन करना चाहता है, कितना गलत समझा है।

(५)

इस पृष्ठभूमि में हमें राज्य के स्वरूप के सिद्धान्त का निर्धारण करना चाहिए। हमें वह परिभाषा याद करनी चाहिए जिसमें हमने अपना कार्य प्रारम्भ किया था। राज्य की परिभाषा यह है कि वह एक ऐसा समाज है जो एक बल-प्रवर्ती सत्ता के द्वारा संयुक्त होता है; यह सत्ता कानूनी दृष्टि से उस व्यक्ति या समूह से ऊँची होती है जो उस समाज का एक भाग होता है। इसलिए, राज्य-शक्ति के प्रयोग का एक विशेष साधन है। वह विशेष इसलिए है क्योंकि वह सबसे ऊँचा है; वह विशेष इसलिए भी है क्योंकि वह बलप्रवर्ती है। राज्य की अन्य कोई सत्ता इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकती। यह दूसरी बात है कि यह शक्ति उसे कुछ समय के लिए दे दी जाये। कहने का सार यह है कि केवल राज्य को ही यह अधिकार है कि वह अपने नागरिकों को मार सके और उन्हें कारागार में डाल सके तथा उनसे अपने निर्णय मनवाने के लिए अपनी सेनाओं का प्रयोग कर सके। यह ठीक है, कि राज्य अपने निर्णयों को

सामान्यतः इस रीति से कार्यान्वित नहीं करता; मनुष्य उसके निर्णयों को शक्ति-प्रयोग की आवश्यकता के बिना ही शिरोधार्य कर लेते हैं। लेकिन यह शक्ति सदैव छिपी रहती है और जब कभी राज्य की सत्ता को चुनौती मिलती है, इस शक्ति का प्रयोग होने लगता है।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ इस राज्य-शक्ति का प्रयोग मनुष्य करते हैं और जिन मनुष्यों के हाथ में इस शक्ति का प्रयोग रहता है, वे राज्य की सरकार का निर्माण करते हैं। उनका कार्य राज्य-शक्ति का प्रयोग ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करना है जिनके लिए राज्य का निर्माण हुआ था। राज्य का उद्देश्य संक्षिप्त रूप से अपने नागरिकों की मांगों को अधिकतम मात्रा में पूरा करना है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य को अपनी बलप्रवर्त्ती शक्ति के प्रयोग का उभी सीमा तक अधिकार है जिस सीमा तक वह अपने प्रजाजनों की मांगों को संतुष्ट कर सकता है। मैंने यह भी निवेदन किया है कि राज्य अपने उद्देश्यों को तभी पूरा कर सकता है जबकि वह अपने समस्त कृत्यों में पक्षपातहीन रहे। यदि राज्य अपने भिन्न नागरिकों के साथ भिन्न व्यवहार करता है, तो यह अनुचित है। इसका समर्थन तभी किया जा सकता है जबकि यह प्रकट हो जाये कि इस प्रकार के व्यवहार में भी समस्त नागरिकों को समान लाभ पहुँचता है।

उन कारणों की वजह से जिनका मैं पहले अध्याय में उल्लेख कर चुका हूँ, हमें इन मान्यताओं को लेकर चलना है। ये मान्यताएँ राज्य के एक ऐसे सिद्धान्त का निरूपण करती हैं जिसका ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर परीक्षण किया जा सकता है। राज्यों के व्यवहार को देखकर हम उनके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इस प्रकार अपनी मान्यताओं को स्पष्ट कर सकते हैं। यदि हम उन परिस्थितियों को जान सकें जो राज्य के कार्यों को पक्षपातपूर्ण बना देती हैं तो हम उनके निवारण का भी उपाय कर सकते हैं, हम यह जान सकते हैं कि राज्य अपने निष्पक्ष कार्यों द्वारा अपने उद्देश्यों को किस प्रकार सर्वश्रेष्ठ रीति से पूरा कर सकता है। संक्षेप में, हमारी मान्यताओं की कसौटी व्यावहारिक कसौटी है। हमें उनके प्रयोग की रीति और उसके परिणामों का ज्ञान प्राप्त करना है जिससे कि हम यह जान सकें कि वे हमारी आशाओं को पूरा करते हैं या नहीं।

मैंने इस अध्याय में यह निवेदन किया है कि राज्य के वास्तविक स्वरूप के प्रतीक उसके आर्थिक वर्ग-सम्बन्ध होते हैं। यदि हम यह जान लें कि राज्य की आर्थिक वर्ग-व्यवस्था क्या है तो हम यह भी जान लेंगे कि राज्य-शक्ति का

प्रयोग किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है। मैंने यह निवेदन किया है कि राज्य का कार्य अपनी बलप्रवर्त्ती शक्ति को उस वर्ग के हाथों में रख देना है जो उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है। इन साधनों के उपयोग द्वारा समाज अपनी जीविका का उपार्जन करता है। इन साधनों का जितना अधिक उपयोग होगा, उतनी ही सुगमता से समाज अपनी जीविका का उपार्जन कर सकेगा। लेकिन इन साधनों के पूर्ण उपयोग का अर्थ उनका न्यायसंगत उपयोग नहीं हो जाता। उनका न्यायसंगत उपयोग तो इस बात पर निर्भर है कि क्या उत्पादन का न्याययुक्त वितरण भी होता है? इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय यह रहा है कि राज्य का मुख्य उद्देश्य समाज के वर्ग-सम्बन्धों के समस्त निष्कर्षों की रक्षा करना होता है। इस रीति से राज्य उत्पादन की अविच्छिन्नता बनाए रखता है जो सामाजिक जीवन के संधारण के लिए आवश्यक होती है। इस रीति से वह उत्पादन के सम्बन्ध में किए गए उन विभिन्न दावों को भी स्वीकार कर लेता है जो कि वर्ग-सम्बन्धों के अन्दर अन्तर्ग्रस्त होते हैं।

मैंने यह बताया है कि प्रत्येक समाज में विभिन्न आर्थिक वर्गों के बीच इस बात का संघर्ष चलता रहता है कि उन्हें समाज के वितरण का अधिक से अधिक अंश मिले। चूंकि प्रत्येक समाज में उत्पादन की शक्ति शांति के ऊपर निर्भर है, अतः यह आवश्यक है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य शांति और व्यवस्था कायम रखे। लेकिन शांति और व्यवस्था भी तो समाज के वर्ग-संगठन की ही अभिव्यक्ति हैं। सामंतवादी समाज की शांति और व्यवस्था सामंतवादी सिद्धान्तों की रक्षा के लिए आवश्यक होती है। पूंजीवादी समाज में शांति और व्यवस्था पूंजीवादी सिद्धान्तों की रक्षा के लिए आवश्यक होती है। रूस में उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक नियंत्रण है; फलतः वहाँ शांति और व्यवस्था का अर्थ यह होता है कि समाज में वितरण सार्वजनिक नियंत्रण के सिद्धान्त के अनुसार ही हो जाये। कहने का सार यह है कि समाज में राज्य की शक्ति उस वर्ग के हाथों में रहती है जिसके हाथों में उत्पादन के साधनों का नियंत्रण होता है। राज्य जो भी कानून बनाएगा, वे कानून इस वर्ग के हित में होंगे। राज्य के हाथों में जो नियंत्रण होगा, उस पर इस वर्ग का ही अधिकार रहेगा। यदि राज्य में उत्पादन के साधनों के स्वामियों की संख्या कम है, तो राज्य के कानून इन कम लोगों के पक्ष में होंगे। यदि उत्पादन के साधन सम्पूर्ण समाज के हाथों में होंगे, तो राज्य के कानून सम्पूर्ण समाज के पक्ष में होंगे।

मैंने यह भी निवेदन किया है कि समाज की वर्ग-व्यवस्था समाज की विचारधारा को किस प्रकार नियंत्रित करती है। मुक्त वाणिज्य के आधार

पर निर्मित पूंजीवादी राज्य के धार्मिक सिद्धान्त दास-प्रथा के आधार पर निर्मित पूंजीवादी राज्य के धार्मिक सिद्धान्तों से भिन्न होंगे। ईसाई मत अनाथों के धर्म के रूप में प्रारम्भ हुआ था और उसने ऐसी विचारधारा का प्रतिपादन किया जो दास-प्रथा के प्रतिकूल पड़ती थी। लेकिन उसने अपने इतिहास के प्रारम्भ में ही दास-स्वामियों के वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट करना प्रारम्भ किया। यदि ईसाई धर्म इस बात पर जोर देता कि वे लोग उसके अनुयायी तभी हो सकते थे जब कि वे अपने दासों को स्वतन्त्र कर देते, तो समाज में एक आर्थिक क्रान्ति हो जाती तथा यह क्रान्ति तत्कालीन उत्पादन-व्यवस्था के प्रतिकूल पड़ती। इससे दास-प्रथा के समस्त समर्थक ईसाई धर्म के शत्रु हो जाते। उनकी शत्रुता मोल लेना ईसाई धर्म के हित में नहीं था क्योंकि उनकी पीठ पर रोमन साम्राज्य की सम्पूर्ण दमनकारी शक्ति थी। इसलिए उसने कहा कि दासों का कर्त्तव्य अपने स्वामियों की आज्ञा का पालन करना है। दासों के सम्बन्ध में उसका अपने उद्भव-काल में जो दृष्टिकोण रहा था, उसके परिवर्तन का औचित्य उसने यह कह कर किया कि दासता तो केवल एक बाहरी छाप है और इसका मनुष्यों के निर्वाण से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा मालिकों को अपने दासों के साथ दयालुता का व्यवहार करना चाहिए। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप रोमन सम्राटों के लिए ईसाई धर्म को अपना राजकीय धर्म बना लेना सुगम हो गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, ईसाई धर्म स्वयं भी एक शक्तिशाली संगठन हो गया और उसके पास अपनी सम्पत्ति हो गई। इस सम्पत्ति का मूल्य दासों के शोषण पर निर्भर था। इस प्रकार धीरे-धीरे, ईसाई धर्म की दास-प्रथा के प्रति प्रारम्भ में जो अरुचि थी, वह कम हो गई।

तब फिर, हम यह कह सकते हैं कि जिस समाज में उत्पादन के साधन व्यक्तिगत हाथों में रहते हैं, उस समाज में राज्य की शक्ति भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ समीकृत होती है। जहाँ हम इस प्रकार के समाज को पाते हैं, राज्य की शक्ति का प्रयोग व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामियों के हाथों में होता है। वे ही यह निश्चित करते हैं कि विधान क्या हो। वे ही उन उद्देश्यों को निर्धारित करते हैं जिनकी पूर्ति के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग हो। चूँकि वे इन उद्देश्यों का स्वरूप वर्ग-व्यवस्था में अपनी इस स्थिति के अनुसार निश्चित करेंगे अतः वे अपनी इस योजना द्वारा अपने लिए अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे। वे कल्याण के सम्बन्ध में अपना विचार इसी आधार पर निर्मित करेंगे और वे राज्य के विधान को कुछ ऐसा रूप देंगे जिससे उन्हें अधिक से अधिक लाभ उठाने का अधिकार मिल सके। लेकिन चूँकि अन्य

आर्थिक वर्ग भी यही करेगा, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस वर्ग को राज्य की दमनकारी शक्ति का समर्थन प्राप्त होगा, उसी वर्ग की विजय होगी। वर्ग-व्यवस्था के आधार पर निर्मित इस प्रकार के समाज में राज्य-शक्ति को प्राप्त करने के लिए संघर्ष चलता ही रहता है। जिन लोगों के हाथों में इस प्रकार की शक्ति होती है, वे अपने विचारों को दूसरों के ऊपर आरोपित कर सकते हैं।

मैंने यह कहा था कि कल्याण-सम्बन्धी यह विचार जड़ नहीं होता। ज्ञान के विकास के साथ ही साथ उत्पादन के साधनों में परिवर्तन और उत्पादन की हमारी क्षमता में वृद्धि होती है। वर्ग-सम्बन्धों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने को इस परिवर्तन और इस वृद्धि के अनुकूल बनायें। वर्ग-सम्बन्ध ही यह निश्चित कर देते हैं कि मनुष्यों को उत्पादन की व्यवस्था से क्या आशा रखनी चाहिए। मनुष्य इन आशाओं के योग को ही प्रत्येक युग में न्याय का पर्याय मानते हैं। वर्ग-सम्बन्धों की योजना में जिन मनुष्यों की एक-सी स्थिति होगी, उनकी एक-सी आशाएँ होंगी। फलतः, उनके अन्दर स्वार्थ की एकता होगी। न्याय के सम्बन्ध में उनके विचार एक-से होंगे। वर्ग-सम्बन्धों की योजना में उनकी स्थिति में जितना अधिक अन्तर होगा, न्याय-सम्बन्धी उनके विचार भी उतने ही भिन्न होंगे। चूँकि इन विचारों में परस्पर संघर्ष चलता रहता है, अतः उनके भेद की मात्रा ही उस सीमा को निश्चित करती है, जहाँ तक राज्य अपने नागरिकों के बीच एकता बनाए रख सकता है। यदि इन विरोधी विचारों का अन्तर इतना व्यापक होता है कि उनके बीच कोई समझौता नहीं हो पाता, तो राज्य की एकता नष्ट हो जाती है। राज्य की एकता भंग होने से शांति नष्ट होती है और विधान की सुव्यवस्थित प्रक्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। राज्य की एकता भंग होने से उत्पादन की व्यवस्था में विघ्न उपस्थित होता है और समाज का जीवन संकट में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में राज्य की एकता को पुनः स्थापित करना पड़ता है। इसके लिए या तो राज्य के उद्देश्यों की पुनः पुष्टि करनी पड़ती है (यदि वे अपने विरोधियों से जीत जाते हैं) या उन उद्देश्यों पर फिर से विचार करना पड़ता है (यदि उनके विरोधी जीत जाते हैं)।

राज्य की एकता केवल वर्ग-संघर्ष के विद्वेषों से ही नष्ट होती है। धार्मिक, राष्ट्रीय, और प्रजातीय विरोधों के कारण खुलकर लड़ाई हो सकती है और शासक-वर्ग में परिवर्तन हो सकता है लेकिन उनसे राज्य की ऐसी एकता भंग नहीं होती कि वर्ग-सम्बन्धों पर फिर से विचार करना आवश्यक

हो जाये । दक्षिण अमेरिका के राज्यों में आश्चर्यजनक क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, लेकिन फिर भी उनका स्वरूप पहले जैसा ही है । जर्मनी में हिटलर की विजय से सरकार का परिवर्तन हुआ, लेकिन राज्य का कोई परिवर्तन नहीं हुआ । वह १७८९ की फ्रेंच क्रान्ति या नवम्बर १९१७ की रूसी क्रान्ति के समान क्रान्ति नहीं थी । हिटलर की विजय के पश्चात् भी जर्मनी में वर्ग-सम्बन्ध पहले जैसे ही कायम रहे थे । कहने का सार यह है कि हिटलर ने राज्य के सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं किया ।

फ्रांस और रूस की क्रांतियों ने वर्ग-सम्बन्धों में और राज्य के उद्देश्यों में आमूल परिवर्तन कर दिया था । फ्रांस की क्रान्ति ने सम्पत्ति-स्वामियों के इस अधिकार को पुष्ट किया कि उत्पादन-प्रक्रिया के परिणामों में उन्हें भी भाग मिलना चाहिए उनका कुलीनवंश में जन्म हुआ हो या नहीं । रूस की क्रांति ने श्रमिक वर्गों के इस अधिकार को पुष्ट किया कि उत्पादन-प्रक्रिया के परिणामों में उन्हें भी योग मिलना चाहिए उनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण हो या नहीं । फ्रांस की क्रान्ति ने राज्य की शक्ति द्वारा अभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों को नष्ट करके अपने उद्देश्य को प्राप्त किया । इस क्रान्ति के उपरान्त एक ऐसे क्रांतूनी संगठन का निर्माण हुआ जिसमें सम्पत्ति का स्वामित्व अधिकारों का आधार था । रूस की क्रान्ति ने राज्य की शक्ति द्वारा उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर अपना उद्देश्य प्राप्त किया था । उसने स्वामित्व के अधिकार व्यक्तियों के हाथों से लेकर राज्य के रूप में संगठित नागरिकों के समुदाय के हाथों में सौंप दिए । फ्रेंच-क्रान्ति ने राज्य-शक्ति का प्रयोग कल्याण-सम्बन्धी उस मान्यता की रक्षा के लिए किया था जो उत्पादन-साधनों के स्वामियों के पक्ष में थी । रूसी क्रान्ति ने राज्य-शक्ति का प्रयोग कल्याण-सम्बन्धी इसी मान्यता की रक्षा के लिए किया था लेकिन उसके प्रकरण में, रक्षा के उपाय चाहे उचित रहे हों या अनुचित, कल्याण की यह मान्यता राज्य के समस्त व्यक्तियों के हित के लिए थी ।

यह सही है कि राज्य इस बात का सदैव दावा करता है कि वह निष्पक्ष रूप से समस्त समाज के कल्याण के लिए कार्य करता है । वह उत्पादन-व्यवस्था के अन्दर गभित विरोधाभासों को इसी उद्देश्य को आमने-सामने रखकर दूर करने का प्रयास करता है । यदि मेरा विश्लेषण सही है तो उस समय राज्य की तटस्थता का दावा कदापि सही नहीं हो सकता जबकि उत्पादन के साधनों पर एक आर्थिक वर्ग का नियंत्रण हो । चूँकि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व

यह निर्धारित करता है कि राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किस प्रयोजन के लिए होगा, अतः यदि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व थोड़े व्यक्तियों के हाथों में रहता है, तो इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि राजनीतिक शक्ति का प्रयोग थोड़े व्यक्तियों के हित में होगा। न्याय, कल्याण और अधिकार के सम्बन्ध में इन लोगों की जो मान्यता होती है, उसकी राज्य के समस्त क्रिया-कलापों पर गहरी छाप पड़ती है। यदि उत्पादन के साधनों पर थोड़े व्यक्तियों का अधिकार होता है, तो इसके परिणामस्वरूप समाज के अधिकांश सदस्य उत्पादन के परिणामों से वंचित रह जाते हैं। राज्य एक ऐसी कानूनी संस्था है जो उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामियों के दावों को उन व्यक्तियों के दावों से ऊपर रखता है जिनके हाथों में उत्पादन के साधन नहीं होते। इस दृष्टि से जब तक उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक नियन्त्रण स्थापित नहीं होता, राज्य भौतिक कल्याण से सम्बद्ध मामलों में अपने नागरिकों के बीच तटस्थ नहीं हो सकता।

मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। जब कभी वे वर्ग-सम्बन्ध जिनकी राज्य रक्षा करता है, उत्पादन-शक्तियों के उस उपयोग को रोकते हैं जिसे स्वामित्व के पूर्ण लाभों से वंचित वर्ग सम्भव मानता है, तब वर्गगत विरोधों के कारण सामाजिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। सरकार के सदस्य-वर्गों में अन्य बातों के आधार पर क्रान्ति हो सकती है, लेकिन राज्य में क्रान्ति इन्हीं बातों के कारण होती है। यदि किसी राज्य में स्वामित्व के पूर्ण लाभों से वंचित वर्ग का निरन्तर भौतिक उत्थान हो रहा है, तो हमें उस राज्य में क्रान्ति की आशा नहीं रखनी चाहिए। हमें क्रान्ति की आशा तभी करनी चाहिए जबकि पूर्ण लाभों से वंचित वर्ग की आशानुरूप भौतिक उन्नति न हो पाती हो और वह इस समस्या को राज्य द्वारा संरक्षित वर्ग-व्यवस्था से सम्पर्कित करता हो। जिस किसी वर्ग को इस संपर्क का ज्ञान हो जाता है, वह इस ज्ञान के होते ही राज्य को हथियाने का प्रयास करने लगेगा। इस प्रयत्न द्वारा यह वर्ग-व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन कर देने की आशा रखता है जिससे कि उसे मनोवांछित भौतिक उन्नति प्राप्त हो सके। दूसरे शब्दों में, राज्य पर अधिकार कर प्रत्येक व्यक्ति अपने न्याय-विषयक दृष्टिकोण को विजयी बनाना चाहता है।

साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) ने इस विचार को एक सुप्रसिद्ध वाक्य में व्यक्त किया था। मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा था, “आधुनिक राज्य की कार्यपालिका पूँजीपतियों के सामान्य मामलों का प्रबन्ध करने वाली एकसमिति है।” इस सूत्र के निष्कर्षों को समझना आवश्यक है।

राज्य पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक दृष्टि से तो वह कुछ व्यक्तियों की एक ऐसी छोटी संस्था प्रतीत होती है जो आदेश देती है और शेष समाज के लिए जिसकी पीठ पर सर्वोच्च दमनकारी सत्ता रहती है। दूसरी दृष्टि से राज्य जैसा कि आदर्शवादियों का विचार था एक ऐसा प्रभावशाली तत्व मालूम पड़ता है जो समाज की प्रत्येक वस्तु को अनुप्राणित करता है तथा उसकी समस्त संस्थाओं व व्यक्तियों को अपने उद्देश्यों के अनुसार ढालता है। ये दोनों पहलू एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं। आदेश देने वाले व्यक्तियों की एक समिति के रूप में राज्य का मुख्य सम्पर्क उन सम्बन्धों की व्यवस्था से होता है जिन पर उत्पादन की पद्धति निर्भर है। समाज की प्रत्येक वस्तु को अनुप्राणित करनेवाले प्रभावशाली तत्व के रूप में राज्य उस समस्त संस्थागत और व्यक्तिगत व्यवहार की व्याख्या करता है जिनका इन सम्बन्धों से संपर्क हो। इसलिए हम समस्त सामाजिक प्रवृत्तियों की व्याख्या राज्य-प्रक्रिया के उस संदर्भ में प्राप्त करेंगे जहाँ ये प्रवृत्तियाँ उत्पादन की पद्धति से उत्पन्न सम्बन्धों पर असर डालती हैं। राज्य उस समस्त व्यवहार पर ध्यान रखेगा जो इन सम्बन्धों को स्पर्श करता है और वह इसे उस वर्ग के हित में नियंत्रित करने की चेष्टा करेगा जिसकी कि समाज में तूती बोलती होगी।

(६)

इस प्रकार का विश्लेषण राजनीति के बहुत से छात्रों को उन समस्त बातों का निषेध मालूम पड़ेगा जिन्हें उन्होंने आधुनिक राज्य के अनुभव में आधारभूत माना है। इतिहास को वर्ग-संघर्ष के परिणामों की विरासत कहना, राज्य को समाज के शक्तिशाली वर्ग के हाथों का उपकरण बताना, कानून को इस वर्ग के हितों के अनुसार ही गठित कहना, हमारी सामाजिक व्यवस्था के समस्त सिद्धान्तों के साथ घोर अन्याय करना है। हमसे कहा जाता है कि इतिहास उन समस्त परिवर्तनों का अभिलेख है जो मनुष्यों ने परम्परागत व्यवस्थाओं के स्थान पर श्रेयस्कर व्यवस्थाओं की स्थापना के लिए किए हैं। राज्य को समझने का सही उपाय यह है कि उसे आदर्श की अभिवृद्धि का एक साधन माना जाये। हम जानते हैं कि बहुत से राजनीतिज्ञ जनता की सच्ची और निस्वार्थ सेवा करते हैं। यह क्यों माना जाये कि उनके प्रयासों के फलस्वरूप एक वर्ग का ही भला होता है, न कि पूरे समाज का ? आधुनिक विधान तो, प्रादिकाल में उसका चाहे कुछ भी रूप क्यों न रहा हो, सब नागरिकों को अपने-आपने के सामने बराबर मानता है और इंग्लैण्ड के वर्तमान न्यायाधीशों की वतन्त्रता तथा ईमानदारी को तो सारा संसार सराहता है। आधुनिक व्यवस्थापन

यह प्रकट करता है कि कोई भी वर्तमान राज्य मानव अधिकारों को सम्पत्ति के हितों के अधीन नहीं करेगा। जब राज्य हमारे भोजन, बाल-कल्याण, रोजगार और शिक्षा की चिन्ता रखता है तथा इन बातों की व्यवस्था करदाताओं के आधार पर करता है, तो उसे वर्ग-संगठन के रूप में देखना निश्चय ही अतिशयोक्ति है।

यही नहीं, ज्यों-ज्यों मनुष्य का प्रकृति के ऊपर अधिकार बढ़ता गया है तथा हमारी सामाजिक चेतना में वृद्धि होती गई है, सम्पत्ति-हीन वर्गों की स्थिति में निश्चित और अविच्छिन्न सुधार होता गया है। भविष्य में हम और भी अधिक सुधारों की आशा कर सकते हैं। हम यह भी देख सकते हैं कि राज्य ने समाज के हित में रेलों, बैंकिंग और प्रसारण जैसे औद्योगिक क्षेत्रों को, जो पहले व्यक्तिगत मुनाफे के वैध क्षेत्र माने जाते थे, अपने अधिकार में कर लिया है। हम सामान्य उपभोक्ता के हित में व्यापारिक एकाधिकारों का सदैव दमन करते हैं। हम उद्योग में मजदूरों से अधिक काम लेने का विरोध करते हैं। फैक्टरी अधिनियम, श्रमिक प्रतिकार, मजदूरी के घंटों का नियमन, औद्योगिक क्षेत्रों में हानिकारक वस्तुओं का निषेध जैसे विधानों से यह प्रकट होता है कि राज्य मुनाफा कमाने की अपेक्षा सार्वजनिक कल्याण को अधिक महत्व देता है। ज्यों-ज्यों लोकमत अधिक प्रबुद्ध होता जायेगा, हम यह आशा कर सकते हैं कि राज्य की सार्वजनिक कल्याण के लिए चिन्ता बढ़ती जायेगी तथा राज्य का कार्यक्षेत्र समाज के किसी विशेष हित की सेवा के पक्षपात से मुक्त होता जायेगा। जितनी गहराई से हम आधुनिक राज्य के कार्यों का विश्लेषण करेंगे, उतना ही अधिक हमें यह मालूम पड़ेगा कि उसके क्रिया-कलाप वर्गगत भेदों की अभिव्यक्ति नहीं हैं।

इस प्रकार का दृष्टिकोण काफी आकर्षक है, फिर भी हम उसके दोषों की ओर से अपनी आँखें नहीं मूंद सकते। इससे यह पता नहीं चलता कि सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में मनुष्य के विचार प्रत्येक युग में क्यों बदल जाते हैं? दासता क्यों एक युग में सहा और दूसरे युग में असह्य मालूम पड़ती है? यह दृष्टिकोण इस तथ्य की उपेक्षा कर देता है कि जिन-जिन लाभों को इसने गिनाया है, वे सब कठिन संघर्ष के उपरान्त प्राप्त हुए थे। इंग्लैण्ड में इस विचार को प्रतिष्ठित करने के लिए कि राज्य अपने नागरिकों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए उत्तरदायी है, साठ वर्ष लगे थे और आज भी उच्च शिक्षा जिसे विशेषज्ञ बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक मानते हैं, केवल थोड़े से लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।^१ यद्यपि हमने मजदूरी के घंटों पर कुछ प्रतिबन्ध लगा

१. देखिए, आर. एच. टाउनी रचित *इक्वैलिटी*, अध्याय ३ और इस अध्याय पर टिप्पणियाँ।

दिया है, फिर भी दुकान के सहायकों, घर के नौकरों और खेत के मजदूरों की दशा बड़ी असन्तोषजनक है। फेक्टरी अधिनियम और श्रमिक प्रतिकर के प्रश्न को लेकर नियोजकों और कर्मचारियों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। अब यह संघर्ष सैद्धान्तिक आधार पर तो नहीं परन्तु व्यावहारिक आधार पर अवश्य होता है। हम कठिन परिश्रम वाले उद्योगों और गन्दी बस्तियों की समस्या को सुलझाते हैं लेकिन कठिन परिश्रम वाले उद्योगों और गन्दी बस्तियों की दशाओं के बारे में व्यापक मतभेद हैं। हम बेरोजगारों को थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य देते हैं, लेकिन यह सहायता बिल्कुल अपर्याप्त है।^१

जिसे हम सामाजिक चेतना की वृद्धि कहते हैं, वह केवल स्थापित आशा का बदला हुआ विचार है जिसके लिए वर्ग-संघर्ष उत्तरदायी है। इस संघर्ष के दबाव के फलस्वरूप उत्पादन के साधनों के स्वामी को जहाँ तहाँ झुकना पड़ता है। लेकिन वे केवल मोटी-मोटी बातों पर ही झुकते हैं, केन्द्रीय महत्व की किसी बात पर नहीं। आज भी समाज में जिसके हाथों में धन है, उसी को भौतिक उन्नति करने का सच्चा अधिकार रहता है। न्याय की मान्यताएँ भी इसी सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित एवं संचालित होती हैं। जब हमसे यह कहा जाता है कि हम स्कूल छोड़ने की अवस्था को १५ वर्ष की आयु तक बढ़ाने का खर्च उस समय सहन नहीं कर सकते जब कि हम शस्त्रास्त्रों की एक नई प्रतियोगिता प्रारम्भ कर रहे हैं, जब कि १९३१ की आर्थिक क्षति की पूर्ति अधिक कर देने वालों की माँगों के मुकाबले ठीक करनी है, जबकि आवास सम्बन्धी सहायताएँ स्थापित कर दी जाती हैं और जहाजरानी, चुकंदर तथा चर्वी के व्यापारियों को बड़े-बड़े अनुदान दिए जाते हैं (साथ ही इन उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की दशा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता); तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान काल में भी मूल्यों का संघर्ष किसी पूर्वकालीन युग की अपेक्षा कम गम्भीर नहीं है। अब इस संघर्ष का उद्देश्य अवश्य बदल गया है। लेकिन संघर्ष अब भी है।

इस संघर्ष का निर्णायक आर्थिक वर्गों की इस शक्ति पर निर्भर है कि वे राज्य के कार्यक्रम पर कहाँ तक प्रभाव डाल सकते हैं। चूँकि राज्य पर उसी एक वर्ग का नियंत्रण रहता है जो मुनाफा कमाने के उद्देश्य से उत्पादन के साधनों का उपयोग करता है, अतः यह स्वाभाविक है कि हमारी सामाजिक चेतना भी उन्हीं बातों का अनुमोदन करेगी जिन्हें यह उद्देश्य निर्धारित करता है। यह

१. एच. एल. बील्स और आर. एस. लेम्बर्ट रचित **मेमोयर्स ऑफ दि अनएम्प्लायड** (१९३४); ई. बक्के, **दि अनएम्प्लायड मैन** (१९३४)।

ठीक है कि आर्थिक विस्तार के साथ ही साथ सामाजिक चेतना की सीमाएँ भी बढ़ जाती हैं, लेकिन ये सीमाएँ मुनाफा कमाने की सीमाओं से सदैव छोटी होती हैं। जब तक हमारे समाज के वैधानिक सम्बन्ध वर्ग-संगठन के निष्कर्षों की रक्षा करते हैं, इस वर्ग-संगठन की आवश्यकताएँ ही उन सीमाओं को निर्धारित करती हैं जिनके भीतर हमारी सामाजिक चेतना विस्तार पा सकती है। जर्मनी और इटली के अनुभव से इन सीमाओं के लचीलेपन का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और इन सीमाओं को बदलने का एकमात्र उपाय उस वर्ग-संगठन को बदलना है जो उन्हें निर्धारित करता है।

कानून के समक्ष समानता के सिद्धान्त को सार्वभौम माना जाता है लेकिन यदि हम इस सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप का परीक्षण करें तो हमें ज्ञात होगा कि इस सिद्धान्त का प्रयोग भी समाज के आधारभूत सिद्धान्तों के आश्रित रहता है। हमारे लिए यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि सम्पूर्ण विधान ही वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति होता है। यह स्पष्ट है कि व्यावसायिक क्षेत्र के अधिकांश विधान का वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन मेरे विचार से यह भी समान रूप से ही सही है कि वर्ग-संघर्ष के विचार ने हमारी सभी महत्वपूर्ण वैधानिक मान्यताओं को आच्छादित कर रखा है। राजद्रोह के विधान (Law of Sedition) का मन्तव्य यही है कि वह आक्रमण की धमकी से वर्तमान समाज-व्यवस्था को यथाविधि कायम रखना चाहता है। हम कहते हैं कि यह विधान शान्ति और व्यवस्था कायम रखता है। लेकिन यह शान्ति और व्यवस्था ऐसी है जो एक विशेष प्रकार के वर्ग-सम्बन्धों की रक्षा करती है। हमारे न्यायालयों का श्रमिक संघों के अभियोगों के प्रति जो दृष्टिकोण रहता है, वह एक ऐसे मानसिक वातावरण का सूचक है जिसका सदैव से ही यह विश्वास रहा है कि श्रमिक संघ उस समाज के संतुलन को नष्ट कर देते हैं जो इस सिद्धान्त पर आधारित है कि उत्पादन के साधन व्यक्तिगत लोगों के हाथों में रहने चाहिए। अमेरिकी न्यायालय मजदूरों के विवादों में कानूनी आदेश (injunction) का प्रयोग वर्ग-संघर्ष के एक हथियार के रूप में करते हैं।^१ अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय का सामाजिक विधान के प्रति दृष्टिकोण चौदहवें संशोधन के आधार पर निर्मित हुआ था। न्यायमूर्ति होम्स के अनुसार इस संशोधन ने श्री हर्बर्ट स्पेंसर के सोशल स्टेटिक्स (Social Statics) ग्रन्थ को अमेरिकी संविधान की रूप-

रेखा में समाविष्ट कर दिया था।^१ लॉर्ड-सभा ने जो अपने निर्णयों का अतिक्रमण नहीं करती, “रॉबर्ट्स बनाम होपवुड” (Roberts v. Hopwood) ने वैधानिक निर्वाचन के ऐसे सिद्धान्तों को निर्धारित किया है जिनके अनुसार किसी स्थानीय सत्ता को “जो विधान द्वारा उचित वेतन देने के अधिकार रखती है” अपनी स्वविवेकी शक्ति का युक्तिसंगत प्रयोग करना चाहिए और फिर युक्तिसंगत की व्याख्या यह कहकर की गई है कि वे ऐसे वेतन हैं जो जिले में प्रचलित सम्बद्ध कार्य के वेतन से १० प्रतिशत से अधिक न हों। न्यायाधीश पैरी ने यह दिखा दिया है कि श्रमिक प्रतिकर अधिनियम (Workmen’s Compensation Act) की प्रारम्भिक व्याख्याओं ने उसके सम्पूर्ण उद्देश्य को किस प्रकार निष्फल कर दिया था। ये व्याख्याएँ न्यायाधीशों की अरुचि का फल थीं। पूँजीवादी समाज में समुदायवादी विधान के प्रति न्यायाधीशों की यह अरुचि आसानी से समझ में आ जाती है।^३ यदि कोई व्यक्ति नैपोलियन के समय के राजद्रोह सम्बन्धी अभियोगों के या गत १५-२० वर्षों के अमेरिका के स्वतन्त्र भाषण सम्बन्धी अभियोगों के वातावरण^४ का अनुशीलन करे, उसे यह ज्ञात हो जायेगा कि न्यायपालिका भी उस समाज के जिसमें वह कार्य करती है, वर्ग-संगठन का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि जिस व्यक्ति के पास धन होता है, वही अपने अधिकारों की रक्षा के सम्बन्ध में विधान द्वारा दी गई सुविधाओं से पूरा लाभ उठा सकता है। कोई व्यक्ति न्यायालयों में कहाँ तक कार्यवाही कर सकता है, यह प्रश्न गरीबों के लिए कानूनी सहायता की व्यवस्था के होते हुए भी विशुद्ध रूप से एक आर्थिक प्रश्न है। दीवानी मामलों में तो जिनमें कि अपीलों का एक श्रेणीबद्ध संगठन होता है, अमीरों की ही चांदी रहती है। मोटे तौर पर कानून के सम्मुख समानता केवल तभी सम्भव है जब कि लोग कानून की सुविधाओं से लाभ उठाने की समान कीमत दे सकें। इस समस्या का कोई समाधान नहीं है। हमारे समाज में जिसमें ऐसे वर्ग-सम्बन्ध हैं, यह समस्या अवश्यम्भावी है। इन वर्ग-सम्बन्धों का यह भी एक अर्थ हो जाता है कि हमारे समाज के सर्वश्रेष्ठ वकील केवल उन्हीं लोगों की सेवा करेंगे जो कि

१. एडायर बनाम यू. एस. (१९०८) २०८ यू. एस. १६१।

२. (१९२५) ए. सी. ५७८।

३. कोकबर्न, एन एक्जमिनेशन ऑफ दि ट्रायल्स फार सेडीशन इन स्काटलैण्ड।

४. चेफी, फ्रीडम ऑफ स्पीच (१९२१)।

उनका पारिश्रमिक चुकाने की शक्ति रखते हैं। आंग्ल-अमेरिकी पद्धति में न्यायपालिका के अधिकांश सदस्य सफल वकीलों की श्रेणी में से आते हैं और सफल वकीलों की श्रेणी जीवनपर्यन्त हमारे समाज के प्रभुताशाली वर्ग की सेवा करती रहती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि इस वकील का दृष्टिकोण भी इस वर्ग का-सा ही हो जाता है और वह अपने बौद्धिक प्रभाव को उस वर्ग के पक्ष में ही प्रयुक्त करता है। यह श्रमिकों की सहज प्रवृत्ति ही है कि उन्होंने कानूनी व्यवसाय को रूढ़िवाद के रक्षक के रूप में देखा है।^१

यह समझ लेना चाहिए कि मैं किसी भी प्रकार वकील या कानूनी पद्धति की सद्भावना को चुनौती नहीं दे रहा हूँ। मैं केवल यही कह रहा हूँ कि जहाँ एक बार समाज के सिद्धान्तों के फलस्वरूप असमानता पैदा हो जाती है, इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य इस असमानता को बनाए रखना होता है। हमारे जैसे देश में जहाँ कानून का अधिकांश भाग पूर्व दृष्टान्तों पर आधारित होता है, वकील के लिए एक नया मार्ग निकालने की अपेक्षा भूतकाल की अविच्छिन्नता की ओर ध्यान देना अधिक स्वाभाविक होता है। न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून शायद ही नया कानून होता हो। उस समय की बात दूसरी है जब कि न्यायाधीशों को ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ जाये जिसमें कि मार्गदर्शक पूर्वदृष्टान्त बहुत कम हों या सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार अव्यवस्थित हों। सामान्यतः न्यायाधीश सम्पत्ति-विषयक अधिकारों का समर्थन ही करता है। यही कारण है कि कानूनी मुद्धार के अधिकांश आंदोलन या तो इस व्यवसाय के विल्कुल बाहर से उठे हैं या उसके ऐसे सदस्यों की ओर से उठे हैं जिनका बंधन की भाँति उससे केवल सतही सम्बन्ध रहा है। कानूनी व्यवस्था का कार्य समाज के सिद्धान्तों को संचालित रखना है। यदि इसके द्वारा इन सिद्धान्तों में आधारभूत परिवर्तन हो सके, तो यह सचमुच एक अद्वितीय बात होगी।

उदारचेता विचारक इस दृष्टिकोण का दो कारणों से विरोध करते हैं। उनका कहना है कि आजकल का आदर्श राज्य विशेषकर जब कि वह लोक-तन्त्रात्मक राज्य है, कानून के शासन पर निर्भर रहता है। इस उद्देश्य से कि कानून का यह शासन न केवल साधारण नागरिक को ही, प्रत्युत राज्य-शक्ति का संचालन करने वाली सरकार को भी बाँध सके, न्यायपालिका को कार्य-पालिका से स्वतंत्र और पृथक् रखा जाता है।

१. देखिए मेरी पुस्तक, *डेमोक्रेसी इन काइसिस* (१९३३), पृ० १२८।

लेकिन, कानून का शासन-सूत्र केवल एक विचार ही विचार है और उसमें कोई वास्तविकता नहीं है। इससे राज्य के शासक अपने द्वारा निर्मित कानून से बंधे रहते हैं लेकिन वे अपने मनोनुकूल कानून का निर्माण तो कर ही सकते हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस या चेकोस्लोवाकिया की भाँति हिटलर का राज्य भी इस अर्थ में कि वहाँ हिटलर को तानाशाही शक्ति कानूनी व्यवस्था द्वारा प्राप्त हुई है, कानून का शासन है। ब्रिटिश सरकार वंशी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम (Habeas Corpus Act)^१ और 'डे कीसर्स होटेल' (De Keyser's Hotel Case) के अभियोग में निर्धारित सम्पत्ति लेने के अधिकार का नियमन करने वाले सिद्धान्तों से बँधी हुई है लेकिन उमे आयात-शक्ति अधिनियम (Emergency Powers Act)^२ के अनुसार इन समस्त नियमों को जब वह उपयुक्त समझे स्थगित करने का अधिकार है। वह "एक्स पार्टे औ ब्रिएन" (Ex Parte O' Brien) जैसे अभियोग में गम्भीर अवैधताओं के लिए दोषी हो सकती है और यह निश्चय कर सकती है कि वह क्षतिपूर्ति अधिनियम (Act of Indemnity)^३ के अनुसार उनके दण्ड को वहन नहीं करेगी। कानून के शासन के विचार पर एक प्रतिबन्ध यह लगा हुआ है कि राज्य अपनी प्रभुत्व-शक्ति द्वारा कानून के तत्व को बदल सकता है। उपचारिक दृष्टि से कानूनी निरपेक्षता का विचार प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धान्त में अन्तर्निहित है और संकट-काल में कानून के शासन की परम्परागत मान्यताएँ संकट की आवश्यकताओं के अनुरूप हो जाती हैं। जिन लोगों ने १९१९ में बीमर-संविधान का निर्माण किया था, उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि अनुच्छेद ४८ के आधार पर हिटलर के राज्य का उद्भव होगा।

हमारे लिए न्यायपालिका और कार्यपालिका के पृथक्करण का महत्व कम करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। वह बहुत काफी है, लेकिन फिर भी उसकी अपनी कुछ सीमाएँ हैं। पहली बात यह है कि न्यायाधीश जिन सिद्धान्तों का सामान्यतः प्रयोग करते हैं, वे उन्हें उस विधान द्वारा प्राप्त होते हैं जिसका वे निर्वचन करते हैं। पूँजीवादी समाज में विधान समाज के आधार-भूत प्रयोजनों को व्यक्त करता है। दूसरी बात यह है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका करती है। राज्य में न्यायाधीशों का जितना अधिक

१. देखिए एल. स्कॉट द्वारा सम्पादित *दि केस ऑफ रेब्यूजिशन* (१९२०)।

२. देखिए कीर और लॉसन कृत *केसिज़ इन कंस्टीट्यूशनल लॉ*, पृ० ३६५-६७।

३. (१९२३) ए. सी. ६०३।

अधिकार होगा, उतना ही अधिक कार्यपालिका इस बात का ध्यान रखेगी कि वह ऐसे व्यक्तियों को न्यायिक पदों पर नियुक्त करे जिनकी विचारधारा पर उसका विश्वास हो । अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय में अब तक जिन-जिन न्यायाधीशों को मनोनीत किया गया है, उनके इतिहास का विश्लेषण कर कोई भी व्यक्ति इस बात की जाँच कर सकता है । किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के पद पर नियुक्त करते समय इस बात पर कि आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों की ओर उसका क्या दृष्टिकोण रहता है, विशेष ध्यान दिया जाता है । चूंकि वकील सामान्यतः सम्पत्तिशाली वर्ग का सदस्य होता है, अतः उसकी इस वर्ग की विचारधारा के प्रति सहानुभूति होना स्वाभाविक है । इस क्षेत्र में इंग्लैण्ड के श्रमिक दल ने जिस कठिनाई का सामना किया है, वह सुविख्यात है । महाद्वीपीय देशों में न्यायाधीशों के “स्वतंत्र निर्णय” के सिद्धान्त को संस्थागत अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है । इसके फलस्वरूप विधान की व्याख्या पर रूढ़िवादी तत्वों का अभिष्ट प्रभाव पड़ा है ।

न्यायपालिका और कार्यपालिका के पृथक्करण का महत्व ठीक से समझने के लिए अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के संचालन पर किंचित् विचार करना उपयोगी होगा क्योंकि इस देश में आर्थिक विकास ने न्याय-व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डाला है । यदि कोई व्यक्ति न्यायालय के पहले पचास वर्षों के इतिहास का परीक्षण करे तो उसे “फ्लेचर बनाम पेक” (Fletcher v. Peck) तथा “डारमाउथ कॉलिज” (Darmouth College) जैसे अभियोगों के निर्णयों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की विचारधारा का ज्ञान हो जायेगा । इन अभियोगों में राज्य-विधान-मंडलों का मुख्य उद्देश्य सम्पत्तिशाली वर्ग के अधिष्ठित स्वार्थ की रक्षा करना था । इन राज्यों में आर्थिक संकट पैदा हो गया था और वे सम्पत्ति के अधिकारों को रद्द करने की ओर उन्मुख हो गए थे । न्यायिक राष्ट्रवाद के इस युग को मार्शल ने प्रारम्भ किया था । यह संघवादियों की इस चेष्टा का परिणाम था कि ऐसे वातावरण का निर्माण किया जाये जिसके फलस्वरूप वारिण्य के क्षेत्र में उन लोगों का कोई हस्तक्षेप न हो सके जिन्हें क्रांति-युद्ध के फलस्वरूप कष्ट उठाना पड़ा था ।

अमेरिका के इतिहास में इन पचास वर्षों का समय ऐसा रहा है जिसमें आधुनिक औद्योगिक समाज का धीरे-धीरे अवतरण हो रहा है । इस अवस्था के लिए आवश्यक कार्य मार्शल और उनके तात्कालिक उत्तराधिकारियों ने अच्छी तरह कर दिया था । १८३० से गृह-युद्ध तक न्यायालय ने वैधानिकवाद के उन सिद्धान्तों का ही प्रयोग किया था जिन्हें उसने पहले से ही निश्चित कर

रक्खा था। पश्चिम के भूमि और धन सम्बन्धी प्रयोगों के प्रति उसके दृष्टिकोण ने यह सिद्ध कर दिया था कि वह सम्पत्ति के अधिष्ठित स्वार्थों को आधारभूत विधान का सा महत्व देता था।^१ “ड्रेड स्कॉट” (Dred Scott) निर्णय ने यह स्पष्ट कर दिया था कि औद्योगिक और कृषिगत पूँजीवाद का विवाद अभी निर्णीत होना था। लेकिन जैसे ही “सेन मेट्रो” (Sen Mateo) अभियोग के पश्चात् यह प्रश्न साफ-साफ उठाया गया, यह स्पष्ट हो गया था कि न्यायालय का प्रेरक उद्देश्य विस्तारशील उद्योग की रक्षा करना है, चाहे उसके निर्णय ने जैसा कि श्री कोटे (Choate) ने “पोलक बनाम फार्मर्स लोन एंड ट्रस्ट को०” (Pollock v. Farmers’ Loan and Trust Co.) में कहा था, “छः करोड़ नागरिकों की एक विशाल सेना को असंतुष्ट कर दिया था।” १८८० तक सर्वोच्च न्यायालय आर्थिक व्यक्तिवाद (Laissez-faire) का प्रबल प्रतिपादक बन गया था।

प्रायः पच्चीस वर्ष तक यही स्थिति रही। इस अवधि में उसका मुख्य उद्देश्य राज्य-सरकार या संघ-सरकार के व्यापारिक क्षेत्र में हस्तक्षेप को रोकना था। उसने प्रसंविदा की स्वतन्त्रता, कानून की उचित प्रक्रिया, पुलिस-शक्ति एवं औचित्य की कुछ ऐसी मान्यताएँ विकसित की हैं जो व्यापारियों को अबाध मुनाफा कमाने की छूट देती हैं। “स्मिथ बनाम एमीज” (Smith v. Ames)^२ “एम्प्लायर्स लायबिलिटी केसेज” (Employers’ Liability Cases),^३ “लोकनर बनाम न्यूयार्क” (Lochner v. New York)^४ और “पोलक बनाम फार्मर्स लोन एंड ट्रस्ट को०” (Pollock v. Farmers’ Loan and Trust Co.)^५ आदि सब ऐसे निर्णय हैं जो उन सिद्धान्तों को स्पष्ट कर देते हैं जिनके आधार पर न्यायाधीश अपने युग की प्रमुख आर्थिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हैं। उनकी चेष्टाओं से यह प्रमाणित हो जाता है कि पूँजीवादी समाज में वैधानिक कानून को पूँजीवाद की आवश्यकताओं के आश्रित होना चाहिए।

यह स्मर्तव्य है कि पिछले तीस वर्षों में न्यायालय के कार्य का मुख्य

१. सी. जी. हेन्स, दि अमेरिकन डॉक्ट्रिन ऑफ ज्यूडिशियल सुप्रेमेसी, पृ. ४००।

२. (१८६८) १६६ यू. एस. ४६६।

३. (१८८८) २०७ यू. एस. ४६३।

४. (१८९५) १८८ यू. एस. ४५।

५. उपर्युक्त।

महत्व नहीं बदला है। प्रबल पूंजीवाद के संचालन, औद्योगिक नियमन की चेष्टा (उदाहरणार्थ शर्मन विधान के प्रयोग में), ट्रस्टों के आकार को सीमित करने के आन्दोलन और विधान के ऊपर न्यायिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में अमेरिकी जनता की शंकायें और संदेह न्यायालयों के निर्णयों में प्रतिबिम्बित होते हैं। महायुद्ध और महान अवपात जैसे गम्भीर संकटों में न्यायालय कांग्रेस की अपेक्षा धीरे-धीरे झुका है लेकिन झुका अवश्य है। साम्यवादी आन्दोलन के उद्भव ने उसे उत्तेजित किया लेकिन यह उत्तेजना व्यापारिक क्षेत्र की अपेक्षा कम थी।^१ इससे यह पता चल गया कि पूंजीवादी यह नहीं समझ सकते कि कोई शांतिवादी व्यक्ति भी अच्छा देशभक्त हो सकता है।^२ उसने रूजवेल्ट के विधान की वैधानिकता को स्वीकार तो किया लेकिन संदेहपूर्वक। मेरा विचार है कि यदि कोई व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय के पिछले तीस वर्षों के, विशेषकर पिछले पन्द्रह वर्षों के कार्य का परीक्षण करे, तो वह एक निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेगा। वह यह अनुभव करेगा कि अमेरिका में १८६५ से १९०० की अवधि के निर्बाध पूंजीवाद के प्रति बढ़ते हुए विरोध ने न्यायाधीशों की विचारधारा को भी प्रभावित किया है। लेकिन न्यायाधीश यह नहीं समझ सके हैं कि पूंजीवाद की आवश्यकताओं एवं सामाजिक नियमन की आवश्यकताओं के बीच वैधानिक सन्तुलन किस प्रकार स्थापित किया जाये। इस युग में केवल दो ही न्यायाधीशों—न्यायमूर्ति होम्स और न्यायमूर्ति बेंडीज ने ही इस प्रश्न को तनिक गम्भीरता से हल करने का प्रयास किया है। न्यायमूर्ति होम्स का विचार था कि यदि कोई विधान-मण्डल संविधान के मूलतत्त्व की उपेक्षा नहीं करता, तो उसे अपने मनोवांछित कृत्य को करने का पूरा अधिकार मिलना चाहिए। न्यायमूर्ति बेंडीज का मत था कि पूंजीवादी संगठन का विकास उसी समय सम्भव है, जबकि उसकी इकाइयाँ काफी छोटी हों और उन पर लोकहित की दृष्टि से उचित नियंत्रण रह सके। लेकिन यह तो अभी भविष्य के गर्भ में ही है कि क्या इनमें से कोई दर्शन अमेरिकी पूंजीवाद के अन्तर्विरोधों का शमन कर सकेगा।

मैंने सर्वोच्च न्यायालय के इस दृष्टिकोण का विश्लेषण इसलिए नहीं किया है कि इसमें अन्य देशों के न्यायालयों से कोई भिन्न बात है। मैंने तो यह इसलिए किया है क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय के विशेष कृत्य उन मान्यताओं को बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं जो अन्यत्र प्रायः वास्तविक विधान में समाविष्ट

१. व्हिटनी बनाम कैलिफोर्निया (१९२७) २७४ यू. एस. ३५७।

२. यू. एस. बनाम श्विमर (१९२८) २७६ यू. एस. ६४४।

होती है। सर्वोच्च न्यायालय का इतिहास यह प्रकट कर देता है कि उसके विधान की विषय-वस्तु जीवन से कभी दूर नहीं है। दोनों का निर्माण एक से दवावों से होता है। इनके स्वरूप का गठन समाज की आर्थिक पृष्ठभूमि द्वारा होता है। कहने का सार यह है कि कानून संघर्ष से पृथक् या उसके परिणामों के प्रति उदासीन होने के अभिप्राय में कदापि निष्पक्ष नहीं है। न्यायालय इस संघर्ष में शक्तिशाली साधन के रूप में रहते हैं। वे समाज की नीति को विधान-मंडल अथवा कार्यपालिका की अपेक्षा अधिक गहराई से निर्धारित करते हैं। वे उन वर्ग-विरोधों के, जो अपने वातावरण की रचना करते हैं, परिणाम को कार्यान्वित करते हैं।

(७)

यदि कोई व्यक्ति इस पुस्तक की युक्तियों का खंडन करता है, तो उसे यह प्रमाणित करना होगा कि वर्तमान वर्ग-व्यवस्था समाज की उत्पादन-शक्ति के पूर्ण उपयोग में कोई बाधा उपस्थित नहीं करती। यदि यह प्रकट हो जाये कि पूंजीवाद अपने संकटों का सदैव व्यवहारिक समाधान पा सकता है, यदि वैसा अवपात (Depression) जिससे संसार १९२९ के बाद से पीड़ित रहा है किसी घातक रोग का लक्षण न होकर उत्थान के मार्ग में एक विराम मात्र है, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि हालत सम्मिलित ही एक ऐसे उत्पादन-संतुलन की स्थापना की जा सकती है जिसमें कि भौतिक उन्नति के लिए मजदूरों की मांगों को ऊँचे धरातल पर पूरा किया जा सकता है। जहाँ यह हो सकता है, मेरा विचार है, कि श्रमिक वर्ग समाज के वर्ग-सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे। क्रान्ति तभी होती है, जबकि एक वर्ग को यह विश्वास हो जाता है कि वर्तमान वर्ग-सम्बन्धों में नए उच्च धरातल को प्राप्त नहीं किया जा सकता चाहे उसकी संभावना विद्यमान हो।

यह सिद्ध करने की चेष्टा कि हालत सम्मिलित हो सकती है, दो रूप ग्रहण करती है। एक विचारधारा के अनुसार अवपात का कारण यह है कि हम पूंजीपतियों की आवश्यकताओं के अनुसार आचरण नहीं कर सके। यदि हम हालत को सुधारना चाहते हैं तो हमारे लिए यह वांछनीय है कि हम पूंजीवाद की आवश्यकताओं के अनुसार ही कार्य करें। पूंजीवादी समाज में “लैसेज फ़ेयर” की शक्तिशाली नीति ही आर्थिक कल्याण की शर्त है।

इस युक्ति की दुर्बलता इसका भावसूक्ष्म स्वरूप है। इसका पूंजीवाद पूंजीपतियों का पूंजीवाद नहीं है प्रत्युत उस आदर्श विश्व का पूंजीवाद है जो हमारे जीवन-काल में कभी यथार्थ नहीं रहा है। इसके प्रस्ताव केवल क्रांतिकारी

ही नहीं है—क्योंकि यह समझ में नहीं आता कि क्रांति के बिना हम आधुनिक राज्य के उत्तरदायित्वों को कैसे त्याग सकते हैं—प्रत्युत वे जैसा कि मैं कह चुका हूँ राजनीतिक स्थायित्व की प्राप्ति पर केन्द्रोन्मुखी हो जाते हैं।^१ लेकिन हम राजनीतिक स्थायित्व समाज की आर्थिक अवस्था से स्वतंत्र होकर प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि राजनीतिक स्थायित्व उन आर्थिक तत्वों का परिणाम होता है जिनके ऊपर समाज आधारित होता है। “लैसेज़ फ़ेयर” सिद्धान्त के माननेवाले अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यदि हम नए संतुलन की कीमत देने के लिए तैयार हों तो आदर्श पूंजीवाद उसे पंदा कर सकता है। (क) इसकी कीमत पिछले तीस-चालीस वर्षों के समाजिक विधान को त्याग देना है, और चूँकि (ख) यह विधान व्यावहारिक पूंजीवाद सम्बन्धी हमारे अनुभव का परिणाम था, अतः हम यह संदेह कर सकते हैं कि क्या मनुष्य इस कीमत को देने के लिए तैयार होंगे।

दूसरी विचारधारा अधिक व्यावहारिक है। इस विचारधारा के समर्थकों का सर आर्थर सैल्टर और श्री कीन्स की भाँति यह विचार है कि राज्य के प्रयोग और नियन्त्रण को अधिक व्यापक कर देने से मुनाफ़ा कमाने का उद्देश्य हमारी आवश्यकताओं के आश्रित हो सकता है। वे उद्योग के नए स्वरूपों विशेषकर पब्लिक कॉर्पोरेशन के महत्व की ओर संकेत करते हैं। पब्लिक कॉर्पोरेशन में सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामी ऋणपत्र-धारी (Debenture-Holder) बन जाता है और उसे उद्योग के नियन्त्रण में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं रहता। इस विचारधारा के अनुयाइयों का विश्वास है कि यदि राज्य के नियमन में इस प्रकार विस्तार कर दिया जाये जिस प्रकार श्री रूज़वेल्ट ने अपना कार्य किया है, तो हम आर्थिक कल्याण के एक नए युग में पदार्पण कर सकते हैं।

यह तर्क कुछ रोचक मान्यताओं पर आधारित है। इसकी पहली मान्यता तो यह है कि वर्गों के आर्थिक संघर्ष में राज्य एक निष्पक्ष निर्णायक है जिसका उद्देश्य सभी लोगों का कल्याण करना है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि एक समाज के सिद्धान्त राज्य को अपनी मनचाही दिशा में नहीं ले जाते। इसका एक निष्कर्ष यह भी है कि कानून पूंजीपतियों को ‘अच्छे’ और ‘बुरे’ की दो श्रेणियों में विभक्त कर सकता है और इन श्रेणियों का निर्धारण निष्पक्ष राज्य के निर्णय द्वारा होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार “लैसेज़ फ़ेयर” के युग की ओर तो प्रत्यावर्तन असंभव है लेकिन पूंजीवाद और समाजवाद का

एक मध्यम मार्ग निकाला जा सकता है जो सम्पूर्ण समाज के हित में राज्य द्वारा संचालित हो लेकिन वर्ग-सम्बन्धों में कोई मूलभूत परिवर्तन न करे।

मैं उन कारणों का पहले ही निर्देश कर चुका हूँ जिनकी वजह से मुझे यह विचार तथ्यों के प्रतिकूल दिखाई देता है। निष्पक्ष राज्य का एक ऐसा सिद्धान्त जो वर्ग-विरोधों से ऊपर उठ सकता है, यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। हमारे समाज का जैसा स्वरूप है, उसमें कुछ राज्य ऐसे हो सकते हैं, जो सामाजिक शांति के लिए कुछ राज्यों से अधिक कीमत दे सकें। बस, इससे अधिक के लिए हमारे पास कोई साक्ष्य नहीं है। अर्थशास्त्र में अच्छे और बुरे का अर्थ यही है कि क्या उनसे कुछ मुनाफा होता है या नहीं। यदि किसी वस्तु से मुनाफा होता है, तो वह अच्छी है, यदि मुनाफा नहीं होता तो वह बुरी है। यदि कोई व्यक्ति पूँजीवाद के इतिहास का विश्लेषण करे, तो उसे इस बात पर यकीन नहीं आयेगा कि पूँजीवाद मुनाफा कमाने की अपनी प्रेरणा पर कुछ नैतिक मर्यादाएँ स्वीकार कर लेगा। नैतिक मर्यादाओं की इस माँग में एक बड़ी दुर्बलता यह है कि वह इन मर्यादाओं को आर्थिक प्रक्रिया की परिणाम नहीं, प्रत्युत उससे अलग की वस्तु मानती है। हमारी अधिकांश नैतिक मान्यताओं का आधार विशुद्ध रूप से आर्थिक होता है। नैतिक मान्यताएँ भी अर्थ-व्यवस्था से पृथक् नहीं हैं। अफ्रीका में हमने जो कुछ शोषण किया है, उसका इतिहास इस बात का पर्याप्त प्रमाण है। हमने ट्रस्टीशिप के ऐसे सराहनीय सिद्धान्तों की स्थापना की है जिनसे वहाँ की आदि जातियों के हितों की रक्षा हो सके लेकिन जैसे ही वहाँ स्वर्ण की खानों का पता चलता है, हम ऐसे कई कारणों की खोज कर लेते हैं जिनके अनुसार हमारे लिए उन खानों पर आक्रमण करना वैध हो जाता है। हम यह मान लेते हैं कि आदिवासियों को यह विश्वास रखना चाहिए कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं, उनकी भलाई के लिए कर रहे हैं। क्या उन व्यक्तियों पर जिन्होंने १९३० और १९३३ में कीनिया की भूमि-नीति में आमूल परिवर्तन कर दिया था, यह विश्वास किया जा सकता है कि वे राज्य का निष्पक्ष रीति से प्रयोग करेंगे ?

लेकिन ये आदमी सच्चे हैं, इनसे जितना हो सकता है, कर रहे हैं। वे वास्तव में सम्पूर्ण समाज की भलाई चाहते हैं। यदि मैं राजनीतिज्ञों के उद्देश्यों पर कोई सन्देह करूँ, तो मेरा यह पुस्तक लिखने का प्रयोजन ही व्यर्थ है। मेरा तर्क तो इससे भिन्न है। मेरा तो केवल यही कहना है कि अच्छे-बुरे के सम्बन्ध में हमारे विचार निरपेक्ष नहीं होते प्रत्युत वे आर्थिक वातावरण के

आपेक्षिक होते हैं। आज की आर्थिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति जो कार्य करेगा, उसी कार्य के अनुसार उसके विचार बनेंगे। लेकिन यह कहना तो निष्पक्ष राज्य की सम्भावना को अस्वीकार करना है क्योंकि यदि भौतिक कल्याण के सम्बन्ध में समाज के भिन्न वर्गों के भिन्न दावे हो गए, तो वह वर्ग जिसके हाथों में उत्पादन के साधन हैं, राज्य की शक्ति को निश्चित रूप से अपने विचारों की विजय के लिए प्रयुक्त करेगा। ऐसा करते समय उसके मन में यह विश्वास होगा कि वह जो कुछ कर रहा है, समाज की भलाई के लिए कर रहा है। लेकिन जिन लोगों के हाथ में उत्पादन के साधन नहीं हैं, उनकी यह धारणा नहीं होगी।

इस दूसरी विचारधारा का तर्क यहाँ प्रस्तुत किए गए सिद्धान्त में गर्भित आक्षेप का कोई समाधान नहीं करता। मेरा निवेदन तो केवल यही है कि जब किसी समाज के वर्ग-सम्बन्ध उत्पादन-प्रक्रिया के परिणामों का वितरण असम्भव कर देते हैं, तो वे व्यक्ति जिनकी भौतिक कल्याण सम्बन्धी दृढ़ आशाएँ बार-बार निराशा में परिणत होती हैं, इन वर्ग-सम्बन्धों को बदलने की चेष्टा करेंगे। मैंने यह भी कहा है कि यदि प्रभुत्वशील वर्ग स्वेच्छा से त्याग नहीं करता, जो इतिहास में शायद ही कभी हुआ हो, तो इसके परिणामस्वरूप सामाजिक क्रान्ति होगी। मैंने यह नहीं कहा है कि क्रान्ति सफल होगी। मैंने केवल यही कहा है कि इस प्रकार की चेष्टा टल नहीं सकती।

मेरा विश्वास है कि पूंजीवाद के इतिहास में अब हम एक ऐसे युग में पहुँच गए हैं जिसमें वर्ग-संगठन तथा सम्भाव्य उत्पादकता का अन्तर्विरोध वर्तमान समाज-व्यवस्था में हल नहीं हो सकता। मैं राष्ट्रपति रूजवेल्ट के इस निदान को स्वीकार नहीं करता कि हमारी वर्तमान कठिनाइयों का मूल कारण कुछ व्यापारियों के अनैतिक आचरण है और यदि ये अनैतिक आचरण समाप्त हो जायें, तो हमारी अर्थ-व्यवस्था ठीक हो जायेगी। मैं श्री कीन्स के इस विचार से भी सहमत नहीं हूँ कि सभी बड़े सार्वजनिक उद्योगों में एक ऐसी नीति को विकसित कर लेने की प्रवृत्ति होती है जिसमें व्यक्तिगत लाभ एक भावपरक और वस्तुपरक सामाजिक हित के आश्रित हो जाता है।

हमारी कठिनाइयों की जड़ें काफी गहरी हैं। श्री लॉयड जॉर्ज ने कहा है, “हमारी अर्थ-व्यवस्था के साथ कुछ चीज मूलतः गलत है क्योंकि प्रचुरता से कमी उत्पन्न होती है।” यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। हमारा

उत्पादन-क्षमता में विपुल वृद्धि हुई है। इंटरनेशनल लेबर ऑफिस के डायरेक्टर का कहना है, “यदि अमेरिका की १,३५७ बूट और शू फैक्ट्रियों में से २०० फैक्ट्रियाँ ही पूरे समय तक कार्य करें तो वे सम्पूर्ण वर्तमान माँग को संतुष्ट कर सकती हैं और शेष १,१५७ फैक्ट्रियों को बंद किया जा सकता है। इसी प्रकार ६,०५७ कोयले की खानों में से १,४८७ खानें ही समस्त आवश्यक कोयले का उत्पादन कर सकती थीं।”^१ अधिकांश उद्योगों की प्रायः प्रत्येक देश में ही यह दशा है। हमारी काफी जनसंख्या ऐसी रह जाती है, जिसे कोई भी रोजगार नहीं मिलता। हमें अपने करों का कुछ अंश इन उद्योगों को देना पड़ता है जिससे कि वे अपनी उत्पादन-क्षमता को सीमित कर सकें। आज की स्थिति हमें इस बात के लिए विवश करती है कि हम हर कीमत पर अपने लिए विदेशों में बाजार खोजें। जापान ने मंचूरिया में इसी नीति पर चल कर आधी दुनिया के लिए युद्ध का खतरा तक मोल लिया था। हम बाहरी आक्रमण से घरेलू बाजार की रक्षा कर सकें, इसके लिए हमें यह स्थिति आर्थिक राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख करती है। १९२९ से १९३२ के वर्षों में इस नीति ने पूँजीवादी देशों में ३७ प्रतिशत उत्पादन घटा दिया था।^२ यह किसी ऐसे अवपात के फलस्वरूप होने वाली जिसका हम भूतकाल में अनुभव कर चुके हों, कोई अस्थायी घटना नहीं है। यह स्थिति इंग्लैण्ड में चौदह वर्ष से रही है। प्राविधिक दृष्टि से आज अमेरिका संसार का सबसे उन्नतिशील देश है, लेकिन पाँच साल से वहाँ पर भी अवपात रहा है। वहाँ स्थायी सुधार के आज भी^३ कोई लक्षण नहीं दीख रहे हैं।

लीग ऑफ नेशन्स के सर्वेक्षण के अनुसार हमारी स्थिति ऐसी है, जिसकी वर्तमान काल में कोई मिसाल नहीं मिलती।^४ इस समस्या पर हमारे उन विचारकों का भी ध्यान जाता है जो वर्तमान वर्ग-व्यवस्था की उपयुक्तता पर कोई संदेह नहीं करते। कुछ वर्ष पूर्व लंदन टाइम्स^५ ने लिखा था, “यह अब भी संदेहास्पद है कि क्या बड़े हुए उत्पादन की सदैव खपत हो सकती है। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि क्या इतने नए उद्योगों का निर्माण हो रहा है कि वे विस्थापित लोगों को रोजगार दे सकें। दूसरे शब्दों में मशीन मनुष्य

१. एच. बी. वटलर, इंटरनेशनल लेबर रिव्यू, मार्च १९३१, पृ० ३०१।

२. वल्ड इकोनोमिक सर्वे, १९३२-३३।

३. जुलाई, १९३४ लीग ऑफ नेशन्स, पृ० ७१।

४. उपर्युक्त, पृ० ८२।

५. मार्च ८, १९३०।

से आगे बढ़ गई है और यह आवश्यक हो गया है कि हम अपनी सामाजिक व्यवस्था में थोड़ा-बहुत संशोधन करें।" यह "बड़ा प्रश्न" एक ऐसे समय में उठा है जबकि हमारी उत्पादन-शक्ति के बढ़ जाने पर भी युद्धोत्तर युग में मजदूरों के वेतनों में काफी कमी हो गई है।^१ यह एक ऐसा अन्तर्विरोध है, जिस पर कुछ कहना मेरे लिए बिल्कुल अनावश्यक है।

यही नहीं। अनुदारवादी आलोचकों का वर्तमान व्यवस्था के प्रति सद्भाव संदेहातीत है। उनका भी यह कहना है कि यदि बेरोजगारों को काम मिल गया, तो यह मान लेने पर भी कि हमारा बाजार अच्छा-खासा है, यह नहीं कहा जा सकता कि इन लोगों द्वारा पैदा की गई सभी सामग्रियों की खपत हो जायेगी। अमेरिका के सम्बन्ध में लंदन-टाइम्स के वाशिंगटन-स्थित सम्वाददाता का कहना है, "यदि हम किसी चमत्कार के फलस्वरूप ३ वर्ष पहले के अधिकतम उत्पादन पर आ भी गए, तो भी इस समय के एक करोड़ बीस लाख बेरोजगारों में से ४५ प्रतिशत को कोई काम न मिल सकेगा।"^२ इसी पत्र का यह भी कहना है कि यदि इंग्लैण्ड के सब बेरोजगारों को काम मिल गया, तो इससे एक नया संकट उठ खड़ा होगा।"^३ प्रो० रॉबिन्स पुरानी विचारधारा के एक प्रबल समर्थक हैं। उनका मत है कि आजकल व्यक्तिगत उत्पादन में जो वृद्धि हो गई है, उसको देखते हुए यदि काम करने के घंटों को घटा दिया जाए, तो इससे उस समय तक कोई लाभ नहीं होगा, जब तक कि मजदूर अपने वेतन में कमी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न हो जाये।^४ देशान्तरगमन भी अब निरर्थक है क्योंकि कोई भी देश अपने यहाँ के बेरोजगारों की संख्या को बढ़ाना नहीं चाहता। श्री रैमजे मैकडॉनल्ड ने स्थिति की गम्भीरता को कॉमन-सभा के सम्मुख स्पष्टता से रख दिया था। उन्होंने कहा था कि यदि फिर से समृद्धि आ गई, तब भी इंग्लैण्ड में लाखों व्यक्ति बेकार रहेंगे।^५

यह स्पष्ट है कि इस स्थिति के परिणाम बड़े क्रांतिकारी हैं। मेरे विचार से लॉर्ड ग्रस्टेस पर्सि जैसे व्यक्तियों का यह सुभाव भी विशेष गम्भीर नहीं है कि हमें भौतिक उन्नति के लिए राजनीतिक शक्ति का प्रयोग छोड़कर धार्मिक

१. पॉल डगलस, रीअल बेजेज इन दि यूनाइटेड स्टेट्स (१९३३)।

२. नवम्बर २, १९३२।

३. टाइम्स ट्रेड सप्लिमेंट, जुलाई २३, १९३२।

४. उपर्युक्त, पृ० १२६।

५. हंसर्ड (पाँचवीं माला), भाग २७३, पृ० ३३-४।

भावना का विकास करना चाहिए ।^१ में यह भी नहीं समझता कि उस प्रख्यात फ्रेंच राजनीतिज्ञ ने जिसके अनुसार राज्य का कार्य आविष्कारों के दुरुपयोग को रोकना होना चाहिए, जिससे कि कहीं मशीन मानवता का भक्षण न कर ले, वास्तविक समस्या को समझ लिया है । हिटलर की सरकार ने इस नीति पर आचरण किया है, लेकिन वह उद्यमी व्यापारियों में लोकप्रिय नहीं हुई है ।^२ यह सचमुच एक पागल-प्रलाप है कि उस विज्ञान को जिसने आधुनिक सभ्यता को जन्म दिया है, अब मानव-जाति का शत्रु कहा जा सकता है । यदि हम वर्तमान वर्ग-व्यवस्था के कारण उत्पादन के साधनों का पूरा उपयोग नहीं कर सकते, तो हमारे लिए केवल एक ही उपाय शेष रह जाता है और वह यह है कि हम वर्तमान वर्ग-व्यवस्था में परिवर्तन करें । हम इस परिवर्तन को धीरे-धीरे नहीं कर सकते । हमें उन लाखों स्त्री-पुरुषों की आशाओं को पूरा करना है जो अपनी “औद्योगिक कूड़े” जैसी स्थिति की तुलना हमारी मशीनों की उत्पादन-क्षमताओं से करते हैं । हमें यह सब श्री कीन्स के इस सुप्रसिद्ध सूत्र को याद रखते हुए करना है कि मनुष्य सदैव शांतिपूर्वक क्षुधित नहीं रहते ।

श्री कीन्स का एक सूत्र और है जो इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उन्होंने कहा है कि यदि पूँजीवादी समाज को जनता के ऊपर अपना प्रभुत्व बनाए रखना है, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह अन्य किसी विकल्प की अपेक्षा काफी अधिक सफल हो ।^३ लेकिन अब इस सम्बन्ध में संदेह उपस्थित हो गया है । जब पूँजीवाद अपने विस्तार काल में था, वह जनता के ऊपर अपना इस प्रकार का प्रभुत्व कायम रख सकता था । कारण यह था कि वह अपनी सफलता के कारण सहिष्णु हो सकता था, लोगों को राजनीतिक स्वाधीनताएँ दे सकता था तथा उनके जीवन-स्तर को ऊँचा बनाए रख सकता था । पूँजीवाद अपने संकट-काल में यह कुछ नहीं कर सकता । अपरंच, जैसे-जैसे उसकी बुनियादों के सम्बन्ध में संदेह बढ़ता जाता है, वह इस बात के लिए विवश हो जाता है कि वह जिस चीज को पहले सहमति के द्वारा प्राप्त कर सकता था, उसे अब हिंसा के द्वारा प्राप्त करे । चूँकि उसकी अपनी सुरक्षा खतरे में पड़ गई है, अतः उसे इस बात के लिए अधिकाधिक राज्य पर निर्भर रहना पड़ता है कि वह उस आचार-विचार को लागू करे जिसे पचास वर्ष पूर्व लोग प्रकृति के

१. गवर्नमेंट इन ट्रांजिशन, नवम्बर २२, १९३४, अंतिम अध्याय ।

२. एकोनोमिस्ट, फरवरी २४, १९३४ ।

३. एसेज इन पर्सुएशन (१९३२), पृ. ३०७ ।

सर्वथा अनुकूल मानते थे। यदि कोई व्यवस्था शक्ति के दमन के उपर आधारित होती है, तो उसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं को सहमति के शासन के रूप में परिवर्तित करे। कारण यह है कि सुरक्षा सदैव ही आर्थिक कल्याण की पूर्वगामी शर्त है।

संकटकालीन पूँजीवाद के लिए इस सुरक्षा को पाने का केवल एक ही मार्ग है। वह यह है कि वह एक ऐसी नई विचारधारा का सृजन करे जो मनुष्यों को उसके पतन-काल के भौतिक मानदंडों से संतुष्ट रहना सिखाये। लेकिन नई विचारधाराएँ यों ही पैदा नहीं हो जातीं। वे तो जैसा कि मैंने कहा है वर्ग-व्यवस्था के उत्थान और पतन के साथ उठती और गिरती हैं। यदि यह कहा जाये कि फासिज्म एक ऐसी विचारधारा है, तो यह बात गलत होगी। यदि फासिज्म का कठोर परीक्षण किया जाये तो वह भानमती का एक ऐसा पिढारा मालूम पड़ेगा जिसमें विभिन्न विरोधी दर्शनों के कुछ न कुछ अंश समाविष्ट हैं।

यह स्वयं फासिस्ट नेताओं की घोषणाओं से ही प्रकट है। मुसोलिनी का वह पत्र सुविज्ञात है जिसमें उसने बिआंची (Bianchi) से आंदोलन के लिए एक कार्यक्रम माँगा था और कहा था कि आंदोलन का जीवन ही कार्यक्रम पर अवलम्बित है। हीगेल और मोरेल, वर्गों और पैकियावेली के विचारों ने मिल-जुलकर फासिज्म को एक सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया है। १९२६ में फासिज्म गणतंत्रवाद, अन्तर्राष्ट्रीय निशस्त्रीकरण, युद्ध के अत्यधिक मुनाफों और चर्च की सम्पत्ति के समपहरण (confiscation) का समर्थक था। वह चाहता था कि भूमि मजदूरों को मिले और उद्योगों का नियंत्रण मजदूरों व टेकनीशियनों के हाथ में आ जाये। वह स्टॉक एक्सचेंज के उत्पादन और बैंकों व ऋण-कम्पनियों के अंत का प्रतिपादन करता था। वह चर्चों के विरुद्ध था। मुसोलिनी ने स्वयं लिखा था, “फासिज्म इन मंदिरों को मिटा देना चाहता है, जिनका विनाश अवश्यम्भावी है।”^१ फासिज्म यह कहते कभी नहीं थकता था कि उसका आचरण अक्षरशः इस सैद्धान्त के अनुकूल हो। व्यवहार में उसने इनमें से एक भी सिद्धान्त पर आचरण नहीं किया है। वह अब किसी भी अर्थ में गणतंत्रवादी नहीं है। उसने निशस्त्रीकरण के लिए कुछ भी नहीं किया है। उसने भू तथा उद्योग-सम्पत्ति को यथापूर्व रहने दिया है। उसने रोमन चर्च के साथ एक समझौता किया है जिससे विवाह तथा शिक्षा के क्षेत्र में चर्च का नियंत्रण स्थापित हो जाता है। मुसोलिनी के अनुसार धर्म अब, “मानव-भावना

की गहनतम अभिव्यक्ति है। उसका न केवल आदर ही होता है, प्रत्युत उसे संरक्षण भी मिलता है।” यदि हम फासिज्म को उसके आलंकारिक परिधान से अलग कर दें, तो वह केवल एक ऐसा सिद्धांत मालूम पड़ता है जो राज्य की आज्ञाओं के अनिवार्य पालन पर बल देता है तथा वर्तमान वर्ग-व्यवस्था की रक्षा करना चाहता है।

जर्मनी की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। यहाँ भी अपचित सिद्धांतों का एक बखेड़ा दिखाई देता है। यहाँ जातिवाद है, ईसाई धर्म के अभिप्राय के बारे में कुछ मौलिक सिद्धांत हैं और कानून के शासन की कुछ नई मान्यताएँ हैं। फेडर (Feder) का वह सुप्रसिद्ध कार्यक्रम है जो १९२० में अंगीकृत किया गया था और १९२६ में अपरिवर्तनीय घोषित किया गया था। इस कार्य में अनुपाजित आय का अंत, युद्ध के लाभों का समपहरण, ट्रस्टों का राष्ट्रीयकरण और विशाल प्रतिष्ठानों का लाभ-वितरण के सिद्धांत के अनुसार पुनर्गठन शामिल था। लेकिन हिटलर के सत्ता ग्रहण करने के पूर्व ही यह कहा जाने लगा था कि यह कार्यक्रम तो केवल कूटनीति के विचार से ही सामने रखा गया है। एक पूँजीपति को बताया गया था, हमें तीखे समाजवादी मजदूरों की भाषा में बात करनी चाहिए, अन्यथा वे हमारा साथ नहीं देंगे। हिटलर ने अपनी आत्मकथा में लिखा था, “जर्मन को इस बात का रंजमात्र भी ज्ञान नहीं है कि यदि जनता की श्रद्धा-भक्ति प्राप्त करनी है, तो राष्ट्र की आँखों में किस प्रकार धूल भोंकी जानी चाहिए।” जहाँ नाज़ियों ने एक बार शक्ति प्राप्त की, उन्होंने अपने छद्मवेश को उतार फेंका। यद्यपि इटली की भाँति नाज़ी जर्मनी में भी राज्य के नए उद्देश्यों की अनन्त चर्चा चलती रही, लेकिन यहूदियों पर आक्रमण करने के अतिरिक्त हिटलर की सरकार ने समाज के तत्कालीन वर्ग-सम्बन्धों में कभी कोई हस्तक्षेप करने का विचार नहीं किया।

विश्लेषण करने पर कार्पोरेट राज्य का आधार काल्पनिक ही मालूम पड़ता है, जब उसके सारे शब्दजाल को हटा दिया जाता है, तो यह सदैव मालूम पड़ता है कि वह पूँजीवाद के मूल आधार—उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत नियंत्रण में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। यह अवश्य है कि राज्य का स्वरूप बदल जाता है; संसदीय लोकतंत्र के स्थान पर नग्न अधिनायकतंत्र की स्थापना हो जाती है। बस; इससे अधिक कुछ नहीं होता। फासिस्ट विचारधारा में राज्य को पूर्ण बताया जा सकता है, इस बात का आग्रह हो सकता है कि व्यक्ति कुछ नहीं है और समाज सब कुछ है। लेकिन जब हम इन सूत्रों का गम्भीर परीक्षण करते हैं, तो यही मालूम पड़ता है कि वे नई

व्यवस्था के दार्शनिक आधार की दुर्बलता को छिपाने के आवरण-मात्र हैं। फासिज्म को भी यह प्रकट करने की आवश्यकता है कि वह राज्य-शक्ति के प्रयोग द्वारा उत्पादन-व्यवस्था की सम्भावनाओं का अन्यान्य पद्धतियों की अपेक्षा अधिक पूर्णता से उपयोग कर सकता है। अब तक वह ऐसा प्रकट नहीं कर सका है। इसका कारण यह है कि यदि उसकी शब्दभङ्गकार को छोड़ दिया जाये, तो वह नई बोटल में पुरानी शराब-मात्र है। चूँकि वह उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व को बनाए रखता है, अतः वह वर्तमान वर्ग-व्यवस्था का समर्थक है और राज्य-शक्ति के प्रयोग द्वारा इस व्यवस्था का अनुमोदन करता है। यद्यपि उसके राज्य-शक्ति के प्रयोग में संसदीय लोकतंत्र की अपेक्षा अधिक दृढ़ता और अभिनेयता होती है तथापि सैद्धान्तिक दुर्बलताओं के कारण उसके प्रयोजनों में कोई नवीनता नहीं आने पाती। नवीन शब्दावली की अंगीकृति से राज्य का स्वरूप नहीं बदलता। न पुराने उद्देश्यों को नए साधनों द्वारा प्राप्त करने से इन साधनों का ही स्वरूप बदलता है।

यह बात नहीं है कि साधन बिल्कुल ही नए हों। सरकार के विरोध को दबाने के लिए बल का प्रयोग इतिहास में एक बहुत पुरानी प्रथा है। पूर्वी देशों और यूनान के स्वेच्छाचारी शासक, रोम के सम्राट्, मध्ययुगीन इटली और जर्मनी के छोटे-मोटे सामंत, सभी बल का प्रयोग करते थे। फासिज्म में नवीनता यह है कि वह स्वतंत्रता को जिसे मुसोलिनी ने 'दुर्गंधयुक्त शव' की संज्ञा दी है, समूल नष्ट करना चाहता है। आज की स्थिति में एक नवीनता यह भी है कि विदेशी विद्वानों ने फासिज्म के अनुभव में एक ऐसे सृजनात्मक समन्वय का दर्शन किया है जो एक नए मानव-युग का उद्घाटन कर सकता है। सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् से एक नवीनता यह भी है कि मनुष्य को आँख मूंदकर एक ऐसे नेता के अन्दर विश्वास रखना चाहिए जिसके आचरण पर टीका-टिप्पणी करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। इस युग के पहले पाश्चात्य सभ्यता का यह एक सामान्य विचार हो गया था कि सामान्य व्यक्ति के साथ मंत्रणा करना श्रेष्ठ सामाजिक कार्य के लिए सीधा और निश्चित मार्ग है। व्यक्ति को अपने अनुभव व्यक्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए और जिस सीमा तक राज्य व्यक्ति की आशाओं को पूरा कर सकता है, उस सीमा तक ही वह सफल है। फासिज्म इसको स्वीकार नहीं करता। वह तो हमें विश्वास के एक ऐसे युग की ओर वापिस लौटने के लिए कहता है जिसे धर्मशास्त्र का नहीं प्रत्युत ऐसी हिंसा का बल प्राप्त है जिसकी नृशंसताओं का कोई अन्त नहीं है। मेरे विचार से विश्वास के ऐसे युग के लिए जिन

परिस्थितियों की आवश्यकताएँ होती हैं, उनमें स्थायी समाज-व्यवस्था को बनाए रखने की शक्ति नहीं है।

(८)

अब हम ऐसी स्थिति में हैं कि कुछ ठोस निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यदि मेरा विश्लेषण ठीक है, तो इसका अभिप्राय यह है कि राज्य का मूलतत्त्व बल-प्रयोग करने की शक्ति है। वह इस बल-प्रयोग के द्वारा उस वर्ग की इच्छा को पूरा करता है, जिसका सरकार के ऊपर नियंत्रण रहता है क्योंकि सरकार के द्वारा ही राज्य की सत्ता कार्यान्वित होती है। सरकार की इच्छा अंतिम रूप से समाज के वर्ग-सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होती है। यदि इन वर्ग-सम्बन्धों के कारण विभिन्न वर्गों के स्वार्थों में विपमता आ जाती है, तो राज्य की शक्ति उस वर्ग के स्वार्थों की रक्षा करेगी जिसके हाथों में उत्पादन के साधन रहते हैं। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ही उन नियमों को निर्धारित करेगा जिनके अन्तर्गत उत्पादन की अविच्छिन्नता निश्चित रूप से कायम रह सके। वही उस उद्देश्य को भी निर्धारित करेगा जिसके लिए कि शांति और व्यवस्था को बनाए रखना आवश्यक है। वह उन समस्त संस्थाओं के आचरण को निर्धारित करेगा जो कि शांति और व्यवस्था के संधारण से प्रभावित होती हैं। इसलिए, वह एक ऐसी विचारधारा का निर्माण करेगा जो नागरिकों को यह विश्वास दिला सके कि वह जिन उद्देश्यों को पूरा करता है, वे समाज के कल्याण के साथ समीकृत हैं। जब तक वह सफलता प्राप्त करता है, जनता उसकी विचारधारा का समर्थन करेगी। जहाँ वह असफल हुआ, उसके विचार और इसलिए कल्याण सम्बन्धी उसकी मान्यता कम आकर्षक मालूम पड़ेगी। यदि वह फिर दुबारा सफल नहीं हो सका तो वे लोग जो इस व्यवस्था में आर्थिक शक्ति की प्राप्ति से वंचित रहते हैं, इस व्यवस्था को बदलने का प्रयास करेंगे।

मैंने कहा है कि यदि वे ऐसा करते हैं तो उनके लिए राज्य की सर्वोच्च बल-प्रवर्त्ती शक्ति का उपयोग आवश्यक है। उन्हें समाज के वर्ग-सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या करने के लिए इस शक्ति का उपयोग करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि विधान के चरम उद्देश्यों में परिवर्तन होना चाहिए। सम्पत्ति के सन्दर्भ में विधान का मुख्य सम्बन्ध आर्थिक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं की वितरण-व्यवस्था से रहता है। किसी भी व्यवस्था के मूल में जो प्रमुख उद्देश्य रहता है, राज्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसके हाथ में सौंप देता है। वह विधान की माँगों को संतुष्ट करके उसको पूर्ण बनाता है। इसलिए, प्रत्येक राज्य का स्वरूप उस उद्देश्य द्वारा निर्धारित होता है, जिसको वह पूरा करता

है। इसका समाज के समस्त सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है।

पिछले सत्तर वर्षों में पश्चिमी सभ्यता में जो परिवर्तन हुए हैं, उनकी वजह से इस विचार में कोई दुर्बलता नहीं आने पाती। हमने निषेधात्मक राज्य को विध्यात्मक राज्य बनते देखा है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी का निषेधात्मक राज्य अब बीसवीं शताब्दी का सामाजिक सेवा राज्य बन गया है। मैंने यह निवेदन किया है कि इस परिवर्तन का मुख्य कारण राज्य-शक्ति को पाने के लिए आर्थिक वर्गों का पारस्परिक संघर्ष है। यह परिवर्तन ही वह कीमत है जो पूंजीवादी समाज को उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व को बनाए रखने के लिए अदा करनी पड़ी। वह इस मूल्य को चुकाने के लिए उस समय तक तो तैयार रही है जबतक कि इन साधनों के स्वामियों के दावों को कोई हानि पहुँचने की शंका नहीं थी। जब पूंजीवाद के मुनाफों और सामाजिक सेवा राज्य के मूल्य में अन्तर्विरोध उठ खड़ा हुआ, तब पश्चादुक्त के सिद्धान्तों पर आक्रमण किया जाने लगा, क्योंकि उनके क्रियान्वीकरण से पूंजीवाद का तो दिवाला ही नहीं निकल सकता था।

लेकिन सामाजिक सेवा राज्य ने अपने विकास-काल में कुछ ऐसे विचारों को जन्म दे दिया था, जिनके लिए लोग लड़ने को तैयार थे। जिस प्रकार पूंजीवाद ने अपने उत्कर्ष-काल में उस व्यवस्था के प्रति जिसको उसने समाप्त कर दिया था, अंतिम उत्तर के रूप में राजनीतिक लोकतंत्र को जन्म दिया था, ठीक उसी प्रकार सामाजिक सेवा राज्य ने निषेधात्मक या पुलिस-राज्य के प्रति उत्तर के रूप में सामाजिक लोकतंत्र को जन्म दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूंजीवादी लोकतंत्र पाश्चात्य सभ्यता के अधिकांश नागरिकों का सर्वतः स्वीकृत आदर्श बन गया था। उसने राजनीतिक समानता की स्थापना कर दी थी। उसने अपने सदस्यों को यह अधिकार दिया था कि वे अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग अपनी भौतिक अवस्था को सुधारने के लिए कर सकते हैं। चूँकि ये सदस्य अपने वेतनों द्वारा अपने लिए कोई सुविधायें नहीं जुटा सकते थे, अतः उन्होंने अपने लिए सुविधायें जुटाने में राज्य-शक्ति का प्रयोग किया। उन्होंने राज्य से इन सुविधाओं की आशा करना अपना अधिकार मान लिया था। अपरंच, जैसे-जैसे अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता बढ़ती गई, उन्होंने स्वयं को इस बात का अधिकारी मान लिया था कि उन्हें ये सुविधाएँ अधिकाधिक मिलनी चाहिए।

जैसा कि मैं निवेदन कर चुका हूँ कि पूंजीवादी लोकतंत्र अपने विस्तार-काल में तो ठीक से काम करता रहा। लेकिन अपने सिद्धान्तों के कारण उसे

इस बात की सदैव आवश्यकता रहती थी कि उसका माल बाजार में मुनाफे पर बिकता रहे। जहाँ वह एक बार ऐसा करने में असमर्थ हुआ, उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह सुविधाओं के वितरण में कमी कर दे। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसे मुनाफे से हाथ धोना पड़ता। लेकिन चूँकि पूँजीवाद का मूल सिद्धान्त ही मुनाफा कमाना है, अतः ऐसी स्थिति में केवल दो ही विकल्प रह गए थे—या तो सुविधाओं के वितरण में कमी हो जाये; या फिर समाज की मान्यताओं में परिवर्तन हो। चूँकि पश्चिमी सभ्यता के अधिकांश क्षेत्रों में मनुष्य राजनीतिक लोकतंत्र को उसके समस्त निष्कर्षों के साथ आदर्श राज्य-प्रणाली मानने लगे थे, अतः उनमें से अधिकांश की माँग यही थी कि वह बनी रहे। पूँजीवादी समाज को या तो राजनीतिक लोकतंत्र के सामने घुटने टेकने पड़ते, या उसे राज्य-शक्ति के प्रयोग द्वारा राजनीतिक लोकतंत्र का दमन करना पड़ता। इस उपाय द्वारा पूँजीवादी समाज निरन्तर उच्चस्तरीय जीवन के लिए निर्वाचकों की माँगों को पूरा किए बिना ही अपने लिए मुनाफा कमाते रहने का अधिकार बनाए रख सकता था। जब पूँजीवाद के अर्थतंत्र और उसके लोकतंत्रात्मक आधार के बीच अन्तर्विरोध उत्पन्न हुआ, इस अन्तर्विरोध को लोकतंत्रात्मक आधार के दमन द्वारा ही दूर किया गया।

राजनीतिक दर्शन में यह दृष्टिकोण बिल्कुल नया नहीं है। अरस्तू इस विचार का प्रतिपादक था। जब हैरिगटन ने अपने राजदर्शन का आधार इस सूत्र को माना था कि आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति से ऊँची होती है और उसके स्वरूप को निर्धारित करती है, तब उसने भी इसी सिद्धांत का समर्थन किया था। मैडीसन की राजनीतिक अन्तर्दृष्टि का आधार भी यही था। उसने कहा था, “कलह का एकमात्र स्थायी आधार सम्पत्ति है।” एलेक्जेंडर हैमिल्टन ने जब एक व्यापारिक वर्ग की प्रभुता तथा लोकतंत्र की पारस्परिक प्रतिकूलता पर बल दिया था, तो उसने कोई गलती नहीं की थी। जब मैकॉले ने कॉमन-सभा को यह चेतावनी दी थी कि सार्वभौम मताधिकार व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा को नष्ट कर देगा, तब उन्होंने एक गम्भीर बात ही कही थी। पूँजीवाद के अर्थशास्त्र में मूलबद्ध वर्ग-संघर्ष के विचार की परम्परा भी काफी पुरानी है और वह सिसमोंडी तथा सेंट साइमन के समय से चली आती है। इस विचार में जो परिवर्तन हुआ, उसके दो रूप हैं—एक तो यह कि मार्क्स एवं एंगिल्स ने उसको एक आन्दोलन का रूप दे दिया और दूसरे यह कि पूँजीवाद के पतन के साथ-साथ इस आन्दोलन ने एक ऐसी सशस्त्र सेना का रूप धारण कर लिया जो अपने सिद्धांतों के लिए लड़ने को कटिबद्ध थी।

इस आक्रमण के प्रति हमारे हतोत्साह होने का कारण कुछ तो यह है कि हमको पूंजीवाद के विस्तारकालीन स्वरूप का ही अभ्यास रहा है तथा कुछ यह है—और यह अधिक प्रबल है—कि विज्ञान ने हिंसा के ऐसे साधन जुटा दिए हैं जो अपनी विनाशक शक्ति से हमारी समस्त सभ्यता को तहस-नहस कर सकते हैं।

मैं इस समय इस संभावना पर विचार नहीं कर रहा। मैं उस पर इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में विचार करूँगा। यहाँ यह कहना ही पर्याप्त होगा कि यदि आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं होता जो कि बड़ा संदेहपूर्ण है तो पूंजीवादी लोकतंत्र की समस्या को या तो पूंजीवाद के दमन या लोकतंत्र के दमन द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। पहले का अभिप्राय है आर्थिक क्रांति और दूसरे का है राजनीतिक क्रांति। पहले का अभिप्राय यह है कि उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त होकर सामाजिक स्वामित्व स्थापित हो और इस परिवर्तन के साथ-साथ पहले तो वर्ग-सम्बन्धों में और फिर समाज के अन्यान्य सम्बन्धों में परिवर्तन हो। इसके परिणामस्वरूप हमारी जीवनचर्या में ऐसी क्रांति हो जायेगी जो गम्भीरता की दृष्टि से सोलहवीं शताब्दी के परिवर्तनों या अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कुलीनतंत्र के नाश से उत्पन्न होनेवाले परिवर्तनों के समकक्ष होगी। लोकतंत्र के दमन के फलस्वरूप वर्ग-सम्बन्धों में ऐसे आधारभूत परिवर्तन हो सकेंगे। लेकिन इससे मानव जाति के एक बड़े भाग को उन सामग्रियों के उपभोग से वंचित होना पड़ेगा जिन्हें हम दीर्घकाल से पूंजीवादी जीवन-रीति का प्रमुख औचित्य मानते आये हैं। यह स्पष्ट है कि इस वंचना की भारी कीमत देनी पड़ेगी और यह भी स्पष्ट है कि इस तरह का राज्य बल के आधार पर नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्र आज्ञा-पालन के आधार पर संचालित होगा।

ये संकेत हमें राज्य के किस सिद्धांत की ओर ले जाते हैं, यह प्रश्न यहाँ महत्वपूर्ण है। पहले हम इन संकेतों को निषेधात्मक रीति से उपस्थित करते हैं। हम कहते हैं कि राज्य वर्गों से ऊपर नहीं है। वह विशिष्ट स्वार्थों के पार नहीं जाता और समाज के सम्पूर्ण हित की अभिव्यक्ति नहीं करता। वह अपने नागरिकों की इच्छाओं की पूर्ति की ओर बढ़ने का उपाय नहीं है। नैतिक प्राणी होने के नाते नागरिक अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए जिन अधिकारों की माँग कर सकते हैं, राज्य उनको पूरा करने का कोई प्रयास नहीं करता। वह शांति और व्यवस्था को केवल उस वातावरण के रूप में नहीं बनाए रखता जो कि माँग की अधिकतम पूर्ति के लिए आवश्यक है।

तब फिर, इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्य क्या है? वह ऐसी सर्वोच्च बल-प्रवृत्ति शक्ति है जो समाज के आधारभूत सिद्धांतों की रक्षा करती है।

सरकार इस शक्ति का प्रयोग राज्य के नाम में करती है क्योंकि राज्य केवल व्यक्तियों के द्वारा ही उनका प्रयोग कर सकता है। यदि राज्य के सिद्धांत पूंजीवादी हैं, तो यह निश्चित है कि राज्य पूंजीवादी व्यवस्था के निष्कर्षों की रक्षा करेगा। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य पूंजीवाद की एक ऐसी सैद्धांतिक मान्यता की रक्षा करेगा जो कि विचारक की प्रयोगशाला में तैयार होती है। इसका अभिप्राय केवल यही है कि राज्य सामाजिक कल्याण के उन विचारों की रक्षा करेगा जिन्हें कि पूंजीवादी सामने रखते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि पूंजीवादी समाज में राज्य की शक्ति सामाजिक कल्याण के सम्बन्ध में पूंजीवादी विचारों के साथ समीकृत होती है। इन विचारों से मतभेद हो सकता है। इस मतभेद को सहा भी जा सकता है लेकिन इस मतभेद को सामाजिक कार्य का प्रधान सिद्धांत तभी बनाया जा सकता है, जबकि समाज के पूंजीवादी आधार को बदल दिया जाये। चूँकि इस आधार की रक्षा राज्य करता है और आवश्यकता पड़ने पर इसकी रक्षा करने में शस्त्र-बल से भी काम लेता है अतः यदि मतभेद समाज के आधार को बदलना चाहता है तो उसे राज्य पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहिए।

यही कारण है कि आधुनिक राज्य में सशस्त्र बलों को केवल सरकार के प्रति ही उत्तरदायी रहना चाहिए। यदि वे सरकार के प्रति राजभक्त बने रहते हैं, तो सरकार में यह ताकत आ जाती है कि वह नागरिकों से जो निर्णय चाहे मनवा ले। आज की परिस्थितियों में जनता सामान्यतया निःशस्त्र रहती है और उसके पास ऐसे साधन भी नहीं होते हैं कि वह राज्य की तरह सशस्त्र हो सके। यही कारण है कि जब वह राज्य के निर्णयों से मतभेद रखती है, तो उसे अपनी जान के लाले पड़ जाते हैं। इसी कारण आज की समस्त क्रांतियाँ अपनी सफलता के लिए सशस्त्र सेना के दृष्टिकोण पर निर्भर रहती हैं। इसी कारण पूंजीवादी समाज में सेना के अधिकांश महत्त्वपूर्ण पदों पर पूंजीवादी वर्ग के सदस्य ही नियुक्त होते हैं क्योंकि विचारधारा की दृष्टि से ये सदस्य सामान्यतया अपनी सरकार के प्रति राजभक्त होते हैं। साम्यवादी राज्य के बारे में भी यही सत्य है। रूस में सेना के समस्त महत्त्वपूर्ण पदों पर साम्यवादी ही सुशोभित हैं। इसी प्रकार जर्मनी में हिटलरवादियों में इस विवाद का उठ खड़ा होना आकस्मिक नहीं था कि क्या सेना उनकी दलगत सदस्यता से एक पृथक शक्ति रहे या उसके साथ घुल-मिल जाये ?^१ यदि समाज में सम्पत्ति-

१. यह उस संघर्ष का चरमोत्कर्ष था, जो ३० जून, १९३४ को रोहम तथा उसके साथियों के प्राणदंड के साथ समाप्त हुआ।

व्यवस्था की विषमता को कायम रखना है तो शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए बलप्रवर्ती सत्ता को जनसाधारण से पृथक् रखना आवश्यक है ।

मार्क्सवादी दर्शन में यह सचाई है कि वर्ग-विहीन समाज में राज्य का वह स्वरूप जिससे हम परिचित हैं समाप्त हो जायेगा । राज्य को जिस रूप में हम जानते हैं, उस रूप में उसका उद्देश्य ऐसी शांति और सुव्यवस्था की रक्षा करना नहीं रहा है जिसे कि समाज के समस्त सदस्य पूर्ण निरपेक्ष मानते हों । उसका उद्देश्य तो ऐसी शांति और सुव्यवस्था की रक्षा करना रहा है जो कि समाज के सत्ताधीश वर्ग के हित में होती है । यदि उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार हो, तो राज्य-शक्ति, एक वर्ग-विशेष के नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण समाज के हितों की रक्षा करेगी । इन परिस्थितियों में राज्य की प्रवृत्तियाँ बिल्कुल बदल जायेंगी । सरकार की आवश्यकता तो उस समय भी बनी रहेगी लेकिन उस समय सरकार सम्पत्तिशाली वर्ग के आर्थिक हितों की रक्षा में ही संलग्न नहीं रहेगी । उस समय आज के समाज में जो अन्तर्विरोध विद्यमान हैं, वे सब समाप्त हो जायेंगे ।

इस स्थिति पर तनिक गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है । उदाहरण के लिए वाक्-स्वातंत्र्य को ले लीजिए । लोकतन्त्रात्मक देशों में अधिकांश व्यक्ति यह मानते हैं कि इसकी रक्षा आवश्यक है । अधिकांश व्यक्ति यह भी मानते हैं कि इसकी कुछ सीमाएँ भी हैं । यदि कोई व्यक्ति ऐसी बात कहता है जिससे कि शांति और व्यवस्था को खतरा हो, तो उसे दंड दिया जाता है । सामान्यतया हम कहते हैं कि अपराधी को उस उद्देश्य के लिए दंड नहीं दिया गया जिसके लिए उसने भाषण दिया था, प्रत्युत इसलिए दंड दिया गया था कि जिस रीति से उसने भाषण दिया था, उससे सार्वजनिक शांति भंग हो सकती थी या हुई । लेकिन पूँजीवादी समाज में “सार्वजनिक शांति” का अर्थ वह कानूनी व्यवस्था है जो पूँजीवाद के सिद्धान्तों की रक्षा करती है । यदि हम वाक्-स्वातंत्र्य सम्बन्धी अभियोगों का परीक्षण करें तो हमें ज्ञात होगा कि अधिकांश अपराधी पूँजीवाद के आलोचक होते हैं और उनके भाषणों को न्यायाधीश पूँजीवाद के लिए चुनौती मानते हैं । यदि व्याख्या की उन पद्धतियों का परीक्षण किया जाये जिनके द्वारा कानून का प्रयोग होता है, तो ज्ञात होगा कि उनका कठोरतापूर्वक पालन करने से तो प्रो. डायसी के शब्दों में इंग्लैण्ड में राजनीतिक विचार-विमर्श असम्भव हो जायेगा ।^१

यहीं इति नहीं हो जाती । कानून के दंड एक बात है । लेकिन लोकमत

के दंड भी बिल्कुल सच्चे होते हैं यद्यपि वे परोक्ष होते हैं। यदि काम का अधिकार सम्पत्ति के स्वामी की इच्छा पर निर्भर हुआ, तो वह काम की जो शर्तें चाहे, बना सकता है। एक प्रसिद्ध पत्र^१ का कहना है कि “यदि कोई व्यक्ति पूँजीवाद-विरोधी भावनाओं को खुलकर व्यक्त करता है, तो उसे व्यापार में सफलता प्राप्त करना कठिन हो जायेगा। वह सरकारी नौकरी से वंचित कर दिया जायेगा और अन्यान्य व्यवसायों में भी वह बाधाग्रस्त रहेगा। वे धनी व्यक्ति जिनके हाथों में वृत्तियाँ, सम्मान और रोजगार रहते हैं, ऐसे लोगों की परछाई से भी दूर भागते हैं। यदि यह उच्च शिक्षित थोड़े से व्यक्तियों के बारे में सही है, तो यह औसत व्यक्तियों की विशाल संख्या के बारे में और भी अधिक सही है। जब हम अवतक असंगठित क्लर्क-वर्ग के बारे में सोचते हैं, हम ऐसे सहस्रों व्यक्तियों को जानते हैं जो अपने मन में भयानक विचारों को स्थान देने से डरते हैं, (इन विचारों को व्यक्त करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता) जिससे कि वे कहीं अपने मालिकों के कोपभाजन न बन जायें। शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूरों ने इस भय से छुटकारा पा लिया है। इसका कारण यह है कि वे मिल-जुलकर काम करते हैं और उनकी पीठ पर श्रमिक संघों का बल होता है। लेकिन वे भी यह पाते हैं जैसा कि हमने हाल के कुछ अभियोगों में देखा है कि कानून स्वतन्त्र भाषण और सार्वजनिक सभाओं सम्बन्धी उनके प्रारम्भिक अधिकारों की रक्षा नहीं करता। इसके अतिरिक्त दरिद्रता और बेरोजगारी में विवशता की जो भावना छिपी हुई है, वह समान अधिकारों की बात को एक मज़ाक बना देती है। ‘‘‘यदि हम बड़े औद्योगिक क्षेत्रों की बात छोड़ दें, तो हमें पता चलता है कि बहुत से ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ स्वतन्त्र मतदान के अधिकार में कोई सच्चाई नहीं है। चूँकि ६०% समाचार-पत्रों एवं प्रचार के अन्यान्य साधनों पर सम्पत्तिशाली वर्ग का अधिकार रहता है, अतः गरीब लोग अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त नहीं कर पाते तथा लोकतन्त्र सदैव अवरुद्ध रहता है।”

सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस चीज का प्रमाण मिल जाता है। अमेरिका में, जैसा कि सुविख्यात है, बौद्धिक स्वतंत्रता पर व्यापारियों के दबाव के कारण निरन्तर आक्रमण किया गया है और बहुत से अध्यापकों को अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण नौकरी से हटा दिया गया है।^२ मजदूरों

१. दि न्यू स्टेट्समैन, अगस्त १८, १९३४।

२. अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ़ यूनिवर्सिटी प्रोफेसर्स के बुलेटिन को देखिए। इसमें इस प्रकार के प्रकरणों का पूरा विवरण दिया हुआ है।

के नेता की शायद ही कोई ऐसी आत्म-कथा हो जिसमें उसने उन कठिनाइयों का वर्णन न किया हो जिनका उसे जहाँ उसने अपने साथियों के संगठन में भाग लेना प्रारम्भ किया, अपनी नौकरी के सम्बन्ध में सामना करना पड़ा था। टॉलपडिल (Tolpuddle) के शहीदों का उदाहरण इस भयानक अभिलेख का एक लघु प्रकरणमात्र है। हमें उन उपायों की सम्यक् जानकारी है जिनके द्वारा मालिक अपने मजदूरों के बीच “अवांछनीय” विचारों की वृद्धि पर किस प्रकार अंकुश रखते हैं। हम यह भी जानते हैं कि उनकी दृष्टि में अवांछनीयता का क्या अभिप्राय है।^१ खबरों की सचाई को किस प्रकार विकृत किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में पहले से ही पर्याप्त साहित्य विद्यमान है और बीसवीं शताब्दी में प्रचार की कला ने इतनी उन्नति कर ली है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जन-शिक्षा से जो लाभ हुए थे, वे अब उसके सामने फीके पड़ गए हैं।^२

जब हम यह कहते हैं कि स्वतंत्रता की नक्षा सबसे ऊँचा सिद्धान्त है, तो हमें अपने सिद्धान्त का यथार्थ अभिप्राय समझना चाहिए। सच्ची स्वतंत्रता ऐसे समाज में नहीं रह सकती जिसमें एक ऐसा वर्ग हो जो उसकी अभिव्यक्ति को रोकना चाहता हो, जिसके पास ऐसा करने के लिए शक्ति हो और जो इस उद्देश्य के लिए राज्य की सत्ता का भी प्रयोग कर सके। स्वतंत्र विचार वहीं सम्भव है जहाँ कि आर्थिक स्वतंत्रता हो। यदि किसी समाज में आर्थिक स्वतंत्रता केवल सम्पत्तिशाली वर्ग को ही प्राप्त रहती है, तो ऐसे समाज में विचार स्वातंत्र्य का मार्ग भी सम्पत्तिशाली वर्ग को छोड़कर और सबके लिए बन्द हो जाता है। यदि किसी मजदूर को इस आधार पर नहीं कि वह अप्रवीण है प्रत्युत इस आधार पर कि उसके आर्थिक और राजनीतिक विचार उसके नियोजक के मन में अविश्वास पैदा करते हैं, अपदस्थ किया जा सकता है तो इससे मजदूर के ऊपर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध आरोपित हो जाते हैं जो कि उसकी स्वतंत्रता के लिए घातक होते हैं। यही कारण है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत मजदूरों को मालिकों तथा बुद्धिजीवियों की तुलना में विचार-स्वातंत्र्य कम सच्चा मालूम पड़ता है। वे लोग बौद्धिक स्वतंत्रता की जो व्याख्याएँ करते हैं, वे इतनी भिन्न होती हैं कि कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता है मान वे भिन्न विश्वों से निःसृत हुई हों।

लेकिन प्रो० ग्रिगोरी ने लिखा है, “पूँजीवाद आर्थिक आत्माभिव्यक्ति के

१. आर. डब्लू. डन, दि लेबर स्पाई। (१९२४)।

२. एच. डी. लासवेल, प्रोपेगेंडा टेक्नीक इन दि वर्ल्ड वार।

लिए व्यक्ति के अधिकार पर आश्रित है'। आधुनिक परिस्थितियों में इस विचार को स्वीकार करना कठिन मालूम पड़ता है। आधुनिक वेतन-ऋमों, औद्योगिक कार्यकाल की अरक्षा, बेरोजगारी के बीमों के अभाव में विभिन्न रोजगारों के बीच चुनाव करने की असमर्थता, शिक्षा की सीमाओं और देशांतरगमन के प्रतिबन्धों को (जो युद्धोत्तर युग में और बढ़ गए हैं) देखते हुए बेचारे मजदूर का यह सन्देह स्वाभाविक ही है कि क्या 'आर्थिक आत्माभिव्यक्ति' सूत्र उसकी स्थिति को ठीक से व्यक्त करता है। यदि कोई कहे कि ये शुद्ध पूँजीवाद के विक्षेप हैं, तो इसका उत्तर यह होगा कि ये ऐसे विक्षेप हैं जो उन कानूनों द्वारा रक्षित होते हैं जिनका निर्माण स्वयं पूँजीपतियों ने किया है। आर्थिक आत्माभिव्यक्ति का अधिकार वहीं सच्चा हो सकता है जहाँ कि उसके प्रयोग से किसी दंड को पाने की सम्भावना न हो। लेकिन पूँजीवादी समाज में उन सब व्यक्तियों को जो सम्पत्ति के स्वामित्व से वंचित हैं, इस प्रकार के दंड का मदैव ही खटका लगा रहता है।

इसलिए, वह राज्य जिसमें उत्पादन के माधन व्यक्तिगत लोगों के हाथों में होते हैं, वास्तव में पक्षपातपूर्ण होता है। वह कहने को तो अपने अधिकारों को सार्वभौम कह सकता है, लेकिन वह उनका उपभोग केवल सम्पत्ति के स्वामियों तक ही सीमित रखता है। यदि वह अपने नागरिकों से इस बात की माँग करता है कि वे उसकी आज्ञा मानें, तो इसका आधार उसकी यह योग्यता ही है कि वह नागरिकों को इस बात का विश्वास दिला सकता है कि उनकी हालत उसके यहाँ अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा कहीं अच्छी है। मैंने निवेदन किया है कि यह योग्यता राज्य की इस क्षमता पर निर्भर होगी कि वह अपने सामने आने वाली माँगों को कहाँ तक पूरा कर सकता है। यदि वह अधिनायकतंत्र के अनुसार संगठित है तो उसे कम माँगें पूरी करनी होंगी लेकिन यदि वह लोकतंत्र के अनुसार संगठित है, तो उसके सामने अधिक माँगें आयेंगी। लेकिन जबतक वह एक संगठित समाज के रूप में है, उसकी उपयुक्तता को परखने की इसके अतिरिक्त अन्य कोई कसौटी नहीं है।

इसलिए, किसी भी राज्य को केवल अपनी ही शर्तों पर अपने सदस्यों से निष्ठा की माँग का अधिकार नहीं है। राजनीति में हम में से प्रत्येक व्यक्ति के ही गलत और सही के बारे में अपने कुछ विचार होते हैं। ये विचार हमारे अनुभवों के परिणाम होते हैं। इन अनुभवों के प्रकाश में हम अपनी कुछ ऐसी माँगें बना लेते हैं जिन्हें कि हम उचित मानते हैं। हम राज्य से यह आशा करते हैं कि वह इन माँगों को पूरा करे। यदि राज्य असफल हो जाता है, तो

हम इस बात की चेष्टा करते हैं कि वह हमारी बात को सुनने के लिए बाध्य हो। यदि हमारी शिकायतों पर ध्यान दिया जाता है, तो सम्भावना इस बात की है कि हम सन्तुष्ट हो जायेंगे और समझ लेंगे कि हमको राज्य की सद्भावना का प्रमाण मिल गया है। यदि हमारी शिकायतों की उपेक्षा की जाती है या उनका दमन कर दिया जाता है, तो वे एक सांगोपांग विचारधारा का रूप धारण करना प्रारम्भ कर देंगी। इंग्लैण्ड जैसे लोकतन्त्रात्मक देश में उनके समर्थन में एक दल उठ खड़ा होता है। रूस जैसे अधिनायकवादी देश में शिकायत करने वालों में जो अधिक साहसी व्यक्ति होते हैं, वे अपने कष्टों के निवारण के लिए षड्यंत्र करते हैं। लेकिन दल और षड्यंत्र दोनों का उद्देश्य एक ही होगा। वे अपने प्रतिकूल कानूनी सिद्धान्तों को बदल कर अपने मनोनुकूल कानूनी सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करने का प्रयास करेंगे। जब वे अपने कार्य में आगे बढ़ेंगे, तो उनमें से प्रत्येक को ज्ञात होगा कि कानूनी सिद्धान्तों के परिवर्तन का अर्थ यदि उन्होंने सामाजिक संगठन की बुनियादों को स्पर्श किया स्वयं राज्य की ही विजय हो जाती है।

मैंने यह निवेदन किया है कि सामाजिक संगठन की बुनियादों को स्पर्श करने का प्रयास एक विशेष प्रकार का साहसी कार्य है। ऐसा करने का अर्थ उस आधार पर आक्रमण करना है जो मुख्य रूप से समस्त सामाजिक संस्थाओं और विचारों के स्वरूप को निर्धारित करता है। अधिनायकवाद में राज्य की विजय एक क्रांतिकारी कार्य है। इस शासन का स्वरूप ही ऐसा है कि इसके उद्देश्यों से असहमत होने वाले नागरिकों के पास अन्य कोई विकल्प ही नहीं रहता। इसलिए, यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के शासन में एक असहमत सदस्य का राजनीतिक दायित्व केवल औपचारिक कानून के धरातल पर ही रह जाता है। राजभक्ति मन का एक दृष्टिकोण है और केवल नग्न बल-प्रयोग ही मनुष्य को ऐसे प्रयोजनों से बाँध सकता है जिन्हें कि उनके मन अस्वीकार करते हैं। इसलिए यदि कोई राज्य अपनी बुनियादों को मजबूत रखना चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आदेशों का पालन बल-प्रयोग के द्वारा नहीं, प्रत्युत सहमति के द्वारा करवाये। यह तभी हो सकता है जब कि वह अपने नागरिकों के विशाल बहुमत की माँगों को संतुष्ट करे। अधिनायकवादी बने रहकर वह अपने उस एक मात्र साधन को अस्वीकार करता है जिसके द्वारा वह राजभक्ति सम्बन्धी अपने अधिकार को नैतिक धरातल पर स्थिर कर सकता है। वह नैतिक धरातल है—मनुष्यों की स्वतंत्र सहमति।

वया लोकतंत्र में इससे भिन्न स्थिति होती है ? मेरा अपना विचार यह

है कि कुछ स्थितियों में काफी अन्तर रहता है। जहाँ राज्य के सदस्य मूल राजनीतिक अधिकारों का इस मात्रा में उपभोग करते हैं कि वे अपनी असहमति को कट्टरता का रूप देने में समर्थ हो सकें, मेरा विचार है कि वहाँ नागरिकों को क्रांति का आश्रय लेने के पूर्व अन्य समस्त वैधानिक साधनों का उपयोग करना चाहिए। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पूँजीवादी लोकतंत्र उसके विरोध में काफी प्रचंड बाधाएँ खड़ी कर देता है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि यह केवल नीति की ही बात है, चरम नैतिक अधिकार की नहीं। फिर भी, मेरा यह विश्वास है कि वैधानिक पद्धति में क्रांतिकारी पद्धति की अपेक्षा अधिक लाभ हैं चाहे वे धीरे-धीरे क्यों न हों।

लेकिन यह तो राजनीति के दर्शन में नहीं, प्रत्युत उसकी युद्ध-विद्या में प्रवेश करना होगा। यहाँ अपने प्रयोजन के लिए केवल दो बातों पर ध्यान देना पर्याप्त होगा। पहली बात तो यह है कि क्या मूल राजनीतिक अधिकारों का उपभोग सामाजिक बुनियादों के शांतिपूर्ण परिवर्तन के लिए पर्याप्त है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसमें कि असहमत होने वालों का विचार भी उतना ही ठीक है जितना कि उनका जो समाज के निष्कर्षों को स्वीकार करते हैं। यदि वे व्यक्ति क्रांतिकारी विकल्प का निश्चय करते हैं, तो हम उन्हें भ्रमित अथवा मूर्ख तो अवश्य कह सकते हैं; लेकिन हम उन्हें नैतिक दृष्टि से गलत नहीं कह सकते। मेरा विचार है कि वे आयरिश जन जिन्होंने १९१६ में इंग्लैण्ड के विरुद्ध विद्रोह किया था, इस आशय में मूर्ख तो अवश्य थे कि उनके प्रयत्न के सफल होने की कोई आशा नहीं थी, लेकिन मेरा विचार है कि हम नैतिक दृष्टि से उनका तिरस्कार नहीं कर सकते। उन्होंने कानून को भंग किया था, लेकिन आंग्ल-आयरिश सम्बन्धों का सम्पूर्ण इतिहास ही ऐसा था जो उनके लिए कानून के नैतिक दायित्व का सम्बन्ध अस्वीकार करता था। जब व्यक्ति अपने अनुभवों की प्रेरणा से अन्याय के प्रति ऐसा दृष्टिकोण धारण कर लेते हैं, तब उनकी शिकायत में इस बात का पर्याप्त बल आ जाता है कि वे अन्यायी व्यक्तियों का नैतिक तिरस्कार कर सकें।

दूसरी जिस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है, वह भी मेरे विचार से काफी महत्वपूर्ण है। जहाँ लोग यह कहते हैं कि चूँकि भूतकाल में समाज के वर्ग-संगठन में क्रांतिकारी साधनों के बिना शायद ही कभी परिवर्तन हुए हों, इसलिए क्रांति का आश्रय लेना और उसके लिए तैयारी करना ठीक है, एक ऐसा तर्क उपस्थित करते हैं, जिसका शांतिपूर्ण परिवर्तन के प्रतिपादकों ने कोई उत्तर नहीं दिया है। यह एक तथ्य है कि सम्पत्ति के स्वामी केवल विवशता

की स्थिति में ही झुकते हैं और सुधारों के कार्यान्वित होने में इतना विलम्ब हो जाता है कि वे उन शिकायतों को जिनके लिए उनको किया जाता है, पूरा नहीं कर पाते। यह भी एक तथ्य है कि जैसे ही सम्पत्ति के स्वामियों की स्थिति खतरे के क्षेत्र में पहुँच जाती है, वे अपनी आलोचना को सहन नहीं करते। यदि उन्हें अपनी सद्भावना का प्रमाण देना है, तो वह यही हो सकता है कि वे मृत्युदायी विचारों की उपस्थिति में भी सहिष्णु बने रहें। वे इस प्रकार का प्रमाण नहीं देते। इसके प्रति, जितनी अधिक उन्हें चुनौती मिलती है, उतना ही अधिक वे राज्य से इस बात की माँग करते हैं कि वह अपनी दमनकारी सत्ता का प्रयोग करे। आर्थिक संकट के वर्तमान युग में सभी देशों में ऐसा हुआ है। इस स्थिति से यह निष्कर्ष निकालना कि पूँजीवादी लोकतंत्र भी अन्याय शासन-प्रणालियों की भाँति शांतिपूर्ण परिवर्तन के योग्य नहीं है, बिल्कुल युक्तिसंगत है। यदि राज्य इसलिए सहनशील है क्योंकि वे सुरक्षित हैं, तो अरक्षा की भावना उन्हें ऐसी व्यवस्था की ओर अवश्य ले जायेगी जिसमें कि शांतिपूर्ण परिवर्तन एक असम्भावना बनकर रह जाये।

यह केवल सहिष्णुता का ही प्रश्न नहीं है। लोकतंत्रात्मक संविधान एक ऐसी वस्तु है जो शब्दों के साथ-साथ भावना पर भी आधारित होता है। यदि उस पर ऐसा दबाव डाला जाता है कि वह वर्तमान स्थिति को यथावत् कायम रखे तो इससे उनकी भक्ति शंका में पड़ जाती है जिनसे यह कहा जाता है कि वे उसकी भावना में विश्वास रखें। जनता की राजनीतिक एकता मुख्यतः आदतों, अभिसमयों और अलिखित परम्पराओं का परिणाम होती है। यदि इनका दुरुपयोग किया जाता है, तो इससे जनता की राजनीतिक एकता को आघात पहुँचता है। लेकिन साक्ष्य से प्रतीत होता है कि प्रत्येक सम्पत्तिशाली वर्ग ऐसा करने की इच्छा रखता है। स्टुअर्ट शासकों, लुई सोलहवें और निकोलस द्वितीय सबने यही गलती की थी और इसके परिणामस्वरूप उन्हें क्रांतियाँ देखनी पड़ीं। अर्वाचीन इतिहास में भी ऐसे कई उदाहरण हैं जब कि इस प्रकार के दुरुपयोग ने हमें संकट के निकट तक पहुँचा दिया है। १८३२ के सुधार-विधेयक के प्रति लॉर्ड-सभा का दृष्टिकोण, उसके द्वारा १९०६ के बजट की अस्वीकृति, १९१३-१४ के अल्स्टर-संकट के समय अनुदारवादी नेताओं की सेना के साथ दुरभिसन्धि, १९३१ में राष्ट्रीय सरकार का रहस्यमय रीति से जन्म, १९३२ में क्षुद्र दलगत स्वार्थों के कारण मंत्रिमंडल के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत को तिलांजलि, ये सब ऐसी घटनाएँ हैं जो व्यापक परिवर्तन के काल में शांति बनाए रखने की शक्ति में मनुष्यों के विश्वास को हिला देती हैं।

फेडरलिस्टों (Federalists) ने १७९८ में विदेशी और राजद्रोह सम्बन्धी कानूनों (Alien and Sedition laws) का और १८०१ में जॉन एडम्स की पदावधि के अंतिम समय में न्यायिक नामांकनों के सम्बन्ध में राष्ट्रपतीय शक्ति का दुरुपयोग कर यही भूल की थी।^१ जर्मन गणराज्य के अंतिम दिनों में वीमर संविधान की धारा ४८ का जिस ढंग से प्रयोग किया गया, वह वैधानिक शिष्टता का अतिक्रमण था।

संक्षेप में, जो लोग संविधान का संचालन करते हैं, वे कुछ ऐसे नियम बना लेते हैं जिनका वे आशा करते हैं कि उनके विरोधी पालन करेंगे। ये नियम उस समय तक तो समाहत होते हैं जबतक कि उनका निर्माण करने वाले वर्ग के हाथ में ही सत्ता रहती है लेकिन जब कोई नया वर्ग सत्ता पाने के निकट होता है, तो पुराना वर्ग स्वयं को उन नियमों को अपने लाभ की दृष्टि से बदलने का अधिकारी मानता है। कभी वे सुनिश्चित व्याख्याओं को विकृत करते हैं, कभी वे बहुत पुराने सूत्रों का पुनरुत्थान करते हैं और उन्हें राष्ट्रीय संकट के आधार पर उचित ठहराते हैं और कभी वे हिटलर की भांति जो अगस्त १९३४ में जर्मन गणराज्य का राष्ट्रपति बन गया था, संविधान की धाराओं को स्पष्ट रूप से तिलांजलि दे देते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण उस सद्भावना के लिए घातक है जिस पर संविधान जैसी कोमल वस्तु निर्भर रहती है। हम यह भूल जाते हैं कि शासन के इतिहास में बहुमत के सिद्धांत का कितने धीरे-धीरे और कितनी कठिनता से विकास हुआ था तथा उसके सफल संचालन की शर्तें कितनी कठिन हैं। जब कोई वर्ग लोकतंत्र का निर्णय अपने विरुद्ध जाने पर संविधान को भंग करने की धमकी देता है, तो वह लोक-तंत्रात्मक प्रक्रिया के उस स्थगन को आमंत्रित करता है जो सभ्य जीवन के अधिकांश आध्यात्मिक लाभों के लिए आवश्यक है।

राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय समाज

कोई भी राज्य निपट एकाकी नहीं रह सकता। वह राज्यों के एक ऐसे समाज का सदस्य होता है जिनमें से प्रत्येक के सिद्धान्ततः एक से अधिकार और कर्तव्य होते हैं। प्रत्येक राज्य कुछ ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के जाल में फँसा होता है जिनके नियंत्रण के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता होती है। राज्य का कोई भी सिद्धान्त उस समय तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक कि वह इस अन्तर्राष्ट्रीय समाज के तथ्यों की ओर ध्यान नहीं देता।

कहने का अभिप्राय यह है कि एक दृष्टि से, राज्य के सिद्धान्त को, अन्तर्राष्ट्रीय विधान का दर्शन होना चाहिए। उसे इस बात की व्याख्या करनी चाहिए कि राज्य अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के नियमों से आबद्ध क्योंकर मानें। उसे अपना निर्माण ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिए जो हमारे संसार के उपयुक्त हों। उसे इतना व्यापक होना चाहिए कि वह उन विपुल परिवर्तनों का महत्व ठीक से समझ सके जो ग्लोशियस के बाद से राज्यों के सम्बन्धों में अब तक हुए हैं। ग्लोशियस ने आज से प्रायः तीन सौ वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय विधान की समस्याओं का सर्वप्रथम वैज्ञानिक रीति से निरूपण किया था। ऐसे दर्शन की बुनियादें उस समय तक ठीक नहीं हो सकती जबतक कि वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के नियमों को यह विश्वास न दिला दें कि राज्य अपने निजी क्षेत्र में अपने विधान को अन्यान्य समुदायों के व्यवहार को परखने की कसौटी बनाने के लिए सदैव स्वतंत्र रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान के इतिहास में राज्य की प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धान्त का मुख्य स्थान है। चूँकि राज्य एक प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न संस्था है, इसलिए वह केवल अपनी इच्छा से ही आबद्ध हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए सर्वमान्य नियमों के निर्माण की समस्या अत्यन्त विषम है। राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सार यह है कि चूँकि उसके पास प्रभुत्व-शक्ति है, अतः वह अपनी सीमाओं में रहने वाले समस्त व्यक्तियों और संस्थाओं पर अपनी इच्छा आरोपित कर सकता है। इस क्षेत्र के बाहर राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध (उदाहरणार्थ जब कोई अन्य राज्य उससे ऐसी माँग करे जिसे

पूरा करने के लिए वह प्रस्तुत न हो) बाध्य करने का एकमात्र उपाय युद्ध है। प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धांत के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अन्तिम निर्णायक युद्ध-विजय है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान में प्रभुत्व-शक्ति का विचार हमें दो रूपों में दिखाई देता है। एक ओर तो वह ऐसी तर्काश्रित मान्यता है जिसकी वैधता विशुद्ध रूप से औपचारिक है। इस दृष्टि से हम अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विध्यात्मक सिद्धांत का दर्शन करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधान के समस्त नियम या तो अन्तर्राष्ट्रीय आचार से या सन्धियों से निःसृत होते हैं क्योंकि अकेले यही राज्य की इच्छाओं को व्यक्त करते हैं। यहाँ प्रभुत्व-शक्ति के स्वरूप के फलस्वरूप यह संदेहातीत निष्कर्ष निकलता है कि राज्य की इच्छा ही विधान की एकमात्र उत्स है। यदि हम अन्य कोई बात मानते हैं तो राज्य की इच्छा ऐसे नियमों के द्वारा आवद्ध होगी जिनके लिए उसने अपनी सहमति न दी हो। ऐसी स्थिति में राज्य प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न संस्था न रहेगी।

दूसरी ओर, अन्तर्राष्ट्रीय विधान में प्रभुत्व-शक्ति का विचार एक दार्शनिक विचार है। यहाँ उसका उद्देश्य यह कहकर कि राज्य का एक ऐसा निरपेक्ष नैतिक मूल्य है जिसके परे हम नहीं जा सकते, विध्यात्मक सिद्धांत को उचित ठहराना है। इस सिद्धांत के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधान का मुख्य प्रयोजन राज्य के उन्नत नैतिक मूल्य का विकास करना है। चूँकि इस विकास का एकमात्र निर्णायक राज्य ही हो सकता है (क्योंकि अन्यथा वह निरपेक्ष नैतिक मूल्य का प्रतीक नहीं रहेगा), अतः राज्य को यह निर्णय करने में कि वह अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रस्तावित नियम को माने या नहीं, केवल अपने स्वार्थों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। ऐसा करके वह अपने सर्वोच्च उद्देश्यों को प्राप्त करता है। अपना स्वार्थसाधन करते समय वह उस निरपेक्ष नैतिक मूल्य का भी जिसका वह प्रतीक है, स्वार्थ-साधन करता है।

जिन लोगों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान के परम्परागत स्वरूप का निर्माण किया है, उन्होंने इन निष्कर्षों से मुंह नहीं मोड़ा है। हीगेल के साथ यह मानते हुए कि राज्य वह “वस्तुपाती भावना” (objective reality) है जिसके माध्यम से व्यक्ति “अपने लक्ष्य, अपने सत्य और अपनी नैतिकता” तक पहुँच सकता है, उन्होंने यह उचित ही निष्कर्ष निकाला है कि विधान का शासन राज्य की सीमाओं पर समाप्त हो जाता है। हीगेल का कहना है कि “दूसरे राज्यों के अधिकार एक ऐसे साधारण नियम में सफल नहीं होते जिसे कि

उनके ऊपर शक्ति प्राप्त हो; उनके अधिकार तो केवल उनकी अपनी विशिष्ट इच्छाओं के माध्यम से ही सफल होते हैं।" राज्य नियम से ऊपर है, अन्तर्राष्ट्रीय विधान केवल बाहरी म्युनिसिपल विधान है। उसकी शक्ति का स्रोत उस राज्य या उन राज्यों की इच्छा ही है जो उसे कार्यान्वित करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। जब तक राज्य अपनी प्रभुत्व-शक्ति को कायम रखते हैं, एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज की कल्पना असम्भव है जिसके राज्य अंगीभूत भाग हों।" लैसन (Lasson) ने एक स्थल पर लिखा है, "राज्य सामान्यतः अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी इच्छा या वैधानिक व्यवस्था के अधीन नहीं हो सकता... वह स्वार्थ की असीमित इच्छा है।" यही कारण है कि काउफमैन (Kaufmann) यह कह सकता है कि "वीरभोग्या वगुंधरा" नियम को छोड़ कर विधान का ऐसा अन्य कोई सामान्य नियम नहीं है जो कि राज्यों के लिए बन्धनकारी हो। इसका अर्थ यह होता है कि युद्ध में विजय प्राप्त करना राज्य का सर्वोच्च आदर्श है। युद्ध में विजय का अभिप्राय आत्मरक्षण है और यह निरपेक्ष नैतिक मूल्य की जय प्राप्त करता है।

इस विचार की स्वीकृति काफी व्यापक रही है। उदाहरणार्थ, यह सुविज्ञात है कि इसने राजनीति में अंग्रेजी आदर्शवादी विचारधारा के दृष्टिकोण को निर्धारित किया था। जब बोसांक्वे ने राज्य के बारे में यह लिखा था कि "अधिक बड़े समाज में इसका कोई निश्चित कार्य नहीं है, प्रत्युत यह स्वयं ही सबसे बड़ा समाज है... नैतिक सम्बन्ध एक संगठित जीवन की कल्पना करते हैं, लेकिन ऐसा जीवन राज्यों और दूसरे समाजों के सम्बन्धों के बीच में नहीं, प्रत्युत राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है," तब वह प्रकारान्तर से यही कह रहा था कि राज्य की सीमाओं के परे अराजकता का वास है। १९१९ में लीग ऑफ नेशन्स के मूल में प्रभुत्व-शक्ति का यही विचार विद्यमान था। इसी विचार ने निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में यह कठिनाई पैदा कर दी है कि समझौता ही नहीं हो पाता। जहाँ हम एक बार यह मान लेते हैं कि युद्ध ही अन्तर्राष्ट्रीय भाग्य का अंतिम निर्णायक है, स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक राज्य केवल उसी सीमा तक सहमत हो सकता है जो कि उसके सर्वोच्च स्वार्थ के अनुकूल हो और चूँकि इस स्वार्थ का वही अंतिम अभिरक्षक है, इसलिए वह ऐसी सीमा को ही स्वीकार करेगा जो उसे रणक्षेत्र में विजय का पूरा विश्वास दिलाती हो। यदि हम कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों की तरह शांति को युद्ध प्रारम्भ करने का एक अन्य उपाय माने क्योंकि शक्ति का प्रयोग सदैव ही संदिग्ध रीति से पृष्ठभूमि में रहता है, तो वही कठिनाई अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों

के प्रत्येक पहलू—शुल्क, देशान्तरगमन, स्वर्ण-प्रमाप के संचालन और श्रम के घंटों के विषय में दृष्टिगत होती है। इन क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर कुछ आवश्यक कार्यवाही तभी हो सकती है जब कि राज्य एकमत हों।

विध्यात्मक सिद्धान्त जैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के तथ्यों पर विचार करता है, उसके सामने कई गम्भीर तर्कसमर्थित कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक ही यह कहते हैं कि राज्य चाहे, उनकी इच्छा हो या न हो, अन्तर्राष्ट्रीय विधान से बँधे हुए हैं। यह विचार प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यह व्याख्या करने के लिए कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान बंधनकारी है, विध्यात्मक सिद्धान्त के अनुयायी को एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय वैधानिक व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ती है जिसमें प्रत्येक राज्य को चाहे उसका कैसा भी आकार और बल हो समान और उचित स्थान मिलता है। इस विचार का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों (tribunals) के व्यवहार और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice) के संविधान के साथ मेल बैठाना कठिन है। अब यह विचार बल पकड़ता जा रहा है कि राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय विधान के एकमात्र विषय मानना असंभव है। यह विचार स्वयं ही विध्यात्मक सिद्धान्त के लिए घातक है। प्रभुत्व-विरहित राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय सर्विट्यूड्स (servitudes) ने कई असुविधाजनक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। विध्यात्मक सिद्धान्त १९१४ के युद्ध में अपने उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर था। अब तो उसके बुरे दिन आगए मालूम पड़ते हैं। उसके सिद्धान्त न केवल तथ्यों के प्रतिकूल ही पड़ते हैं, प्रत्युत वे, आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास की सम्पूर्ण प्रवृत्ति के ही विपरीत जाते हैं। अब हम शीघ्रता से ऐसी स्थिति में पहुँचते जा रहे हैं जहाँ यदि हम राज्य की प्रभुत्व-शक्ति को स्वीकार करते हैं, तो हमें उन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की असंभावना को स्वीकार करना होगा जिनकी स्थापना के लिए हम स्वयं तथ्यों द्वारा ही विवश किए जा रहे हैं।

इस प्रकार की परिस्थिति कानूनी दार्शनिकों को अन्तर्राष्ट्रीय विधान का बिलकुल भिन्न आधारों पर निर्माण करने के लिए विवश कर रही है। अब प्रवृत्ति यह है कि राज्य को नहीं प्रत्युत उस अन्तर्राष्ट्रीय समाज को मूल माना जाये जिसमें राज्य की स्थिति एक प्रान्त की भाँति रहे। तब अन्तर्राष्ट्रीय विधान के नियमों को म्युनिसिपल विधान से ऊँचा माना जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जब म्युनिसिपल विधान और अन्तर्राष्ट्रीय विधान में संघर्ष होता है, तब म्युनिसिपल विधान को झुकना पड़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय विधान को भंग करने वाले राज्य

की वही दशा होती है जो कि राज्य के म्युनिसिपल विधान को भंग करने वाले व्यक्ति की। यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अपराधी राज्य को दंड नहीं मिलता, तो यह अन्तर्राष्ट्रीय विधान की असफलता नहीं है। यह तो अन्तर्राष्ट्रीय विधान के संमोदनों (sanctions) की दुर्बलता मानी जायेगी। इसीलिए लीग की प्रसंविदा की त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। १९२४ का जेनेवा-प्रोटोकॉल इसका एक उदाहरण है। इसीलिए पैक्ट ऑफ़ पेरिस जैसे साधनों का विकास हुआ है, जिसके द्वारा व्यक्तिगत राज्य अपनी इच्छा को पूरी करने के लिए शक्ति-प्रयोग करने के अपने निरंकुश अधिकार को त्याग देता है। इसीलिए किसी एक राज्य के आक्रमण के विरुद्ध राज्यों की सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत का विकास हुआ है। इसीलिए धीरे-धीरे विश्व-निष्ठा के सिद्धांत का विकास हो रहा है। इस सिद्धांत के अनुसार जैसा कि श्रमिक दल के प्रस्तावों में कहा गया है, व्यक्ति अपने राज्य की प्रत्येक युद्धेच्छा का विरोध करेंगे।^१ यदि युद्ध लीग ऑफ़ नेशन्स की इच्छानुसार प्रारम्भ किया गया है, तो दूसरी बात है।

मुझे इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण हमारे युग की आवश्यकताओं के अनुसार है क्योंकि पिछली पीढ़ी के अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया है कि राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति और सम्यता के हित एक दूसरे के विरोधी हैं। लेकिन यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधान के पुराने सिद्धांत चाहे तो वे काउफ़मैन जैसे यथार्थवादियों के हों, या हीगेल जैसे आदर्शवादियों के, भूतकाल की वस्तुपरक ऐतिहासिक परिस्थितियों पर अपनी आंखें गढ़ाकर रखते हैं, तो नए सिद्धांतों के प्रतिपादक भी अपने सिद्धांतों को तनिक अतिशयोक्ति से व्यक्त करते हैं। यदि हम पैक्ट ऑफ़ पेरिस की वैकल्पिक धाराओं पर हस्ताक्षर करते हैं, तो हम उन पर कुछ महत्वपूर्ण संरक्षणों सहित हस्ताक्षर करते हैं। ये संरक्षण आधारभूत महत्व के समस्त मामलों में हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक राज्य को अपने स्वार्थ के सम्बन्ध में अंतिम न्यायाधीश बना देते हैं। हो सकता है कि भविष्य की कोई ब्रिटिश सरकार संसद् को एक शांति अधिनियम पास करने के लिए प्रेरित करे, लेकिन चूंकि कोई संसद् अपने उत्तराधिकारी को बांधे नहीं रख सकती, अतः उस अधिनियम के रद्द हो जाने की सदैव सम्भावना रहेगी। लीग की प्रसंविदा को इस प्रकार संशोधित करने की कि उसके संमोदन (sanctions) स्वतःचालित बन जायें समस्त चेष्टाएँ अब तक मुख्यतः उन सदस्य-राज्यों की कार्यवाही के द्वारा विफल मनोरथ हो गई हैं

जो प्रसंविदा के प्रति अपनी निष्ठा का बखान करते नहीं थकते । इस बात का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता कि निकट भविष्य में सर्वसम्मति का सिद्धांत भग्न हो जायेगा । सब राज्य जोर-शोर से यह कहते हैं कि सामूहिक सुरक्षा की कोई गम्भीर योजना निश्चयीकरण के बिना सफल नहीं होगी लेकिन १९३२ का निश्चयीकरण-सम्मेलन यही सिद्ध करता है कि हम अभी ऐसे संसार में नहीं रहते जिसमें कि निश्चयीकरण की सम्भावनाएँ वास्तविक हों । लीग ऑफ नेशन्स ने मंचूरिया में चीन के विरुद्ध जापान के आक्रमण की निंदा की, लेकिन उसके प्रस्ताव का प्रभाव कुछ नहीं हुआ । हम अपने अन्तर्राष्ट्रीय मन्दिर के तोरण-द्वार से राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति को हटा सकते हैं लेकिन फिर भी कई ऐसे ग्रुह्य छिद्र रह जाते हैं जिनसे आकर वह अपना पुराना प्रतिष्ठित स्थान पुनः हथिया लेती है ।

सम्पूर्ण समस्या का केन्द्र बिन्दु यह है कि प्रत्येक राज्य के लिए यह असम्भव कर दिया जाये कि वह युद्ध को अपनी नीति का एक साधन बना सके । हम यह मान सकते हैं कि कुछ राज्य निश्चिततः इस साधन का प्रयोग करना चाहते हैं । हम ऐसे अन्य साधनों का निर्माण कर सकते हैं जिससे कि इस साधन के प्रयोग की न्यूनतम सम्भावना रह जाये । हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि आज-कल की परिस्थितियों में युद्ध से कोई लाभ नहीं है । आर्थिक दृष्टि से जितना वह पराजित दल के लिए विनाशकारी होता है, उतना ही विजयी दल के लिए ।^१ हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि युद्ध की समाप्ति पर पराजित राज्यों में तो निश्चय ही, शायद विजयी राज्यों में भी, आंतरिक रचना के मामलों में सामाजिक क्रांति हो जाती है ।^२ आजकल व्यक्तियों में यह विचार बल पकड़ता जा रहा है कि युद्ध को छोड़ना नैतिक दृष्टि से अनुचित है और यदि कोई राज्य युद्ध प्रारम्भ करता है तो उसके नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसकी सेवा करना अस्वीकार कर दें ।^३ प्रसिद्ध वैज्ञानिकों का भी अब यह मत हो रहा है कि वे मानवता के सेवक हैं और इस नाते उनका यह कर्त्तव्य है कि वे ऐसे प्रयोग न करें जिनसे राज्यों को युद्ध के अधिक शक्तिशाली शस्त्र प्राप्त करने में सहायता

१. श्री नार्मन एंजेल ने अपनी पुस्तक 'न्यू इत्यून' में इस विचार का सुन्दर प्रतिपादन किया है ।

२. लॉर्ड पॉसोन्बी, न्यू इज दि टाइम्स (१९०६) ।

३. इस सम्बन्ध में डॉ० जोसेफ नीडहम तथा अन्यान्य वैज्ञानिकों ने २६ मई, १९३४ के न्यूज क्रॉनिकल में एक अच्छा पत्र लिखा है ।

मिले। इस सबके बावजूद भी हमारे बीच में एक प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय समाज की परिस्थितियाँ अनुपस्थित हैं।

हमारा सम्पूर्ण विचार-विमर्श इन परिस्थितियों के परिणामों पर केन्द्रित होना चाहिए। यह व्यापक रूप से माना जाता है कि राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति प्रभावशाली विश्वतंत्र की स्थापना के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है लेकिन यदि इस बाधा को हटाने की कोई गम्भीर चेष्टा की जाती है, तो वह किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण बिंदु पर अवरोध हो जाती है। चूँकि राज्य अपने को राष्ट्रीय हितों का सर्वोच्च संरक्षक मानता है, इसलिए वह यह आवश्यक समझता है कि जहाँ इन हितों का सम्बन्ध है, वह अपने क्षेत्र में अंतिम निर्णायक बना रहे। वह इस बात को अवश्य कहेगा कि इस दृष्टिकोण के उद्देश्य बिल्कुल निस्वार्थ हैं और उसकी ईमानदारी पर संदेह करना बिल्कुल गलत है। जब एक प्रख्यात ब्रिटिश नौ-सेनाधिपति यह कहते हैं कि एक शक्तिशाली ब्रिटिश नौ-सेना विश्व-शांति की सर्वश्रेष्ठ गारंटी है, तो मेरा यह विश्वास है कि वे अपने इस चिंतन में पूरी सचाई से काम लेते हैं।^१ लेकिन वे यह जानने की कोई चेष्टा नहीं करते कि इस शांति का उद्देश्य क्या है? वे स्वतः ही यह मान लेते हैं कि यदि इंग्लैण्ड में इतनी शक्ति हो कि वह अपनी इच्छा शेष संसार के ऊपर आरोपित कर सके, तो इससे संसार का कल्याण ही होगा। इसी प्रकार, मुझे इसमें भी रंचमात्र संदेह नहीं है कि जो राजनेता यह कहते हैं कि इंग्लैण्ड भारत में भारत की भलाई के लिए है, वे भी बिल्कुल सच्चे हैं। लेकिन ब्रिटिश नौ-सेना के बारे में लॉर्ड बीटी का जो विचार है, अमेरिकी और जापानी उससे सहमत नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार, भारत में ब्रिटिश उत्तरदायित्वों के बारे में हमारे राजनेताओं का जो विचार है, भारतीय जनता उसे स्वीकार नहीं करती। यह बात केवल इंग्लैण्ड के ऊपर ही लागू नहीं होती। अमेरिका और निकारगुआ, एवं हालैण्ड और जावा के सम्बन्धों के ऊपर भी यही बात लागू होती है। जहाँ स्वार्थों में भिन्नता होती है, राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति का सिद्धांत इन स्वार्थों की पूर्ति का एक वैधानिक साधन बन जाता है।

हमें राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति की समस्या पर उस दृष्टिकोण के अनुसार विचार करना है जो हमने राज्यों के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्धारित किया है। राज्य का उद्देश्य वर्ग-सम्बन्धों की एक दी हुई व्यवस्था को कायम रखना है और राष्ट्रीय क्षेत्र की भांति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी वह इस दी हुई व्यवस्था के अन्तर्ग्रस्त हितों की अभिवृद्धि करने के लिए ही बाध्य है। यह आवश्यक है

१. लॉर्ड बीटी (Beatty) : दि टाइम्स, अगस्त ११, १९३४।

कि वे “सर्वोच्च राष्ट्रीय हित” जिनको राज्य प्राप्त करता है, सदैव उसकी आर्थिक रचना के संदर्भ में निर्धारित हों। किसी राज्य की आर्थिक रचना ही उसके चरम उद्देश्यों को निर्धारित करती है। वह जो कुछ कहेगी, राज्य उसे करेगा। यदि वह ऐसी किसी चीज की माँग करती है, जिसे केवल युद्ध के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, तो राज्य इस भयंकर साधन का उपयोग करने के पूर्व पहले तो कूटनीति के समस्त साधनों को आजमाकर देखेगा और जब उनसे काम नहीं चलेगा, तब वह युद्ध का आश्रय लेगा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वह ऐसा “राष्ट्रीय सम्मान”, “संसार को सम्य बनाने के मिशन” या “संसार को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित करने” के नाम पर करेगा। यदि कोई व्यक्ति युद्ध-ग्रस्त राष्ट्रों की मनःस्थिति का परीक्षण करे, तो उसे यह मानना होगा कि इन घोषणाओं में पूरी सचाई है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति युद्धग्रस्त राष्ट्रों का गम्भीरतापूर्वक यथार्थवादी रीति से परीक्षण करे तो उसे ज्ञात होगा कि युद्ध का उद्देश्य उस वर्ग के लिए जो युद्ध प्रारम्भ करते समय युद्ध-ग्रस्त राष्ट्र का नियंता है, कुछ ठोस आर्थिक लाभ प्राप्त कराना है। यह ठोस आर्थिक लाभ ही वह आधार है जिसके ऊपर विचारधारा की इमारत खड़ी होती है।

मेरा विचार है कि यह निष्कर्ष इस तथ्य से हल्का नहीं पड़ जाता कि किसी स्पष्ट आर्थिक कारण को लेकर शायद ही कभी युद्ध प्रारम्भ हो। मेरे विचार से यह इस तथ्य से भी हल्का नहीं पड़ता कि बाहरी दृष्टि से शासक-वर्ग का हित शासित वर्ग के हित के साथ संयुक्त होता है। यह ठीक है कि सराजेवो के ऊपर डाले गए एक बम ने १९१४ के युद्ध को प्रारम्भ कर दिया था। लेकिन इससे यह तथ्य तो नहीं छिप जाता कि युद्ध मुख्यतः प्रतियोगी साम्राज्यों के बीच एक संघर्ष था। कहने को तो अमेरिका ने १९१७ में युद्ध में प्रवेश जर्मनी के असीम पनडुब्बी (submarine) युद्ध के विरोध के रूप में किया था। लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ उसके आर्थिक सम्बन्ध कुछ ऐसे थे कि उस समय की परिस्थिति ने उसे इन देशों का साथ देने के लिए बाध्य-सा कर दिया था। इंग्लैण्ड की भारत में उपस्थिति का मुख्य कारण यह है कि इंग्लैण्ड के भारत में व्यापारिक स्वार्थ हैं और ये स्वार्थ जैसा कि आधुनिक काल का इतिहास प्रकट करता है, उन कर्मचारियों के हित से घनिष्ठ रूप से सम्पर्कित हैं जो हमारे भारतीय वाणिज्य के फलस्वरूप सेवायुक्त हैं। लेकिन इंग्लैण्ड के व्यापारिक सम्बन्ध तो अमेरिका के साथ भी हैं और बहुत से ब्रिटिश कर्मचारियों की रोज़ी इसके ऊपर निर्भर है। परन्तु हम इसका यह निष्कर्ष तो कदापि नहीं निकालते कि

इंग्लैण्ड को अमेरिका पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहिए ।

इसलिए, मेरा जो विचार है, वह काफी सरल है, लेकिन उलझनभरी दुनिया में उसको व्यक्त करना ज़रा टेढ़ी खीर है । विचार यह है कि पूँजीवादी समाज में राज्य का प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न बने रहना इसलिए आवश्यक है जिससे कि वह पूँजीवाद के स्वार्थों की रक्षा कर सके । अंतिम रूप में, इन स्वार्थों की रक्षा युद्ध के द्वारा होती है । युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की प्रभुत्व-शक्ति की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति है । जबतक आभ्यान्तरिक क्षेत्र में राज्य का मुख्य उद्देश्य पूँजीवाद के सिद्धांतों की रक्षा करना है, तबतक उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह बाहरी क्षेत्र में युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नीति के एक साधन के रूप में बनाए रखे । यदि प्रभुत्व-शक्ति और एक प्रभावशाली विश्वतंत्र एक दूसरे के प्रतिकूल जीवन-रीतियाँ हैं, तो पूँजीवाद और विश्वतंत्र भी एक दूसरे के प्रतिकूल हैं । हमें पूँजीवादी व्यवस्था के संचालन का जो अनुभव है, उसके मूल में युद्ध विद्यमान है ।

(२)

पूँजीवाद के प्रतिपादक इस विचारधारा को अस्वीकार करते हैं । हमारे लिए प्रारम्भ में ही उनकी युक्तियों पर विचार कर लेना आवश्यक होगा । प्रो० ग्रिगोरी ने लिखा है, “इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पूँजीवाद युद्ध को जन्म देता है । उन्नीसवीं शताब्दी जिसमें सबसे अधिक युद्ध हुए थे, पूँजीवाद के उत्कर्ष का युग नहीं है और क्या अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल के पहले युद्ध नहीं होते थे ?” उन्नीसवीं शताब्दी में युद्ध के सबसे प्रबल विरोधी कॉब्डेन (Cobden) और ब्राइट जैसे वे राजनेता थे जिन्होंने पूँजीवादी लोकतंत्र के सिद्धांतों का सबसे अधिक विकास किया है । पूँजीवादी लोकतंत्र का मुख्य सिद्धांत यह है कि राज्य के हस्तक्षेप को कम से कम रखा जाये । युद्ध राज्य के हस्तक्षेप का सबसे बड़ा प्रमाण है और इसलिए वह पूँजीवाद के आधारभूत सिद्धांतों के ही प्रतिकूल पड़ता है । कॉब्डेन ने १८४२ में लिखा था, “मुक्त वाणिज्य से देश एक दूसरे के ऊपर निर्भर हो जाते हैं और उनके बीच सम्पर्क बढ़ता है । फलतः इससे सरकारें अपनी जनता को युद्ध-ग्रस्त करने से विरत होंगी ।”^१ मुक्त वाणिज्य पूँजीवादी दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत है ।

लेकिन, हमें सैद्धान्तिक पूँजीवाद के विशुद्ध दर्शन का नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक पूँजीवाद की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना है । यह स्पष्ट है कि यदि किसी पूँजीवादी समाज में पूँजीपति तो राज्य से सहायता की माँग न

करें, और राज्य पूँजीपतियों को सहायता न दे, तो वहाँ युद्ध कभी नहीं होगा। यदि हमारे अनुभव का पूँजीवाद इस प्रकार का होता, तो प्रो० ग्रिगोरी की विचारधारा के व्यक्ति यह अधिकारपूर्वक कह सकते थे कि युद्ध का कारण पूँजीवाद नहीं है। लेकिन ये लोग जिस पूँजीवाद की चर्चा करते हैं, वह ग्रंथशास्त्र के साहित्य के बाहर कभी नहीं रहा है। वह तो केवल उनकी कल्पना में ही निवास करता है। हमें जिस पूँजीवाद से परिचय है, उसने अपने इतिहास के पग-पग पर राज्य से संरक्षण की माँग की है। उसने सीमा-शुल्कों, आर्थिक सहायताओं, कोटाओं, अपने विदेशस्थित व्यापारिक अभिकर्त्ताओं के लिए विदेश-मंत्रालय के प्रभाव और विदेशों में जहाँ उसने ठीक समझा है, अपने अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य के हस्तक्षेप की माँग की है और उसे प्राप्त किया है। यदि हम मिश्र, चीन, मेक्सिको और अमेरिका के केन्द्रीय राज्यों के आधुनिक इतिहासों को समझना चाहें, तो वे केवल उस पूँजीवाद के आधार पर ही समझे जा सकते हैं जो कि अपने उद्यमों के पीछे राज्य की शक्ति रखने में समर्थ हुआ है। हम इस बात को दुर्भाग्यपूर्ण मान सकते हैं कि राज्य ने इस प्रकार के हस्तक्षेप किए हैं। हम यह कह सकते हैं कि यदि व्यापारी व्यापारिक क्षेत्र में पूर्णतः अपनी शक्ति पर ही निर्भर रहता, तो वह कहीं अधिक बुद्धिमान होता। लेकिन तथ्य यह है कि यदि वह ऐसा करता, तो हमारे अनुभव का पूँजीवाद जहाँ एक बेहतर विश्व का निर्माण करता, वहाँ उसका स्वरूप भी भिन्न होता। हमें अपने निष्कर्ष निकालने में वास्तविकता से काम लेना है, कल्पना से नहीं।

यह तर्क भी कि चूँकि पूँजीवाद के पहले भी काफी युद्ध होते थे, इसलिए पूँजीवाद युद्ध का कारण नहीं हो सकता, विशेष जानदार नहीं है। यहाँ पूँजीवाद से हमारा अभिप्राय इंग्लैण्ड के 'लैसेज फ्रेयर' राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के शुद्ध स्वरूप से है। इसके पश्चात् यह तर्क बड़े गोल-मोल ढंग से आगे बढ़ता है। वह पूँजीवादी समाज की परिभाषा एक ऐसे समाज के रूप में करता है जिसमें कि उद्यम की स्वतंत्रता होती है। उसका स्वतंत्रता से अभिप्राय बाणिज्य के ऐसे कार्य हैं जिनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करता। इसलिए जब कभी राज्य हस्तक्षेप करता है, वह यह कह देता है कि जो कुछ भी बुराईयाँ हैं, वे पूँजीवाद के कारण कदापि नहीं हैं। यदि हम पूँजीवाद की इस रूप में परिभाषा करेंगे, तब तो उससे यही निष्कर्ष निकलेगा। यह स्वाभाविक भी है।

लेकिन, जैसा कि मैंने निवेदन किया है, यह पूँजीवाद कभी विद्यमान

नहीं रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के केवल कुछ वर्षों में ही इस पूंजीवाद की कतिपय प्रवृत्तियों को कार्यान्वित किया गया था। हमारी जानकारी के पूंजीवाद का स्वरूप इससे बिल्कुल भिन्न है। यह पूंजीवाद ऐसा है जिसने अमेरिका के सीमा-शुल्क और अफ्रीका में सैनिक और अर्द्ध-सैनिक उपायों द्वारा वाणिज्य के विस्तार के रूप में स्वयं को प्रकट किया है। इस पूंजीवाद ने हेटी, निकार-गुआ और सेन डोमिनो में अपनी इच्छानुसार राज्यों का निर्माण और विनाश किया है। हम पूंजीवाद के स्वरूप पर विचार करते समय इस प्रकार की असंख्य घटनाओं को उपेक्षित नहीं कर सकते। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले भी बहुत से युद्ध हुए थे और इन युद्धों में गैर-आर्थिक, वंशगत, धार्मिक और राजनीतिक कारण बहुत महत्व के थे। लेकिन यदि हम उन युद्धों का गम्भीर परीक्षण करें, तो हमें ज्ञात होगा कि उनमें भी आर्थिक तत्वों का काफी योग रहता था। वस्तुतः, युद्ध की प्रेरणा का आर्थिक तत्वों से कभी भी सम्बन्ध-विच्छेद नहीं रहा है। यह सम्बन्ध कभी-कभी परोक्ष हो सकता है, उदाहरणार्थ जब कोई राज्य सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सीमान्त को पाने की चेष्टा कर रहा हो। यदा-कदा यह मिला-जुला भी हो सकता है। इसका उदाहरण फ्रांस की अल्सेसलॉरेन प्रदेश को प्राप्त करने की चेष्टा है। इस प्रकरण में ऐतिहासिक परम्परा द्वारा उत्पन्न भावना और फ्रांस के विशाल औद्योगिक स्वार्थों दोनों का ही संयोग है। यदि हम किसी युद्ध का कोई आर्थिक कारण नहीं ढूँढ़ सकते, तो उस युद्ध की व्याख्या अधूरी है।

वास्तव में आजकल की हालत भूतकाल की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर हो गई है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि वर्तमान युग में राज्यत्व का विचार राष्ट्रीय भावना के साथ संयुक्त हो गया है। दूसरा कारण यह है कि राज्यों का प्रशासनिक तंत्र बड़ा कठोर हो गया है। पहले कारण के फलस्वरूप राज्य को राष्ट्रवाद के आधार पर अपने नागरिकों का प्रबल समर्थन प्राप्त होता है। दूसरे कारण के फलस्वरूप राज्य राष्ट्र को युद्ध के लिए इतने बड़े पैमाने पर संगठित कर सकता है जैसा कि भूतकाल में नैपोलियन जैसे महान् शासक के लिए भी संभव नहीं था। इसलिए जब राज्य की नीति पूंजीवादी की इच्छा द्वारा नियंत्रित होती है जिसका मुख्य उद्देश्य मुनाफा कमाना है, तब वह अपनी सहायता के लिए ऐसी शक्तियों को जाग्रत कर सकता है जो भूतकाल की तुलना में विराट् हैं। १९१४ की लड़ाई तक इंग्लैण्ड ने रणक्षेत्र में अपने एक लाख से अधिक व्यक्तियों को कभी नहीं भेजा था, लेकिन इस लड़ाई में, उसने अपनी एक-तिहाई पुरुष-जनसंख्या को सैनिक प्रयोजनों

के लिए तय्यार कर लिया था। वर्तमान युग में युद्ध का राज्य के जीवन पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ता है। युद्ध का ऐसा व्यापक प्रभाव भूतकाल में कभी नहीं होता था। अब हमें अपनी सम्यता में जेन ऑस्टिन के उपन्यासों जैसे उपन्यास जिनमें नायक और नायिका अपने वातावरण पर युद्ध के प्रभाव से बेखबर होकर भावमग्न होकर नृत्य में निमग्न रहें, फिर कभी देखने को नहीं मिलेंगे।

इसलिए, हमें पूंजीवाद के आदर्श स्वरूप पर नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक स्वरूप पर विचार करना है। हमारी जानकारी का पूंजीवाद तो एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें कि उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत लोगों का नियंत्रण रहता है और जिसमें उत्पादन का प्रेरक उद्देश्य इस प्रकार के नियंत्रण द्वारा अधिक से अधिक मुनाफा कमाना होता है। इस व्यवस्था में एक विशेष प्रकार के वर्ग-सम्बन्ध होते हैं और इसमें राज्य की शक्ति वर्ग-सम्बन्धों के निष्कर्षों को कायम रखने के लिए प्रयुक्त होती है। फलतः, राज्य का सारा प्रयत्न यह रहता है कि सम्पत्तिशाली वर्ग का मुनाफा कमाने का अधिकार अक्षुण्ण बना रहे। इस व्यवस्था के सिद्धांतों को देखते हुए अन्य कुछ हो ही नहीं सकता था। मुनाफा कमाने के मार्ग में जो भी हस्तक्षेप करेगा, राज्य की शक्ति उसका दमन करेगी, यदि उसका दमन किया जा सकता है। समाज में उन वर्गों के बीच में जिनके हाथों में उत्पादन के साधन होते हैं और जिनके हाथों में उत्पादन के साधन नहीं होते, सदैव ही संघर्ष चलता रहता है। पूंजीवादी समाज में राज्य का मुख्य कार्य कानून के उन चरम सिद्धांतों की रक्षा करना है जिनके अनुसार संपत्ति के स्वामी को उत्पादन में अधिक भाग मिलता रहे। यही आधारभूत तथ्य अन्य समस्त सामाजिक गतिविधियों का स्वरूप निर्धारित करता है।

जो विचारक पूंजीवाद और युद्ध के सम्बन्ध को अस्वीकार करते हैं वे राज्य के इस सिद्धांत को नहीं मानते। यदि माँग और पूर्ति का क्रम बिना किसी संघर्ष के एक ऐसे बाजार में चलता जिसमें पूंजीपतियों को अपने ग्राहकों की समस्त आवश्यकताओं का पता होता और मजदूरों को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की पूरी आजादी होती, तो राज्य के हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता न रहती और सामाजिक सम्बन्ध शक्ति पर नहीं, प्रत्युत अनुबन्ध पर आधारित होते। लेकिन चूँकि ये दोनों बातें ही नहीं हैं, अतः हमें एक ऐसे समाज की गतिविधियों की ही व्याख्या करनी है जिसमें ये नहीं हैं और इसलिए जिसमें पूंजीपतियों को अपने हितों की अभिवृद्धि करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप

की आवश्यकता होती है और वे इसका उपयोग करते हैं। वे यह इसलिए कर सकते हैं क्योंकि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व उन्हें यह शक्ति दे देता है कि वे राज्य के हस्तक्षेप की दिशा निश्चित कर सकें। मैं उसके निष्कर्षों का विश्लेषण पहले ही कर चुका हूँ और प्रो० ग्रिगोरी की विचारधारा के पूंजीवाद के साथ उनका सम्बन्ध यह कहकर व्यक्त किया जा सकता है कि उसकी दृष्टि में ये निष्कर्ष केवल एक आदर्श के दुरुपयोग के फलस्वरूप हैं। प्रो० ग्रिगोरी के मतानुसार हमें किसी सिद्धांत के सम्बन्ध में अपना निर्णय उसके विशुद्ध स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए करना चाहिए। यह सचमुच शोचनीय है कि हमें वास्तविक समाज में इस विशुद्ध स्वरूप के दर्शन नहीं होते।

मेरा विचार है कि राज्य जो अपने आन्तरिक सम्बन्धों में होता है, वही वह अपने बाह्य सम्बन्धों में भी होता है। जिस प्रकार वह देश में पूंजी-पतियों के स्वार्थ की रक्षा के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, उसी प्रकार वह विदेशों में भी उनके स्वार्थ की रक्षा के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की प्रभुत्व-शक्ति का आशय यह है कि यदि कोई प्रतियोगी उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति में हस्तक्षेप करता है, तो वह कुछ असाध्य स्थितियों में इस प्रतियोगी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग कर सकता है। यदि वह अपनी प्रभुत्व-शक्ति को कुछ नियमों के अधीन कर देता है, तो वह जब तक इन नियमों का पालन करेगा, अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए शक्ति का प्रयोग न कर सकेगा। प्रभुत्व-शक्ति विरहित राज्यों का संसार ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के उन समस्त विचारों के अनुकूल है, जो अन्ततोगत्वा लीग ऑफ नेशन्स जैसी व्यवस्था में गंभीत हैं। लेकिन ये अंतिम निष्कर्ष उन सम्बन्धों के अनुकूल नहीं हैं जिनकी पूंजीवाद को आवश्यकता है क्योंकि वे हमारे समाज के मूल अन्तर्विरोधों को स्पष्ट कर देते हैं।

हमें जिस आधार से प्रारम्भ करना है, वह यह है कि विकसित अर्थ-व्यवस्था वाले राज्यों में आवश्यकता से अधिक पूंजी एकत्रित हो जाती है और यह सब पूंजी देश में ही पूरी तरह नहीं खप पाती। वह दूसरे देशों में जाकर लगती है क्योंकि उसे वहाँ अधिक मुनाफा मिलता है। जब वह दूसरे देशों में जाकर लगती है, वह राज्य से यह आशा करती है कि वह जहाँ तक हो सके, खतरे से उसकी रक्षा करे। पूंजी के आवश्यकता से अधिक संचयन का मूल कारण उत्पादन और वितरण का असंतुलन है। हमारे समाज के वर्ग-सम्बन्धों के कारण जनता की उपभोग-शक्ति उसकी उत्पादन-शक्ति के समान नहीं है। आधुनिक वेतन-क्रम के कारण जनता की आवश्यकताएँ जोरदार नहीं हैं।

पूँजीपति अपनी पूँजी का विनियोग दूसरे देशों में इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें अपने देश में आर्थिक स्थिति की विषमताओं के कारण वहाँ पूँजी लगाने से अधिक लाभ की आशा नहीं होती। यदि धन का वितरण संतुलित होता, तो यह स्पष्ट है कि लोगों की माँगें जोरदार होतीं और इसके परिणामस्वरूप देश में अधिक पूँजी के विनियोग की माँग उपस्थित होती। सामाजिक विषमताओं के कारण पूँजीपतियों के पास इतनी अधिक पूँजी एकत्रित हो जाती है कि वे उसे भोग-विलास में भी तो पूरी तरह खर्च नहीं कर पाते। इसलिए, वे मुनाफे के लिए विदेशों में अपनी पूँजी लगाते हैं। उन्हें इस बात की चिंता नहीं होती कि उनके पूँजी लगाने से क्या उद्देश्य पूरे होंगे। हो सकता है कि यह शस्त्रास्त्रों के लिए हो, या पूर्व के किसी स्वेच्छाचारी शासक के भोग-विलास के लिए हो या जैसा कि फ्रांस द्वारा रूस को दिए गए कुछ ऋणों के सम्बन्ध में हुआ था, एक विद्रूप शासन की ढहती हुई बुनियादों की रक्षा के लिए हो। जबतक पूँजीपति को मुनाफे की संभावना रहती है, वह इस बात की चिंता नहीं करता कि वह किन उद्देश्यों को सहायता दे रहा है।

प्रगतिशील देशों में पूँजी का जिस द्रुतगति से संचयन हो जाता है और फिर उसके निर्यात की आवश्यकता हो जाती है, उसका मूल कारण सामाजिक विषमता है। यदि वेतन-क्रम ऊँचे हों, तो यह स्पष्ट है कि चीजों की माँग अधिक होगी और इसके फलस्वरूप देश में अधिक पूँजी लग सकेगी। ऐसी स्थिति में किसी दिवालिया राज्य के लिए एक अतिरिक्त युद्धपोत बनाने के स्थान पर मजदूरों के लिए मकान बनाए जा सकेंगे। मजदूरों की आय वास्तव में इतनी कम होती है कि वे बड़ी कठिनाई से अपना जीवन-निर्वाह कर पाते हैं। फलतः पूँजीपति अपनी पूँजी का परिमाणात्मक नहीं, प्रत्युत गुणात्मक विस्तार करना चाहते हैं क्योंकि गुणात्मक विस्तार में पैदा की हुई चीजों के लिए समान विक्रय-शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। जब कभी पूँजीवाद का विस्तार परिमाणात्मक न होकर गुणात्मक होता है, उसे विनियुक्त पूँजी की रक्षा के लिए विजय का सहारा लेना पड़ता है। यह विजय प्रत्यक्ष भी हो सकती है और परोक्ष भी। प्रत्यक्ष विजय का उदाहरण भारत है और परोक्ष विजय का दक्षिण अमेरिका। इस प्रक्रिया में खतरे इतने अधिक हैं, प्राप्त की जाने वाली रियायतें इतनी विशाल हैं और व्याज की दरें इतनी ऊँची हैं कि सैनिक शक्ति का दबाव ही उनकी रक्षा कर सकता है।

देश की आन्तरिक स्थिति पूँजी के निर्यात को क्यों लाभकारी और आकर्षक बना देती है, इसका एक और कारण है। पिछड़े हुए देशों में पश्चिमी

देशों की अपेक्षा बहुत सस्ती मजदूरी होती है। इसके कारण भी पूँजीपतियों को लाभ की बहुत संभावना रहती है। वहाँ काम के अधिक घंटे, कम वेतन, स्वच्छता और सुरक्षा की माँगों की ओर कम ध्यान, सुसंगठित श्रमिक संघों का अभाव और कभी-कभी करार का श्रम जो एक प्रकार का दासत्व ही है— होता है। पूँजीपति इन समस्त परिस्थितियों का पूरा लाभ उठाते हैं। इस दृष्टि से मजदूरों का सदैव ही शोषण होता है। मिश्र, भारत, चीन और अफ्रीका आदि देशों के औद्योगिक इतिहास इस तथ्य के ज्वलंत प्रमाण हैं। यह खतरा कि कहीं मुनाफा न हो, इस तथ्य से दूर हो जाता है कि व्यक्तिगत उद्यम की पीठ पर सदैव कूटनीतिक और सैनिक शक्ति रहती है जिसका उद्देश्य इस बात की व्यवस्था करना होता है कि व्यापारी को अपने प्रयत्नों का पूरा पारितोषिक प्राप्त हो।

आर्थिक साम्राज्यवाद से कुछ और लाभ भी होते हैं। इनका भी काफी महत्व है। वाणिज्य के लिए एक सुनिश्चित प्रदेश की आवश्यकता होती है। सुनिश्चित प्रदेश के लिए नागरिक और सैनिक प्रशासन आवश्यक है। मिश्र, भारत और अफ्रीका के डोमीनियनों में सिविल सर्विसों का इसी प्रकार विकास हुआ है। मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के व्यक्तियों को इन सर्विसों में बड़े अच्छे पद मिल जाते हैं। इस प्रक्रिया के कई महत्वपूर्ण परिणाम हुए हैं। एक ओर तो इसने इन प्रदेशों में स्वशासन के विकास के प्रति विरोध-भाव पैदा किया है। इसका कारण यह है कि आधीन राष्ट्रों का राष्ट्रीय आंदोलन ऐसी व्यवस्था की बुनियादों की तीव्र आलोचना करता है जो बहुत से तरुणों को प्रति वर्ष ऐसे पद प्रदान करता है जिन्हें वे अन्य प्रकार से सुगमता-पूर्वक नहीं पा सकते थे। दूसरी ओर इस प्रक्रिया ने इन प्रदेशों में उपयुक्त-सैनिक शक्ति की आवश्यकता प्रस्तुत कर दी है क्योंकि देश का लोकमत इस बात की प्रबल माँग करता है कि उसके पुत्रों को युद्ध या क्रांति से बचाने के लिए अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक भी है और महत्वपूर्ण भी। लेकिन इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि इसके कारण कुछ ऐसे अधिष्ठित स्वार्थ खड़े हो जाते हैं जो स्व-शासन की उन्नति को रोकते हैं। भारत इस सम्बन्ध में अच्छी मिसाल है।

आर्थिक साम्राज्यवाद की एक और विशेषता है जो पहले सिद्धांतों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। जब तक बाजारों की प्रतियोगिता केवल पश्चिम के राष्ट्रों तक ही सीमित थी, वह ऐसे राष्ट्रों की प्रतियोगिता थी जिनके

औद्योगिक मानदंड प्रायः एक-से थे । लेकिन जबसे सुदूरपूर्व भी इस क्षेत्र में आया है, स्थिति बदल गई है । जापान के कारखानों के मानदंड इतने ऊँचे हैं कि उसने लंकाशायर के कपास के व्यापारी को कई स्थानों में पराजित किया है । इसके अतिरिक्त भारत और चीन का प्रबल राष्ट्रवाद वहाँ ऐसे संरक्षणात्मक सीमा-शुल्कों का सृजन करेगा जिसके फलस्वरूप कि इन देशों के बाजार केवल वहाँ के नागरिकों के लिए ही सुरक्षित रहें । पहली प्रक्रिया का परिणाम यह है कि पराजित प्रतियोगी के उद्योगों में भारी बेरोजगारी फैल जायेगी या असमान प्रतियोगिता के जोर को विधान द्वारा हटाने के लिए राज्य का हस्तक्षेप होगा । बाद के विकल्प की हानि उठाने वाले राज्य के ऊपर यह प्रतिक्रिया होती है कि वह अपनी रक्षा के लिए कुछ व्यवस्था करता है । संरक्षणात्मक सीमा-शुल्कों के विकास का भी यही परिणाम निकलता है । इसके फलस्वरूप जिस आर्थिक निरंकुशता को प्रोत्साहन मिलता है, वह अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य की धारा को ऐसे समय में शुष्क कर देती है जबकि उसकी अनवरत वृद्धि पूँजी के पूर्ण नियोजन के लिए आवश्यक है । आजकल वैज्ञानिक उन्नति के कारण पूँजी की उत्पादन-क्षमता भी बेहद बढ़ गई है । तब फिर सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था बिगड़ जाती है और १९२९ जैसे अवपात एवं सामाजिक असंतुलन अवश्यम्भावी हो जाते हैं । यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में स्वार्थी की जो टक्कर पैदा होती है, उसको देखते हुए एक चरम विस्फोट का निवारण करना अत्यन्त कठिन और शायद असंभव है ।

इस विवेचन का निष्कर्ष स्पष्ट है । विदेशों में पूँजी के विनियोग से जो मुनाफे हुए, उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में साम्राज्यवाद का विकास किया । प्रत्येक राज्य ने इस प्रकार जिन लाभों को प्राप्त किया था, उनकी रक्षा करने और उन्हें दृढ़ बनाने के लिए अपने शस्त्रास्त्रों में वृद्धि की, जिसके कारण यदि कभी उसके स्वार्थी के ऊपर कोई आक्रमण हो, तो वह उन्हें बचा सके । लेकिन शस्त्रास्त्रों की इस वृद्धि ने राज्यों के अंदर एक दूसरे के प्रति शंका और संदेह पैदा कर दिया । इसके फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में राज्यों ने एक दूसरे के साथ नाना प्रकार के गठबंधन स्थापित किए । राष्ट्रीय राज्य एक दूसरे के सामने अधिकों की भाँति खड़े हो गए । उपनिवेश, रक्षित राज्य और प्रभाव-क्षेत्र (sphere of influence) एक ही प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन कराते हैं । इन सब में ही प्रतिष्ठा का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है और प्रतिष्ठा के प्रश्न में एक ऐसी व्यवस्था अन्तर्ग्रस्त है जिसमें राज्य की सशस्त्र सेनाएँ उसकी सत्ता की अंतिम कसौटी बन जाती हैं । यदि हम यथार्थ

रीति से परीक्षण करें, तो हमें ज्ञात होगा कि प्रतिष्ठा का प्रश्न प्रत्येक राज्य में पूँजीपति की यह शक्ति-मात्र है कि वह अपने उन स्वार्थों की रक्षा करने के लिए जिनको उसने प्राप्त किया है या जिनको प्राप्त करने की वह आशा रखता है, राज्य के अधिकार का उपयोग कर सकता है। अंग्रेजों ने मिश्र पर ब्रिटिश बॉड-होल्डर्स के हितों की रक्षा करने के लिए अधिकार किया था। दक्षिण अफ्रीका का युद्ध सोने की खानों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए किया गया संघर्ष-मात्र था।

कोई भी साम्राज्यवादी शक्ति इस प्रकार की प्रवृत्तियों की अपवाद नहीं है। मोरक्को पर फ्रांस का नियंत्रण फ्रेंच पूँजीपतियों के विनियोगों की रक्षा करने का प्रयास था। रूसी-जापानी युद्ध का मुख्य कारण यह था कि रूसी सरकार मंचूरिया में अपने व्यापारियों की काष्ठविषयक रियायतों की रक्षा करना चाहती थी। निकारगुआ, सैन डोमिंगो और हेटी, इन सबकी स्थिति अमेरिकी पूँजीपतियों के हित में अमेरिकी-प्रांतों की भांति कर दी गई है। कांगो की बर्बर निर्दयताएँ, मैक्सिको के तेल पर नियंत्रण पाने के लिए ब्रिटिश और अमेरिकी महाजनों का संघर्ष, महायुद्ध के पूर्व सुदूरपूर्व पर अधिकार स्थापित करने के लिए जर्मनी और मित्रराष्ट्रों की लड़ाई, जापान का कोरिया पर आधिपत्य और अभी हाल में मांचुकुओ के कठपुतली राज्य का निर्माण, ये सब एक ही सिद्धांत के विभिन्न रूपान्तरमात्र हैं। मनुष्यों ने पूँजी लगाने के एक लाभकारी स्रोत की खोज की और उसको प्राप्त किया। वे अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिए अपनी सरकारों की सहायता पाने में समर्थ हुए हैं। अंत में सरकार पूँजीपति के साथ ऐसी समीकृत हो जाती है कि यदि उसके लाभ के लिए कोई खतरा होता है, तो उसे राष्ट्रीय सम्मान पर आक्रमण मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति में पूँजीपति अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की शक्ति का उपयोग करता है।

यह स्पष्ट है कि ऐसे वातावरण में रहने वाला राज्य युद्ध को अपनी प्रभुत्व-शक्ति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मानेगा। हो सकता है कि उसके राजनीतिज्ञ युद्ध न चाहें, लेकिन उनकी प्रेरक शक्तियाँ उन्हें युद्ध के लिए बाध्य कर देंगी। यदि वे युद्ध नहीं करेंगे; तो वे अपने मुनाफे को जो पूँजीवाद का सार तत्व है, खतरे में डालेंगे। युद्ध न करने का अभिप्राय यह होगा कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति का सम्पूर्ण प्रयोजन ही व्यर्थ जाये। १९१४ तक राष्ट्रीय भावना और पूँजीपतियों के प्रयास का संयोग इतना शक्तिशाली हो गया था कि उन समाजवादी नेताओं ने भी जो युद्ध का विरोध करने के लिए शपथ-बद्ध थे, उसके प्रति

अपने विरोध को त्याग दिया और कहा कि यह युद्ध (१९१४ का महायुद्ध) पूर्व के अन्य समस्त युद्धों से भिन्न है। युद्ध की समाप्ति पर उन्होंने समझा कि उनकी व्याख्या गलत रही थी, लेकिन तब तो 'अब पछिताये होत क्या, चिड़ियां चुग गई खेत' वाली बात थी।

मैं यहाँ जिस युक्ति को उपस्थित कर रहा हूँ, वह यह है कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति को उस समय तक नहीं त्यागा जा सकता, जबतक उसकी सत्ता पूँजीपतियों के हाथों में है। यही कारण है कि लीग ऑफ नेशन्स को अपनी कई प्रमुख समस्याओं में असफलता मिली है। वह जापानी साम्राज्यवाद के संकट के सामने असफल हुई, वह शस्त्रीकरण के संकट के सामने असफल हुई, वह आर्थिक राष्ट्रवाद के संकट के सामने असफल हुई। यदि यह कहा जाये कि असफलता तो उसके सदस्यों की थी—मार्च १९३३ में जापान की सर्वसम्मति निंदा, उसकी एक महत्त्वपूर्ण सफलता थी—तो इससे मेरे तर्क पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लीग ऑफ नेशन्स की असफलता का मुख्य कारण तो राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति थी। यदि लीग को सफल होना है, तो यह आवश्यक है कि वह युद्ध को राज्यों की नीति का साधन न माने। इसके लिए प्रभुत्व-शक्ति के विचार का विनाश आवश्यक है। जब तक इसका नाश नहीं होता, अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना असंभव है। लीग ऐसा होने पर ही युद्ध के कारणों का निवारण करने में अपनी शक्तियों का अधिक गम्भीरतापूर्वक प्रयोग कर सकती है। जब तक राज्यों के पास प्रभुत्व-शक्ति है, लीग द्वारा उठाया हुआ प्रत्येक कदम निष्फल हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस बल, सामुद्रिक युद्ध का त्याग, सैनिक विमानों का अंत, आक्रांता के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार का प्रयोग—इन सब का राज्यों के राष्ट्रीय हितों पर प्रभाव पड़ता है और वे इन प्रश्नों पर प्रत्येक समझौते को रोकने के लिए प्रभुत्व-शक्ति का उपयोग करते हैं। लीग प्रक्रियागत प्रश्नों को छोड़कर अन्य समस्त प्रश्नों पर तभी कार्यवाही कर सकती है, जबकि उसके सभी सदस्य एकमत हों। लेकिन चूँकि ऐसा नहीं हो पाता, अतः लीग निष्क्रिय बनी रहती है। पुनश्च, पूँजीवाद के संकट ने और भी अधिक उत्तेजना का वातावरण उत्पन्न कर दिया है। यद्यपि राज्यों को यह ज्ञात है कि युद्ध का परिणाम भयंकर होता है, लेकिन फिर भी वे उस पर नियंत्रण रखने में असमर्थ हैं और उन्हें युद्ध के लिए तैयारी करनी पड़ती है।

मेरा तर्क बिल्कुल सरल है और वह यह है कि पूँजीवादी विकास के साम्राज्यवादी चरण का आवश्यक परिणाम युद्ध है और एक प्रभावशाली विश्वतंत्र का उसके साथ कोई मेल नहीं है। विश्वतंत्र की स्थापना के लिए

एकात्मक आर्थिक संसार की आवश्यकता है लेकिन राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति के कारण ऐसा नहीं हो पा रहा है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को कारगर होना है, तो यह आवश्यक है कि चलार्थ, सीमा-शुल्कों, श्रमिक मानदंड, देशांतर-गमन, कच्चे द्रव्य की प्राप्ति और पिछड़े हुए प्रदेशों में प्रवेश जैसे विषयों पर उसका नियंत्रण होना चाहिए। लेकिन वह ऐसा तभी कर सकता है जबकि वह उन वर्तमान अधिष्ठित स्वार्थों का अतिक्रमण कर जाये जो अपनी रक्षा के लिए राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति का उपयोग करते हैं। संसार की वर्तमान स्थिति में वह उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता क्योंकि वे पूँजीवादी समाज के वर्ग-सम्बन्धों के कारण उत्पन्न होते हैं। उनकी रक्षा करने वाली शक्तियाँ वही हैं जो कि राष्ट्रीय समाज में पूँजीपतियों की रक्षा करती हैं। जिस प्रकार आभ्यान्तरिक क्षेत्र में राज्य की प्रभुत्व-शक्ति ऐसे वैधानिक अधिकारों की रक्षा करती है जिनके फलस्वरूप पूँजीपतियों की सर्वोच्चता बनी रहे, ठीक उसी प्रकार बाहरी क्षेत्र में भी राज्य की सत्ता का प्रयोग इस प्रकार अवश्यम्भावी है जिससे कि पूँजीपतियों का दबदबा अधुण्ण रहे। इन वर्ग-सम्बन्धों के परिवर्तन से ही राज्यों के पारस्परिक विरोध समाप्त हो सकते हैं और उनमें सौहार्द उत्पन्न हो सकता है। इस समय की स्थिति को तो देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सद्भावना की स्थापना नहीं हो सकती और अंतःशः युद्ध अपरिहार्य है।

(३)

युद्धोत्तर युग में ऐसी कई बातें हुई हैं जो इस व्याख्या की सत्यता सिद्ध करती हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि जापान, जर्मनी और इटली जैसे सभी अर्द्ध-फासिस्ट या पूर्ण फासिस्ट राज्य उपनिवेशों की खोज में व्यस्त हैं और वे स्पष्ट रूप से सैनिकवादी हैं। इनमें से प्रत्येक राज्य में व्यापक अशांति है और स्वेच्छाचारी सरकार उस अशांति का पूँजीपतियों के हित में दमन कर देती है और एक शक्तिशाली विदेश-नीति का संचालन करती है जिससे कि लोगों का ध्यान आन्तरिक कठिनाइयों की ओर से हट जाये। इस बात को हरेक कोई जानता है कि जापान, हिटलर और मुसोलिनी जिन नीतियों का संचालन करते हैं, उनके कारण आगे चल कर युद्ध अवश्य होगा। उनकी नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए घातक हैं। वे उस समय तक समाप्त नहीं हो सकतीं जब तक कि वर्तमान वर्ग-सम्बन्ध कायम हैं। पूँजीवाद के लिए यह आवश्यक है कि उसका निरन्तर विस्तार हो। यदि कोई राज्य विस्तार की चेष्टा करता है, तो उसे अन्य राज्यों से टक्कर लेनी पड़ती है क्योंकि कोई भी राज्य अपने प्रदेशों को छोड़ने के लिए तय्यार नहीं है। फलतः समस्याओं का समाधान

राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय समाज

को होता नहीं, वे और भी जटिल हो जाती हैं ।

युद्धोत्तर वर्षों में इंग्लैण्ड में आर्थिक राष्ट्रवाद की जो वृद्धि हुई है, वह भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है । इंग्लैण्ड में संरक्षणवादी आन्दोलन का गत शताब्दी की आठवीं दशक में पुनस्तथान प्रारम्भ हो गया था ।^१ अनुदार दल श्री चैम्बरलेन के १९०३ के आन्दोलन के पश्चात् से संरक्षणवादी विचारों के लिए वचनबद्ध रहा है । लेकिन १९०६ के पश्चात् निर्वाचकों ने प्रत्येक निर्वाचन में सीमा-शुल्क सम्बन्धी सुधारों को अस्वीकार किया है । १९२३ में जब श्री बैल्लविन ने इस विशिष्ट प्रश्न के ऊपर संसद् का विघटन किया था, उन्हें चुनाव में बुरी तरह मुंहकी खानी पड़ी थी । १९३१ के निर्वाचन में अनुदार दल का आधुनिक काल में सबसे अधिक बहुमत रहा था । राष्ट्रीय सरकार के प्रमुख सदस्यों ने निर्वाचकों को यह विश्वास दिला दिया था कि उनसे सीमा-शुल्कों के संरक्षण के लिए मैडेट नहीं माँगा जा रहा । यह निश्चित है कि इन शर्तों पर उदार दल संयुक्त सरकार बनाने के लिए प्रस्तुत न होता । लेकिन संयुक्त सरकार का निर्माण होने के कुछ ही मास पश्चात् मुक्त वाणिज्य समाप्त हो गया और १९३२ की ओटावा कान्फ्रेंस में इस बात की कोशिश की गई कि साम्राज्य के साथ वे निकट आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किए जायें जिन्हें आनुक्रमिक सरकारें एक पीढ़ी से टालती आ रही थीं ।

हमें इस बात पर तनिक गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है । औद्योगिक क्रांति से लाभ उठाने वाला इंग्लैण्ड पहला राष्ट्र था । मुक्त वाणिज्य के अन्तर्गत वह संसार का माल तय्यार करने वाला अग्रणी देश बन गया था । उसका जीवन अपने निर्यातों पर निर्भर था । आयातों में कमी कर के निर्यातों को सीमित करने का प्रयास उसके कपास, लोहा, ऊन, कोयला और इस्पात के व्यापारियों को आत्म-हनन प्रतीत होता था । लेकिन जैसे ही दूसरे राष्ट्रों की कृषिगत अर्थ-व्यवस्था ने औद्योगिक स्वरूप धारण किया, उन्होंने भी, विशेषकर अमेरिका ने, घरेलू उत्पादक के हित में घरेलू बाजारों का संरक्षण प्रारम्भ कर दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि इंग्लैण्ड युद्ध तक प्रबल तो रहा, लेकिन उसे भी दूसरे राष्ट्रों की कठोर प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा । युद्ध ने इस स्थिति को बहुत बदल दिया । उसने वाणिज्य की परम्परागत पद्धतियों में क्रांति उपस्थित कर दी । उसकी विशिष्ट

१. विस्टन चर्चिल, लाइफ़ ऑफ़ लॉर्ड रेन्डोल्फ़ चर्चिल (१९०६), भाग १, पृ० २६० ।

समस्याओं ने एक ऐसे राष्ट्रवाद को जन्म दिया जिसने शीघ्रता से स्वयं को आर्थिक क्षेत्र में व्यक्त किया। इंग्लैंड की तब ऐसी स्थिति हो गई कि सीमा-शुल्क से प्राप्त होने वाले राजस्व से करदाता को काफी लाभ मिलने लगा। निर्यातों के अभाव ने निर्यातक की शक्ति में पूर्वकाल की अपेक्षा काफी कमी कर दी। राष्ट्रीय उत्पादक के इस प्रयास ने कि वह प्रतियोगिता से अपनी रक्षा करे, भारी बेरोजगारी की उपस्थिति में वारिण्य-क्रम के पुराने संतुलन को इस प्रकार पुनरुज्जीवित कर दिया कि मनुष्य व्यावसायिक युग की भाँति उसकी भाँतियों को अनुभव करने के लिए तैयार नहीं थे। आगम-शुल्क (Tariff) के सम्बन्ध में किसी नई युक्ति को उपस्थित नहीं किया गया। व्यापारियों ने चुपचाप यह मान लिया कि अब परिस्थितियाँ इतनी बदल गई हैं कि मुक्त वारिण्य (free trade) से काम नहीं चल सकता। इसके परिणामस्वरूप उन देशों की आर्थिक स्थिति को बहुत हानि पहुँची जिनका कल्याण बहुत कुछ इस बात पर निर्भर था कि अंग्रेजी बाजारों में उनकी पहुँच हो सकती थी। इस परिवर्तन से देश की घरेलू राजनीति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसने यह प्रकट कर दिया कि वह राष्ट्र जिसकी अर्थ-व्यवस्था ने उसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण निर्धारित करना अपरिहार्य कर दिया था, किस प्रकार निरंकुशता (autarchy) के आदर्श के लिए अपनी ऐतिहासिक विशेषता को त्यागने के लिए विवश हो गया। यह निरंकुशता इसी बात की सूचक है कि हमारी उत्पादन और वितरण-शक्ति में कितना गहरा अन्तर्विरोध है। यह अन्तर्विरोध पूँजीवादी समाज के वर्ग-सम्बन्धों का अनिवार्य परिणाम है।

हमारे युग की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि एक ओर तो अर्थ-शास्त्री उन साधनों के सम्बन्ध में एकमत हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था को नया जीवन दे सकते हैं और दूसरी ओर वर्तमान वर्ग-सम्बन्धों में उनकी सिफारिशों पर आचरण करना असंभवप्रायः है। यह प्रायः सब लोग मानते हैं कि हमें समस्त सार्वजनिक विदेश ऋण (Public foreign loan) लीग के हाथों में रखना चाहिए। हम केवल इसी उपाय से ऋणी राष्ट्रों के अनिश्चित व्यय को और इसके साथ ही उनके ऊपर पड़ने वाले अवांछनीय दबावों को हटा सकते हैं। हमें आगम-शुल्कों और इसी प्रकार के अन्य प्रतिबंधों को कम करने की आवश्यकता है। हमें एक संयुक्त विश्व आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता है। हमें घरेलू विनियोग एवं सट्टे को रोकने की पद्धतियों में सुधार करने की आवश्यकता है। हमें औद्योगिक प्रणालियों का भी क्रांतिकारी पुनर्गठन करने की आवश्यकता है। हमें अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा मूल कच्चे द्रव्यों के

उत्पादन की मात्रा को संतुलित करना है एवं कठिन परिश्रम के द्वारा उत्पन्न सामग्रियों का सस्तापन एवं उद्योगों को आर्थिक सहायता देने की नीति इन दोनों को रोकने की आवश्यकता है। जिन उद्योगों को आर्थिक सहायता मिलती है, वे इस प्रकार के कृत्रिम साधनों द्वारा ही आवश्यक रूप से जीवित रहते हैं। इंग्लैण्ड का चुकंदर-उद्योग इसका एक उदाहरण है। कहने का सार यह है कि हम एक ऐसी आर्थिक नीति निर्धारित कर सकते हैं, जो यदि शांति बनी रहती है तो पूँजीवाद का पर्याप्त सुधार एवं जीवन-स्तर की निरन्तर उन्नति कर सकती है।^१

लेकिन हमारे १९१९ के बाद के अनुभव से यह स्पष्ट है कि प्रतियोगी पूँजीवादी समाज में इस प्रकार के उपाय नहीं चल सकते। अधिष्ठित स्वार्थ आवश्यक त्याग नहीं करेंगे। वे अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए राष्ट्रीय भावनाओं का उपयोग कर सकते हैं। सर आर्थर सेल्टर ने यह भविष्यवाणी की थी कि यदि किसी संयुक्त कार्यवाही का आधार प्राप्त करने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, तो वह लाभ की अपेक्षा अधिक हानि कर सकता है।^२ १९३३ के अनुभव ने सर आर्थर सेल्टर की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर दिया। तथ्य यह है कि हमारे वर्ग-सम्बन्ध हमें इस बात के लिए विवश करते हैं कि हम अन्तर्राष्ट्रीय समाज की समस्याओं का समाधान बिल्कुल एक भिन्न युग की पद्धति से करें। चूँकि साध्य और साधन में एक दूसरे से मतभेद है, यही कारण है कि हमारा काम नहीं बन पाता।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्तिगत राज्य अपनी प्रभुत्व-शक्ति को उसके आधीन कर दे। यह उस समय तक नहीं हो सकता जबतक कि राज्य अधिष्ठित स्वार्थों की रक्षा और उनका विस्तार करना चाहते हैं। यदि राज्यों की प्रभुत्व-शक्ति बनी रहती है तो वह अपने प्रयोजनों की पूर्ति के लिए कुछ साधन अवश्य चाहेगी और यथार्थवादी दृष्टि से इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि निशस्त्रीकरण और वर्तमान आर्थिक व्यवस्था एक दूसरे के प्रतिकूल आदर्श हैं। यदि कोई उत्साही व्यक्ति यह कहता है कि

१. इस प्रकार के कार्यक्रम के लिए सर आर्थर सेल्टर की १९३२ में प्रकाशित 'रिकवरी' (Recovery) पुस्तक देखिए। १९२७ में जेनेवा की प्रेपेरेटरी एकोनोमिक कान्फ्रेंस में ग्रंथशास्त्रियों ने जो प्रस्ताव रखे थे, सर आर्थर सेल्टर के निष्कर्ष उनसे मिलते-जुलते हैं।

२. बि यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ यूरोप (१९३४), पृ० ३५।

कोई भी राष्ट्र युद्ध नहीं चाहता, इसलिए निशस्त्रीकरण का मार्ग बिल्कुल सीधा है या होना चाहिए वह यह महत्वपूर्ण तथ्य भूल जाता है कि जहाँ कोई राष्ट्र युद्ध नहीं चाहता, उसकी आर्थिक व्यवस्था ऐसी है कि उसके बहुत से लाभों को संघर्ष के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब तक यह स्थिति है प्रत्येक राज्य के सैनिक और नाविक विशेषज्ञ उन साधनों की माँग करेंगे जिन्हें वे इन लाभों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझते हैं। १९३२ के निशस्त्रीकरण सम्मेलन (Disarmament Conference) की पाखंड लीला का यही रहस्य है कि एक ओर तो प्रत्येक राज्य निशस्त्रीकरण की रट लगाते नहीं थकता, दूसरी ओर वह ऐसे किसी साधन को त्यागने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत नहीं है जिसे वह शक्ति-संघर्ष में विशेष महत्व का मानता है। निशस्त्रीकरण का अर्थ यह है कि विवेक की शक्ति में विश्वास रक्खा जाये और विवेक की शक्ति में विश्वास रखने का अर्थ यह है कि निरंकुशता और शक्ति-संघर्ष को तिलांजलि दी जाये। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना के लिए यह तिलांजलि आवश्यक है। लेकिन यह तो वर्तमान समाज-व्यवस्था के सिद्धांतों की दृष्टि से अन्तर्विरोध हो जाता है।

यह अन्तर्विरोध आभ्यान्तरिक और बाहरी दोनों पक्षों में दिखाई देता है। आभ्यान्तरिक पक्ष में यह अन्तर्विरोध इस प्रकार दिखाई देता है—चूँकि समाज के वर्ग-संगठन के फलस्वरूप लोगों को समानरूप से आर्थिक लाभ नहीं होते, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि समाज जनता को संतुष्ट करने के कुछ अन्य साधन खोजे। यह वह विदेशों में शोषण के द्वारा ही कर सकता है। बाहरी पक्ष में यह अन्तर्विरोध इस प्रकार है—शोषण के अधिकार की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि राज्य अपनी प्रभुत्व-शक्ति को अक्षुण्ण रखे जिससे कि यदि कभी उनकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचे, तो वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर सके। सैद्धान्तिक दृष्टि से पूँजीवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है जो राष्ट्रीयता की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। लेकिन इतिहास ने उसका राष्ट्रीय राज्य के साथ गठबंधन करके उसे सीमित कर दिया है। फलतः, वह अपने सिद्धांतों में आवश्यक संशोधन करने में असमर्थ है।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए आर्थिक विश्व-नियोजन की आवश्यकता है। हम अपने संसाधनों का इसी प्रकार अधिकतम उपयोग कर सकते हैं। लेकिन आर्थिक विश्व-नियोजन का अभिप्राय यह है कि छोटे स्वार्थ की बड़े स्वार्थ की वेदी पर बलि होना चाहिए। इसके अनुसार हमें अपनी समस्याओं के समाधान के लिए सभी अवस्थाओं में विवेक का प्रयोग करना चाहिए। लेकिन मनुष्य उस

समय विवेक के अनुसार कार्य नहीं करते जब कि उनके स्वार्थ अविवेकी होते हैं। इस संदर्भ में उनके लिए छोटी-सी टुकड़ी मानव समाज के विशाल सैन्य-समुदाय से अधिक महत्व की हो जाती है। जब विशेषाधिकारयुक्त संगठित व्यक्तियों से यह कहा जाता है कि वे अपने विशेषाधिकारों को त्याग दें, तो वे विवेक के स्थान पर भावनाओं से काम लेते हैं। भावनाओं के सामने विवेक सदैव ही हतप्रभ हो जाता है। इसका कारण यह है कि हमारे समाज में जिन व्यक्तियों की तूती बोलती है, वे सदैव ही उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं। विवेक की दृष्टि से उनका समर्थन उस समय तक नहीं हो सकता जबतक कि यह सिद्ध न हो जाये कि उनके विशेषाधिकार सार्वजनिक कल्याण के आवश्यक अंग हैं। लेकिन आधुनिक राज्य में ऐसे बहुत कम आर्थिक विशेषाधिकार हैं जिनका इस आधार पर समर्थन किया जा सकता है। फलतः, विशेषाधिकार-सम्पन्न व्यक्ति अपनी स्थिति को कायम रखने के लिए जनता की अशिक्षा, भावनाओं और अंधविश्वासों से पूरा लाभ उठाते हैं। उन्हें अपने इस उद्देश्य में युद्ध के द्वारा सबसे अधिक सहायता मिलती है।

मनुष्य विवेक की ओर तभी ध्यान देते हैं, जब कि उसका परिणाम उनके अनुकूल हो। जब विवेक उस संगठन के लिए एक खतरा बन जाता है जिससे कि उन्हें एक विशेष लाभ मिलता हो, तब वे उसकी अवहेलना कर देते हैं। भूतकाल के समस्त सामाजिक सुधारों, धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना, दासता का उन्मूलन, स्त्रियों के मताधिकार, श्रमिक संघों की मान्यता और श्रमिक वर्ग के राजनीतिक उत्थान के सम्बन्ध में यही हुआ है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समाज के निष्कर्षों को संस्थागत रूप देने के प्रयत्न के सम्बन्ध में भी यही सही है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के निष्कर्ष उन निष्कर्षों के प्रतिकूल हैं, जो पूंजीवाद के वर्ग-संगठन में अन्तर्निहित हैं। ये निष्कर्ष उसी समय तक चल सकते हैं जबतक कि पूंजीवाद शांति बनाए रखता है, पूंजीवाद उसी समय तक शांति बनाए रख सकता है जबतक कि इससे उसके सदस्यों का लाभ होता है। वे ऐसी किसी वस्तु को जिससे कि उनके किसी महत्वपूर्ण विशेषाधिकार को हानि पहुँचती हो, अपना स्वार्थ नहीं मानेंगे। उस समय वे अपने युद्ध करने के अधिकार के समर्थन में आकाश-पाताल के सभी तर्क उपस्थित कर देंगे। वे कह सकते हैं कि उनका राष्ट्रीय सम्मान या स्वार्थ खतरे में है। वे कह सकते हैं कि हम बर्बरता के आक्रमण से सम्यता की रक्षा कर सकते हैं। वे आग्रह कर सकते हैं कि हम ऐतिहासिक समझौते के पवित्र दायित्वों की रक्षा कर सकते हैं। वे यहाँ तक कह सकते हैं कि हम लड़ाई थोड़े ही लड़ रहे हैं; हम

तो अपने विरोधी राज्य में केवल शांति और व्यवस्था की ही स्थापना कर रहे हैं। हमने अपने युग में इन सब बातों का अनुभव किया है, और जबतक हमारे समाज का यह वर्ग संगठन कायम है, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि इन बातों की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। भावनाओं का ज्वार समाप्त होने पर यह बात छिपाए नहीं छिपती कि ये कुछ अधिष्ठित स्वार्थ ही हैं जो अपने विशेषाधिकारों की रक्षा या उनका विस्तार करने के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग करते हैं।

हमें लीग ऑफ नेशन्स के माध्यम से सामूहिक सुरक्षा के विचार पर आधारित समस्त प्रस्तावों का इसी संदर्भ में अध्ययन करना चाहिए। इन प्रस्तावों का मूल सिद्धांत यह है कि विभिन्न राज्यों के बीच आक्रामक के विरोध में स्वार्थों की एकता होनी चाहिए। प्रत्येक राज्य को शांति की वांछनीयता का इतनी प्रबलता से अनुभव करना चाहिए कि वह उसकी स्थापना में अन्य राज्यों के साथ-साथ अपनी भी सारी शक्ति लगा दे। लेकिन यह एक ऐसा भावपरक दृष्टिकोण है जो इस बात पर समुचित ध्यान नहीं देता कि भविष्य की आर्थिक व्यवस्था में और उस राजनीतिक व्यवस्था में जो उसके मार्ग में एक बाधा है, पर्याप्त अन्तर्विरोध है। जापान का मंचूरिया पर आक्रमण एक ऐसा आक्रामक कृत्य था जिसके विरोध में कुछ सामूहिक कार्यवाही होनी चाहिए थी। लेकिन कोई भी बड़ा राष्ट्र जापान का सक्रिय विरोध करने के लिए तैयार नहीं था। जापान को नैतिक भर्त्सना तो प्रचुरता से मिली। लेकिन, वह शायद यह समझता है कि उसका मंचूरिया के ऊपर जो आधिपत्य है तथा इससे उसे जो आर्थिक लाभ हैं, वे उसके लिए लीग के एक रिक्त प्रस्ताव की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। आस्ट्रिया की स्वतंत्रता को नष्ट करने के हिटलर के प्रयत्न से यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र की अंतरात्मा हिल गई है लेकिन इस बात की सावधानी से कोशिश की गई है कि जिनेवा में यह प्रश्न न उठाया जाये। इसका कारण यह है कि जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध कोई भी राष्ट्र कार्यवाही नहीं करना चाहता। यह भी स्पष्ट है कि फ्रांस अथवा इटली अपने अनुवर्ती मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करेंगे क्योंकि ऐसा करने का अर्थ उन प्रयोजनों को नष्ट कर देना होता है जिनके लिए इतनी सावधानी से अभिसन्धियाँ की गई हैं। यह स्पष्ट है कि अंतर्ग्रस्त साधन विपुल महत्व के हैं लेकिन उनका महत्व ही वर्तमान व्यवस्था में उनका प्रयोग इतना सदेहास्पद बना देता है। उनके प्रयोग का अर्थ यह होगा कि सभी राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय संगठन के उद्देश्यों पर एकमत हैं और वे अपने अन्य सभी उद्देश्यों को शांति की नीति के अधीन करने के लिए तैयार हैं। यदि रूस और जर्मनी का युद्ध हो तो क्या हम पोलैण्ड और

रूमानिया से यह आशा कर सकते हैं कि वे ऐसे विरोधी के प्रति जिसकी शक्ति इस बात का आश्वासन होने पर भी कि लीग उनकी रक्षा करेगी, उनके कल्याण के लिए घातक हो सकती है। हम यह कह सकते हैं कि लीग उनकी क्षतिपूर्ति कराने का प्रयास करेगी। जर्मनी से क्षतिपूर्ति एकत्रित करने का अनुभव इस संभावना को अधिक आशाप्रद नहीं बनाता। यह स्वाभाविक सा है कि यदि किसी राष्ट्र का संघर्ष के प्रश्नों से सीधा सम्बन्ध नहीं है, तो वह तटस्थता की नीति को ही अधिक पसन्द करेगा।

(४)

इसलिए, मेरे विचार से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का सर्वश्रेष्ठ उपाय आधुनिक समाज के वर्ग-सम्बन्धों का पुनर्गठन करना है। जितने शक्तिशाली ढंग से इस उद्देश्य के अनुसार कार्य किया जायेगा, राज्यों की साम्राज्यवादी नीति उतनी ही कम हो जायेगी। यदि समाज की उत्पादन-क्षमता का इस प्रकार विकास किया जाये कि सभी मनुष्यों को उसके परिणामों में समान भाग मिल सके, तो इससे उसकी राजनीतिक शक्ति का उसके केवल थोड़े से सदस्यों के हित में संचालन रुक जायेगा। तब राज्य की प्रभुत्व-शक्ति एक वर्ग-विशेष के स्वार्थ का साधन नहीं रहेगी। उस समय देश की पूंजी घरेलू आवश्यकताओं की उपेक्षा करके शोषण के विचार से विदेशों में नहीं लगेगी। उसके वैदेशिक सम्बन्ध ऐसे व्यावसायिक सम्पर्क को व्यक्त करेंगे जिसके लिए आर्थिक साम्राज्य के विचार पर आधारित सैनिकवादी नीति की आवश्यकता नहीं होगी। समाजवादी राज्यों का समाज अपनी आर्थिक समस्याओं पर पारस्परिक प्रेम एवं सद्भाव से विचार कर सकता है। अन्य किसी जीवन-व्यवस्था के लिए यह सम्भव नहीं है। इसी प्रकार का समाज अपने जीवन का समरस रीति से निर्माण कर सकता है। उसके सामने प्रतिष्ठा की ऐसी समस्याएँ नहीं आती जो पूंजीवादी राज्य के स्वरूप में अंतर्भूत होती है। शांति में उसकी सच्ची रुचि होती है। वह देशभक्ति के उस आडम्बर में नहीं पड़ता जिसे कि पूंजीवादी समाज अपनी रक्षा के लिए आविष्कृत करता है। हम ऐसे सिद्धांतों के आधार पर जो मानव के द्वारा मानव का शोषण सिखाते हैं, किसी सहकारी समाज की स्थापना नहीं कर सकते।

यह कहा जाता है कि वर्ग-सम्बन्धों के परिवर्तन का यह आंदोलन उस समय तक सफल नहीं हो सकता जबतक कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की संस्थाओं का शक्तिशाली ढंग से पुनर्गठन न हो।^१ लेकिन इसका अर्थ तो यह हो जाता

है कि वर्तमान समाज में इस प्रकार के संगठन की क्षमता है। यदि यहाँ किया गया विश्लेषण सही है, तो इस प्रकार की मान्यता बिल्कुल असम्भव है। पूँजीवादी शांति तो युद्धों के बीच में जरा सस्ता लेने की वस्तुमात्र है। कारण यह है कि पूँजीवाद और राष्ट्रीय राज्य का सम्बन्ध कुछ ऐसा है कि युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता है। यदि हम सच्चे हृदय से शांति चाहते हैं, तो हमारा कर्तव्य यह है कि हम पूँजीवादी समाज को बदलें क्योंकि ऐसा होने पर ही पूँजीवादी समाज की स्थापना हो सकती है और वह सफलतापूर्वक संचालन कर सकता है।

इस प्रकार के परिवर्तन से ही प्रभुत्व-शक्ति का उस रूप में त्याग सम्भव है जिसमें कि वह गांति की जड़ पर कुठाराघात करती है। यह प्रक्रिया ही अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सम्पूर्ण हित को ऐसे धरातल पर प्रतिष्ठित करती है जहाँ कि उसका कुछ अर्थ होने लगता है। समतायुक्त समाज को साम्राज्यवाद की आवश्यकता नहीं होती। साम्राज्यवाद तो पूँजीवादी समाज के अन्तर्भूत परिणामों का स्वाभाविक परिणाम है। यह बात अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटिश साम्राज्य के आर्थिक इतिहास से प्रमाणित हो जाती है। साम्राज्यवाद के द्वारा पूँजीवादी राष्ट्र जनता को सुगमता से कुछ रियायतें दे सकते हैं और अपने विशेषाधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। इस आवश्यकता के हट जाने पर पूँजी के विनियोग की प्रक्रिया एक ऐसे धरातल पर होने लगती है जहाँ कि सार्वजनिक कल्याण की ओर अधिक गम्भीर ध्यान दिया जा सके। आगम शुल्कों, चलार्थ, कच्चे द्रव्यों और देशान्तर-गमन की समस्त समस्याओं के बारे में यही कहा जा सकता है। समाजवादी समाजों का विश्वतंत्र आयोजन के परिणामों में सब के लिए समान रुचि रखता है। फलतः वह जिन समस्याओं को भी अपने हाथ में लेगा, उन्हें दृढ़ इच्छा से पूरा कर सकता है।

कभी-कभी यह बात बड़े जोर से कही जाती है कि यदि हमारे नेता तनिक अधिक साहस और धैर्य से काम लेते, तो युद्धोत्तर वर्षों की बहुत-सी कठिनाइयों का निवारण किया जा सकता था। मेरा विचार है कि हमारे राजनेता कठिनाइयों को कम अवश्य कर सकते थे, वे उनका निवारण नहीं कर सकते थे। कारण यह है कि राजनेताओं के निर्णय सिद्धांत के भावपरक निर्णय नहीं होते, वे भौतिक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित संसार में किए गए निर्णय होते हैं। यदि लीग के सदस्य राज्य जापान से अपने राजदूतों को हटाकर या उसके विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार का प्रयोग कर उसके व्यवहार को प्रभावित करने की चेष्टा करते, तो इसके परिणामस्वरूप युद्ध हो सकता

था। यह बिल्कुल निश्चित नहीं है कि इस प्रकार के युद्ध को जनता का समर्थन प्राप्त होता। यह आलोचना कि सर जॉन साइमन ने लीग के लिए कुछ खतरे नहीं लिए, इस तथ्य को भूल जाती है कि यदि वे ऐसा करते, तो उनकी नीति के फलस्वरूप एक युद्ध हो सकता था और उस युद्ध में लीग के साथ ही साथ अन्य बहुत-सी चीजें भी नष्ट हो जातीं। आलोचकों की यह बात ठीक हो सकती है कि उनकी नीति आवश्यकता से अधिक विनम्र थी। लेकिन यह विनम्रता तो उस मनोवैज्ञानिक वातावरण के अनुसार ही थी जिसे कि पूंजीवादी समाज ने उत्पन्न कर दिया था। उस साहस के अनुसार कार्य करने के लिए जिसकी शांतिवादी इच्छा करते हैं, एक ऐसे वातावरण का सृजन आवश्यक है जिसमें लीग के कॉन्फ्रेंस को मानने वाला प्रत्येक राज्य लीग के अन्य सदस्यों द्वारा स्वतः ही समर्थित हो। वर्तमान स्थिति में तो प्रत्येक राज्य के हित एक दूसरे के इतने प्रतिकूल हैं कि इस प्रकार के स्वतः समर्थन का कोई आश्वासन नहीं है। फलतः आज स्थिति ऐसी आ गई है कि एक ओर तो लीग को यह विश्वास नहीं है कि वह अपने किसी दुराग्रही सदस्य के विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है, दूसरी ओर वह राज्य जो लीग के दायित्वों का पालन करता है, ऐसा करने के लिए हानि उठा सकता है।

इसलिए, शांति का रास्ता आर्थिक लोकतंत्र का रास्ता है। विवेक और न्याय के आधार पर सामाजिक संगठन के निर्माण का अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य प्रत्येक समाज में सम्पत्तिशाली वर्ग की शक्ति ही राज्य की प्रवृत्तियों को निर्धारित करती है। सम्पत्तिशाली वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी सत्ता को पुष्ट करने के लिए इस शक्ति का डटकर प्रयोग करता है। इस स्थिति में, अभिलाषा सिद्धांत की जननी और विवेक प्रतिष्ठा का सेवक बन जाता है। सम्पत्तिशाली वर्ग न्याय के विचार को अपने प्राधिकार के साथ समीकृत किए बिना नहीं रह सकता। मैंने यह निवेदन किया है कि यह वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में ठीक इसी ढंग से आचरण करता है जिस ढंग से कि वह अपने नागरिकों के प्रति आचरण करता है। चूंकि वह न्याय को अपने स्वार्थ के साथ समीकृत करता है अतः वह जिस उद्देश्य से आवश्यक आभ्यन्तरिक परिवर्तनों को स्थगित कर सकता है, उसी उद्देश्य से आवश्यक बाह्य परिवर्तनों को भी स्थगित कर सकता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के मार्ग में जो बाधाएँ हैं, उन्हें सम्पत्ति-व्यवस्था के परिवर्तन द्वारा ही बदला जा सकता है।

यहाँ, शायद, इस सूत्र की व्याख्या कर देना वांछनीय है कि समाजवाद

और आर्थिक साम्राज्यवाद एक दूसरे के बिल्कुल प्रतिकूल हैं। आर्थिक साम्राज्यवाद के लिए सैनिक शक्ति आवश्यक है। सैनिक शक्ति को बनाए रखने का यह अभिप्राय हो जाता है कि सामाजिक सुधार के कार्यों पर कम खर्चा किया जाये। साम्राज्यवादी कृत्यों के कारण राष्ट्र का ध्यान सामाजिक सुधारों की ओर से हट जाता है, फलतः मद्य-व्यापार जैसे अधिष्ठित स्वार्थ जिन्हें सामाजिक सुधार दूर करने का प्रयास करता है, साम्राज्यवाद के विकास में अपनी रक्षा का सर्वश्रेष्ठ आवरण प्राप्त करते हैं। फलतः ये लोग साम्राज्यवादी नीति के सदैव ही समर्थक होते हैं। लेकिन इस नीति का प्रभाव अच्छा नहीं रहता। एक राष्ट्र के साम्राज्यवादी स्वार्थ जितने गहरे होते हैं, उसकी लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियाँ उतनी ही अरक्षित हो जाती हैं। उसकी समस्याएँ ऐसी होती हैं, जिन पर जनता का नियंत्रण नहीं होता। वामपक्ष की सरकारों ने कीनिया और भारत में हमारी नीति को उदार बनाने का जो प्रयास किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। मनुष्यों अथवा विचारों की अविच्छिन्नता को हटाना कठिन हो जाता है क्योंकि यह भय बराबर बना रहता है कि कहीं परम्परा के भंग हो जाने से बाहर राष्ट्र की प्रतिष्ठा को धक्का न पहुँचे। इस नीति के परिणामस्वरूप विधान-सभा में महत्वपूर्ण सार्वजनिक प्रश्नों पर जनता का कोई नियंत्रण नहीं रह जाता। फलतः, दलों का मतभेद कम हो जाता है और कार्यपालिका की शक्ति बढ़ जाती है क्योंकि उसे जनता की आलोचनाओं का भय नहीं रहता। जैसा कि डिज़रैली ने कहा था, भारत की कुंजी लंदन में हो सकती है; लेकिन यह भारतीय राष्ट्रवादी के लिए बहुत कम राहत की बात है कि वर्ष में केवल एक अवसर ही ऐसा आता है जब कॉमन-सभा यह विचार करती है कि वह किन किन दरवाजों को खोले।

इन परिस्थितियों में दो परिणाम सामने आते हैं। एक परिणाम तो यह होता है कि दलगत शासन और दलगत शासन के साथ ही प्रतिनिधिक शासन दुर्बल हो जाता है। श्री जे० ए० हॉब्सन ने एक श्रेष्ठ पुस्तक^१ में यह प्रदर्शित किया है कि उदारवादी दल ने साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने का प्रयास किया था। इसके कारण एक पृथक् विचारधारा के रूप में उसके अस्तित्व को करारी चोट पहुँची। इसने उदारवादी दल को अनुदारवादी दल में विलीन कर दिया और दोनों ही दल साम्राज्यवादी उद्देश्यों को लेकर आगे बढ़ने लगे। १९०६ के पश्चात् औपनिवेशिक और वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में दोनों दलों में बहुत कम मतभेद रह गया था। जितनी शक्तिशाली नीति की

यह अविच्छिन्नता थी, सार्वजनिक आलोचना उतनी ही कम थी। फलतः, इन दोनों दलों के ऊपर संसद् का नियंत्रण नाममात्र को रह गया। बाद में, जब समाजवादियों का राज्य में दूसरा दल बन गया, तो वे इस बात के लिए विवश हो गए कि या तो वे नीति की अविच्छिन्नता को स्वीकार करें और इस प्रकार साम्राज्यवाद की व्यवस्था से सहमत हों या वे उसको चुनौती देकर राष्ट्र के अधिष्ठित स्वार्थों के मूल पर आघात करें। यदि वे साम्राज्यवादी क्षेत्रों में—उदाहरणार्थ भारत में—समाजवाद को लोकतंत्र के साथ संयुक्त करते, तो अधिष्ठित स्वार्थ लोकतंत्र के सिद्धांतों पर ही संदेह करने लगते। साम्राज्यिक और वैदेशिक मामलों में अधिष्ठित स्वार्थों ने जिस स्वेच्छाचारी नीति का पालन किया है, उसका राष्ट्रीय क्षेत्र में भी निसर्गतः प्रभाव पड़ा है। यदि आर्थिक लोकतंत्र का अर्थ साम्राज्यवाद का अंत है, तो साम्राज्यवादी के लिए लोकतंत्र के अंत का चिंतन सर्वथा स्वाभाविक है।

ये सम्बन्ध महत्वपूर्ण हैं। वे यह प्रकट करते हैं कि साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियों ने राष्ट्रीय एकता में कितनी खरोचें पैदा कर दी हैं। साम्राज्यवाद के समर्थन के लिए जिस राजतंत्र की आवश्यकता होती है, वह समानता का निषेध करता है। जो समाज देश में समानता का निषेध करता है, उसे विदेश में समानता का निषेध करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। समानता के निषेध का अर्थ दूसरों के अधिकारों को अपने से भिन्न दृष्टिकोण से देखना है। आगे चलकर यह दृष्टिकोण उपेक्षा का रूप धारण कर लेता है। साम्राज्यवाद ने आदिम जातियों के साथ जैसा व्यवहार किया है, उससे यह बात प्रमाणित हो जाती है। आदिम जातियों से घृणा करने के उपरांत जनसाधारण से घृणा करना बहुत आसान होता है। जिस मिथ्या जीवशास्त्र ने प्रारम्भ में श्वेत जातियों की सर्वोच्चता का गीत गाया था, उसने ही आगे चलकर, श्वेत निर्धनों की तुलना में श्वेत धनिकों की उच्चता का प्रतिपादन किया। वह इस आधार पर सामाजिक सुधार के सम्बन्ध में निर्धनों के अधिकारों पर आक्रमण करता है। इसका कारण यह है कि सामाजिक सुधारों से धनिकों की विशेषाधिकार-युक्त स्थिति को खतरा पहुँचता है। साम्राज्यवादी नीति लोकतंत्रात्मक नियंत्रण के खतरे से जितनी अधिक स्वतंत्र होगी, उतनी ही अधिक वह आर्थिक लाभ के अपने कार्यक्रम में अग्रसर हो सकेगी। लेकिन साम्राज्यवादी नीति जितने अधिक अपने पैर पसारेगी, उतनी ही विभिन्न साम्राज्यवादों के बीच संघर्ष की संभावना बढ़ जायेगी। ज्यों-ज्यों संघर्ष नज़दीक आता जाता है, त्यों-त्यों उसके लिए सैनिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक तैयारियाँ जोर पकड़ती जाती हैं।

१९१४ के पहले के वर्षों का हमारा अनुभव यही सिद्ध करता है। इस संदर्भ में शांति स्वयं एक ऐसा विराम हो जाता है जिसमें कि वे मनुष्य तक जो शांति का जयघोष करते नहीं थकते, अवश्यम्भावी युद्ध के लिए तैयारियाँ करने लगते हैं।

उक्त विवेचन को थोड़े से सूत्रों में व्यक्त किया जा सकता है। साम्राज्यवाद को अपनी विजयों की रक्षा के लिए सैनिकवाद की आवश्यकता होती है। इसकी वजह से जनता का घरेलू प्रश्नों की ओर से ध्यान हट जाता है और सरकार देश का धन अनुत्पादक कार्यों में व्यय करने लगती है। विजयों की रक्षा के लिए साम्राज्यिक और वैदेशिक मामलों में नीति की अविच्छिन्नता वांछनीय होती है और समय बीतने के साथ-ही-साथ इन पर लोकतंत्रात्मक नियंत्रण की मात्रा कम होती जाती है। लेकिन इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय क्षेत्र में लोकतंत्र की आवश्यकताओं के प्रति असंतोष की वृद्धि होती है और जब लोकतंत्र अपनी आवश्यकताओं के ऊपर ज्यादा बल देता है, तो उसके सिद्धांत के औचित्य में संदेह उत्पन्न हो जाता है। जब यह संदेह बहुत बढ़ जाता है, तो लोकतंत्र के सिद्धांत को चुनौती दी जाती है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिक्रिया के अनुकूल होती हैं, तो चुनौती के परिणामस्वरूप किसी न किसी रूप में निरंकुशता की स्थापना हो जाती है। यह निरंकुश शासन लोकतंत्र के बाधक प्रतिबंधों से स्वतंत्र होता है और अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों को अधिक स्वतंत्रता से पूरा कर सकता है। वह जनता के ध्यान को घरेलू शिकायतों से हटाने के लिए ऐसा करता भी है। लेकिन ज्यों-ज्यों साम्राज्यवादी उद्देश्य बढ़ते जाते हैं, उनका प्रतियोगी राज्यों के साथ संघर्ष होता है। परिणामतः, वे युद्ध के मार्ग पर अप्रतिहत गति से चल पड़ते हैं।

युद्ध के बाद के वर्ष ही नहीं, प्रत्युत उसके पहले के वर्ष भी इस विवेचन की सत्यता प्रमाणित करते हैं। इटली और जर्मनी में साम्राज्यवाद एवं लोकतंत्र के बीच जो टक्कर हुई, वह इस बात का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है कि एक छोटे से वर्ग के विशेषाधिकारों की रक्षा करने के लिए आर्थिक क्षेत्र में समानता के सिद्धांत का किस प्रकार विनाश किया गया है। इन दोनों ही देशों में संख्या के अधिकार को सम्पत्ति की माँगों के सामने बलि कर दिया गया है। सम्पत्तिशाली वर्ग एक बार सत्तारूढ़ होने के पश्चात् तुरंत ही यह चिंतन करने लगता है कि यदि राज्य शक्तिशाली विदेश-नीति का अनुसरण करे और उसकी पीठ पर पर्याप्त सशस्त्र सेनाओं का बल हो, तो वह क्या-क्या धन उपाजित कर सकता है। यह केवल एक संयोग नहीं है जिसकी वजह से

हिटलर का जर्मनी अपने प्रादेशिक विस्तार के लिए पूर्वी यूरोप की ओर देखता है। इस दिशा में सफलता मिलने पर देश में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। इस नीति में कुछ ऐसे आर्थिक लाभ हैं कि इस नीति के प्रतिपादकों को जुए का एक दाँव लगाना उचित ही मालूम पड़ता है। इसी प्रकार यह भी कोई संयोग नहीं है कि फासिस्ट इटली अफ्रीका में अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील है। उसका लक्ष्य यह है कि वह अपने नागरिकों को नए साम्राज्य के निर्माण में दत्तचित्त कर दे जिससे कि राष्ट्रीय कठिनाइयों की ओर से उनका ध्यान हट जाये। इन स्वप्नों का मूल्य युद्ध है और एक समय सदैव ही ऐसा आता है जब कि स्वप्नदर्शी की प्रतिष्ठा स्वप्नों की पूर्ति के साथ इस तरह सम्बद्ध हो जाती है कि उसके सामने केवल दो ही विकल्प रह जाते हैं—या तो वह मूल्य चुकाए या फिर अपदस्थ हो।

अन्य देशों का इतिहास भी बहुत भिन्न नहीं है। इंग्लैण्ड और अमेरिका में लोकतंत्र की जड़ें बहुत गहराई से जमी हुई हैं। लेकिन इन देशों में भी लोकतंत्र के प्रति बहुत गहरे संदेह हैं क्योंकि जैसे-जैसे नए बाजार खोजने की उनकी शक्ति घटती जाती है, आर्थिक विशेषाधिकारों के प्रति लोकतंत्र की धमकी बढ़ती जाती है। दोनों देशों में राज्य के ऊपर साम्राज्यवादी हितों का नियंत्रण है और इस नियंत्रण ने अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को विषाक्त कर दिया है जैसा कि आंग्ल-अमेरिकी नौ-प्रतियोगिता एवं विश्व आर्थिक सम्मेलनों की कठिनाइयों से ज्ञात होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि दोनों ही देशों में साम्राज्यवाद के मुख्य प्रतिपादक समाजवाद के भी कट्टर विरोधी हैं। यह विशेष रूप से महत्व की बात है कि इंग्लैण्ड में लोकतंत्र के ऊपर विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में मुख्य आक्रमण उन लोगों की ओर से हुआ है जो गत साठ-सत्तर वर्षों में भारतीय अनुभव के द्वारा साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियों में प्रशिक्षित किए गए हैं। साम्राज्यवादी समाज का आधार यह है कि एक श्रेष्ठ जाति को एक हीन जाति पर शासन करने का अधिकार है। इस समाज की दृष्टि में उसके अधिकार का तात्पर्य यही है कि वह अपनी शक्ति के द्वारा अपनी इच्छा को कार्यान्वित कर सके। यह समाज केवल यही युक्ति समझने की योग्यता रखता है। लेकिन अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए उसे प्रभुत्व-शक्ति की आवश्यकता होती है। जहाँ वह एक बार अपनी निरंकुशता को त्याग देता है, वह अपने निर्णायक होने के अधिकार से हाथ धो बैठता है। उस समय शक्ति का संचालन सिद्धांतों के अनुसार होने लगता है और प्रभुत्व-शक्ति का सम्पूर्ण प्रयोजन ही निष्फल हो जाता है। लेकिन यह तो साम्राज्यवाद की युक्ति का

निषेध हो गया क्योंकि साम्राज्यवाद अपनी आंतरिक प्रेरणा के द्वारा अधिकार को शक्ति के साथ समीकृत करता है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सिद्धांत इस आंतरिक प्रेरणा का निषेध करते हैं।

एक दृष्टि से, इस विवेचन को तो वे बहुत से व्यक्ति भी स्वीकार करते हैं, जिनकी एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए इच्छा संदेहातीत है। १९२४ के जिनेवा प्रोटोकोल ने इस बात का प्रयास किया था कि यदि कोई राज्य लीग ऑफ नेशन्स के कंवेनेन्ट को भंग करे, तो उसके विरुद्ध प्रतिबंध स्वयं ही लागू हो जाएँ।^१ इस प्रोटोकोल को लीग की असेम्बली ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उसका अनुमोदन करना अस्वीकार करके उसे तुरंत ही नष्ट कर दिया। यदि ब्रिटिश सरकार ऐसा करती तो वह अपनी कार्य-विषयक स्वतंत्रता से वंचित हो जाती। प्रोटोकोल की आलोचना क्या है? सर जॉन फिशर विलियम्स^२ ने लिखा है, “कोई भी उसके निर्माताओं की सत्यनिष्ठा, अनुभव, कौशल तथा सद्भावों पर संदेह नहीं कर सकता लेकिन उन्होंने उन व्यावहारिक कठिनाइयों पर कम ध्यान दिया मालूम पड़ता है जिनमें कि अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय विशेषकर शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में निर्णय किए जाते हैं।” ये परिस्थितियाँ क्या हैं? सर जॉन का सुझाव है, “अधिक से अधिक यही किया जा सकता है कि कुछ व्यापक सिद्धांतों को निर्धारित कर दिया जाये, उन्हें यथासंभव स्पष्ट रखा जाये और उन उत्तरदायी राजनेताओं की ईमानदारी में विश्वास रखा जाये जिन्हें समय आने पर इन सिद्धांतों का प्रयोग करना होता है।”^३

उक्त विवेचन का निष्कर्ष स्पष्ट है। “व्यावहारिक परिस्थितियाँ” ये हैं कि ऐसा कोई अन्तर्राष्ट्रीय समझौता संभव नहीं है जो कि किसी बड़े राज्य से अपनी प्रभुत्व-शक्ति को त्यागने के लिए कहता है। जब कभी कोई आक्रामक कृत्य हो, हमे राजनेताओं की इस ईमानदारी में विश्वास रखना चाहिए कि वे उन सामान्य सिद्धांतों का प्रयोग करेंगे जिनसे वे नैतिक रूप से बंधे हुए हैं। लेकिन यह तो ऐतिहासिक अनुभवों की एक स्पष्ट सीख है कि राजनेताओं की

१. श्री फिलिप नोएल-बेकर की पुस्तक *दि जिनेवा प्रोटोकोल इस विषय का अच्छा विवेचन करती है।*

२. *सम आस्पेक्ट्स ऑफ़ दि कावेनेन्ट ऑफ़ दि लीग ऑफ़ नेशन्स* (१९३४), पृ० २१६।

३. *वही*, पृ० २१८।

ईमानदारी उन परिस्थितियों द्वारा मर्यादित होती है जिनमें कि वे अपने को पाते हैं। जिन राजनेताओं को १९१४ में बेल्जियम के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करना था, उनकी ईमानदारी ने उन्हें इन दायित्वों की एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत व्याख्या करने की प्रेरणा दी थी। जापान के दृष्टिकोण से लीग के कंविनेन्ट एवं पैक्ट ऑफ़ पेरिस के अन्तर्गत उसके दायित्वों एवं मंचूरिया की लूट में कोई अन्तर्विरोध नहीं था। जब इटली को अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना आवश्यक प्रतीत हुआ, उसने कोर्फ्यू (Corfu) पर बम गिराने में कोई संकोच नहीं किया। राजनेताओं की ईमानदारी ने एक ऐसी परम्परा स्वीकार कर ली है जो युद्धों में विषाक्त गैसों के प्रयोग का निषेध करती है लेकिन यह अच्छी तरह ज्ञात है कि ऐसा कोई भी बड़ा राज्य नहीं है जो इस प्रकार के प्रयोग न कर रहा हो। यदि हम राजनेताओं की ईमानदारी के उदाहरणस्वरूप जर्मनी का आस्ट्रेलिया के प्रति, इटली का अल्बानिया के प्रति और जापान का रूस के प्रति दृष्टिकोण देखें, तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों की पूर्ति के लिए उसके ऊपर निर्भर रहने से हम अपने उद्देश्य को कदापि नहीं पा सकते।

ईमानदारी पर निर्भर रहने का अभिप्राय वास्तव में विवेक के ऊपर निर्भर रहना है। इस युक्ति का मतव्य यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमें विवेक के अनुसार आचरण करना चाहिए। हम यह दिखा सकते हैं कि युद्ध से कोई लाभ नहीं है। हम ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध कर सकते हैं कि आज-कल युद्ध विजेता और विजित दोनों के लिए समानरूप से घातक है। न केवल उसकी भयंकरताएँ ही बड़ी विपुल हैं, प्रत्युत वह क्रांति के द्वार खोल देता है। क्रांति जैसा कि रूस में हुआ था, उन व्यक्तियों तक के लिए जो उसे प्रारम्भ करते हैं, घातक होती है। इसलिए, यदि हम युद्ध के दुष्परिणामों को प्रकट कर दें, तो हम आगे चलकर लोगों को यह विश्वास दिला सकते हैं कि राष्ट्रीय नीति के उपकरण के रूप में वह बिल्कुल व्यर्थ है। लेकिन, हमें अपनी सीमाओं के भीतर रहते हुए आगे बढ़ना चाहिए। यदि हम १९२४ के प्रोटोकॉल की भाँति उनसे आगे बढ़ जाते हैं, तो यह केवल अव्यावहारिक आदर्शवाद होगा, जिसकी असफलता निश्चित है। इससे तो उन बड़े उद्देश्यों की, जिनको वह पूरा करना चाहेगा, बदनामी ही होगी।

लेकिन, हमारी सीमाएँ ऐसी सीमाएँ हैं जो विवेक की मनुष्यों के मस्तिष्कों पर प्रभाव डालने की शक्ति को कम कर देती हैं। ये सीमाएँ आर्थिक समाज के वर्ग-सम्बन्ध हैं जो प्रत्येक बिन्दु पर विवेक को स्वार्थ के अधीन कर देते हैं।

यदि हम दासों के स्वामियों की विवेक-शक्ति में भरोसा रखते, तो हम दासता का अंत नहीं कर सकते थे। हम स्त्रियों और हानिकर दवाओं के व्यापार को उनके कर्त्ताओं के मन में यह विश्वास बैठाकर कि ये अनैतिक काम हैं, दूर न कर सकेंगे। हमारी वर्ग-व्यवस्था ऐसी है जिसके कारण कुछ व्यक्तियों को कुछ परिस्थितियों में युद्ध से लाभ होता है। यदि वे यह समझते हैं कि हमें युद्ध से लाभ होगा, तो हम उन्हें इस बात के लिए प्रेरित नहीं कर सकेंगे कि वे अपने लाभों को छोड़ दें। उन लोगों के तर्क की जो विवेक की दुहाई देते हैं, सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि हमारे समाज में वे परिस्थितियाँ नहीं हैं, जिनमें विवेक सफल हो सकता है।

हमारे समाज का वातावरण विभिन्न स्वार्थों के घात-प्रतिघात से विषाक्त हो गया है। प्रत्येक स्वार्थ इस बात पर ध्यान दिए बिना कि उसे क्या कीमत देनी होगी, अपनी विजय चाहता है। यह एक ऐसा वातावरण है जिसमें हम सच्ची खबरों की सप्लाई पर निर्भर नहीं रह सकते, जिसमें जैसा कि श्री लॉयड जार्ज ने हमें बताया है, लॉर्ड ग्रे जैसे माननीय राजनेता तक अपने साथी मंत्रियों से कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ छिपा लेते हैं;^१ जिसमें हमारी शिक्षा-व्यवस्था विशाल जनता को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई विशिष्ट ज्ञान नहीं देती और जिसमें कूटनीतिक सम्पर्कों की प्रवृत्तियाँ मैकियावेली एवं हॉन्स के विचारों से अनुप्राणित हैं। जब हम विवेक की शक्ति पर बल देते हैं, हमें यह न भूल जाना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दुनिया अब भी इस सिद्धांत पर आधारित है कि यदि हम किसी उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें सब प्रकार के नैतिक और अनैतिक साधनों का प्रयोग करना होगा। सुधार-विधेयक वाले लॉर्ड ग्रे ने राजकुमारी लीवेन (Lieven) को लिखा था,^२ “मेरे व्यक्तिगत और सार्वजनिक नैतिकता का महान् उपासक हूँ” लेकिन राष्ट्रों के व्यवहार को इस नियम के द्वारा दृढ़तापूर्वक मर्यादित नहीं किया जा सकता। जैसा कि लॉर्ड एक्टन ने कहा था, यह विचार इतिहास के आदिकाल से चला आ रहा है।^३ हम व्यावहारिक क्षेत्र में विवेक को जो स्थान देते हैं, वह सदैव इस बात पर निर्भर रहेगा, कि हम विवेक के लक्ष्य को कितनी तीव्रता से चाहते हैं।

हमारी दुनिया ऐसी है, जिसमें समाज के अन्दर तो वर्गों का युद्ध चलता

१. बार मेमोयर्स, भाग १, पृ० ४६।

२. कारेस्पोंडेस बिद बि प्रिंसेज लीवेन, पृ० २३४।

३. हिस्ट्री आफ़ फ्रीडम (१९०६), पृ० २१६।

रहता है और बाहर की दुनिया में राज्यों का । हम राज्यों के युद्ध को तभी समाप्त कर सकते हैं, जब कि हम उन सम्बन्धों को समाप्त कर दें जो कि समाज के अन्दर वर्गयुद्ध को जन्म देते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में हमारे समस्त विचार इन सम्बन्धों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के फल होते हैं । आज हम विश्वतंत्र की ओर धीरे-धीरे जो पग बढ़ा रहे हैं, उसका यही महत्व है । उसके सदस्य-राज्यों के अन्दर जितना तीव्र आंतरिक युद्ध होगा उतना ही अधिक उन्हें उन समस्त सिद्धांतों एवं संस्थाओं पर संदेह होगा जो उनकी प्रभुत्व-शक्ति को मर्यादित करने का प्रयास करती हैं । हमारे युग में वर्तमान वर्ग-व्यवस्था को जो चुनौती मिल रही है, उसकी वे इस वर्ग-व्यवस्था के द्वारा ही रक्षा कर पा रहे हैं । समाज के अन्दर यह चुनौती जितनी ही तीव्र होगी, उतना ही अधिक राज्य इस बात के लिए उत्सुक होगा कि वह उसकी तीव्रता को कम करने के लिए बाहर कुछ साधन खोजे । लड़ाई केवल खराब आदमियों की कुचेष्टाओं का ही परिणाम नहीं होती । लड़ाई तो एक ऐसे विषम समाज की अभिव्यक्ति है जो प्रत्येक मूल्य पर अपने विशेषाधिकारों को अक्षत रखना चाहता है । हम लड़ाई को तभी समाप्त कर सकते हैं, जब कि हम एक ऐसे विश्व का निर्माण करें जिसमें कि सरकार का मुख्य कार्य पूँजीवाद के अनुकूल वर्ग-संगठन की रक्षा करना न हो ।

अध्याय : ४

हमारी पीढ़ी के लिए दृष्टिकोण

(१)

बाहर से देखने पर प्रत्येक राज्य नागरिकों का एक ऐसा समुदाय मालूम पड़ता है जो एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न कर रहा हो। जब हम राज्य का उसकी अन्तर्राष्ट्रीय क्षमता में परीक्षण करते हैं, तब यह बात विशेष रूप से सही मालूम पड़ती है। हम कतिपय प्रिय स्मृतियों द्वारा पुनीत एक ऐसी सामान्य ऐतिहासिक परम्परा के बारे में सोचते हैं जो अपने सदस्यों को इस प्रकार एक सूत्र में ग्रथित कर देती है मानो वे एक ही परिवार के सदस्य हों। हम राज्य की उन सामाजिक सेवाओं के बारे में सोचते हैं जिनके द्वारा वह अमीरों तथा गरीबों के मतभेद को मिटाने की चेष्टा करता है। हम उन न्यायालयों के बारे में सोचते हैं जो प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के साथ निष्पक्ष न्याय करते हैं। हम उस विधान सभा के बारे में सोचते हैं जिसमें न केवल छोटे से छोटा नागरिक ही पहुँच सकता है प्रत्युत जिसमें पहुँचने के लिए बड़े-से-बड़े नागरिक को भी मत प्राप्त करने पड़ते हैं। राज्य आजकल जो कार्य करता है, हम उनकी तुलना उसके एक या डेढ़ शताब्दी पूर्व के कार्यों से करते हैं। इस परिवर्तन से यह निष्कर्ष निकलना सुगम है कि सामाजिक चेतना की गहराई में निश्चिततः वृद्धि हुई है। इस निष्कर्ष से यह समझ लेना स्वाभाविक है कि सामाजिक चेतना के इस विकास ने राज्य को एक ऐसे संगठन का रूप दे दिया है जो अपने सदस्यों की सामान्य भलाई के लिए प्रयास करता है।

यह एक सुगम निष्कर्ष है। लेकिन यदि इस पुस्तक का प्रतिपाद्य सिद्धांत बिल्कुल गलत नहीं है, तो यह एक सतही निष्कर्ष है। यहाँ प्रस्तुत किए गए विचार के अनुसार समाज में हम जिस एकता को पाते हैं, वह सहमति की नहीं प्रत्युत बल-प्रयोग की एकता है। राज्य की मुख्य विशेषता यह नहीं है कि वह सामान्य भलाई के लिए प्रयास करता है प्रत्युत यह है कि वह कुछ वर्ग-सम्बन्धों की स्वीकृति को बाध्य करता है। इन वर्ग-सम्बन्धों के कारण जनता की सामान्य भलाई करना राज्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है, यह तो उसका एक आनुषंगिक उद्देश्य है। राज्य का वास्तविक उद्देश्य उन कानूनी सिद्धांतों की रक्षा करना है जो उत्पादन के साधनों के स्वामियों की प्रबलता को अक्षुण्ण

रखते हैं। राज्य सार्वजनिक भलाई के लिए जिन प्रयत्नों को भी करता है, वे सब इसी मुख्य उद्देश्य के आश्रित होते हैं।

यह तो उस स्थिति को आवश्यकता से अधिक सरल रीति से व्यक्त करना हुआ, जो कि अपने मनोवैज्ञानिक पहलू में बहुत ही अधिक जटिल है। लेकिन इस स्थिति को बिल्कुल नग्न रूप में रख देना आवश्यक है क्योंकि यह हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट करती है जो राज्य के विश्लेषण में केन्द्रीय महत्व की वस्तु है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि बल-प्रयोग की अन्तिम शक्ति पर उन लोगों का नियंत्रण रहता है जो उत्पादन के साधनों के स्वामी होते हैं। जनता को जो रियायतें मिलती हैं, उसके लिए उसे पग-पग पर संघर्ष करना पड़ता है। इन रियायतों की सीमाएँ राज्य द्वारा संगठित समाज के सम्पत्ति-सम्बन्धों के सिद्धांतों के अनुसार निर्धारित होती हैं। यदि जनता की माँगें इन सिद्धांतों के प्रतिकूल होती हैं, तो यह आवश्यक होता है कि उनकी पूर्ति के लिए सम्पत्ति के सम्बन्धों में परिवर्तन हो।

सामंतवादी समाज के पश्चात् पूँजीवादी समाज की स्थापना कठिन संघर्ष के उपरांत हो सकी थी। जबतक कि हम यह न मान लें कि अब मनुष्य भूतकाल की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् हो गए हैं, यह समझने का कोई कारण नहीं है कि हम पूँजीवादी समाज की बुनियादों को बिना किसी कठिन संघर्ष के बदल सकते हैं। लेकिन मनुष्य की बुद्धिमत्ता में विश्वास करना आत्म-प्रवर्चना मात्र है जो विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई है और अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। उन्नीसवीं शताब्दी की विशिष्ट आर्थिक परिस्थिति ने वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उत्पादन की मात्रा में अचानक ही विपुल वृद्धि कर दी थी। उत्पादन की इस वृद्धि के फलस्वरूप रियायतों का इस विशाल पैमाने पर निर्माण हो सका कि उनसे सम्पत्ति के स्वामियों और मजदूरों—दोनों को संतोष हो सकता था। फलतः, सहिष्णुता का वह वातावरण उत्पन्न हुआ जो उदारवादी विचारधारा के इतने अनुकूल है। चूँकि उत्पादन और वितरण दोनों ही प्रचुरता से होने लगा था, अतः पश्चिमी सभ्यता के अधिकांश भाग को सानुपात वितरण के सिद्धांतों का संघर्ष बिल्कुल अनावश्यक मालूम पड़ने लगा था। यद्यपि उदारवादी विचारधारा में ज्वार-भाटा आता रहा था, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक ऐसा मालूम पड़ता था मानो पश्चिमी यूरोप और अमेरिका ने उदारवादी आदर्श को सामान्यतः स्वीकार कर लिया है।

उदारवादी विचारधारा ने स्वयं को पूँजीवादी लोकतंत्र के रूप में अभि-

व्यक्त किया । लोगों का विचार था कि इससे स्थायी शांतिपूर्ण लाभ होगा । इस विचारधारा की उपयुक्तता में संदेह करनेवालों की संख्या बहुत कम थी । १९१४ में “दूसरी इंटरनेशनल” (Second International) के वे दल जो अपने को मार्क्सवादी सिद्धांतों का अनुयायी कहते थे, बड़ी कठिनाता के पश्चात् ही उसकी ओर से लड़ने को तैयार हुए थे । जब बाद की अस्त-व्यस्तता और रूस की क्रांति ने महायुद्ध की वास्तविकता का उद्घाटन किया, तब लोगों ने यह अनुभव किया कि पूंजीवाद और लोकतंत्र का संयोग कैसा आवश्यक था । वह किसी सैद्धान्तिक एकता का नहीं प्रत्युत आर्थिक विकास के उस युग का परिणाम था जिसमें पूंजीवाद विस्तार कर रहा था । इसने जनता को राजनीतिक शक्ति दी थी लेकिन वह इस शर्त पर दी थी कि इस शक्ति का प्रयोग पूंजीवादी सिद्धांतों के विनाश के लिए नहीं होगा । उसने सामाजिक सुधारों को उसी सीमा तक किया जबतक कि इन सुधारों ने पूंजीवादी व्यवस्था के सिद्धांतों में कोई दरार नहीं डाली । जब इन सुधारों ने युद्धोत्तर वर्षों में यह दरार डाली, पूंजीवाद और लोकतंत्र का विरोध पाश्चात्य सभ्यता की एक प्रमुख विशेषता हो गई । उसने स्वयं को एक बार फिर ऐसे रूपों में व्यक्त किया जिसमें वह स्वयं को संकट-काल के प्रत्येक युग में व्यक्त करता आया है । पूंजीवादी स्वार्थों के मोर्चे को अक्षत बनाए रखने के लिए पूंजीवादी दलों का गठबंधन, एक ऐसी विचारधारा को नष्ट करने के लिए जिसे शांति और व्यवस्था के लिए खतरा समझा गया था, डेढ़ शताब्दी पूर्व के फ्रांस की भांति रूस में हस्तक्षेप, उदारवादी सुधारकों को सत्तारूढ़ करना और उनसे काम निकालने के बाद उन्हें तुरंत अपदस्थ कर देना तथा अंत में अन्तर्विरोध बहुत अधिक उग्र हो जाने पर इटली, आस्ट्रिया और जर्मनी की भांति पूंजीवादों सिद्धांतों के लिए एक भयंकर खतरे के रूप में लोकतंत्र का तिरस्कार—इन समस्त घटनाओं में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे कि हम आश्चर्यचकित हो जायें । मनुष्य १७९२ की भांति ही १९३१ में भी ब्रिटिश संविधान की अनुपमता के गीत गाते थे और उस समय भी स्वतंत्रता के प्रति उसकी निष्ठा का बखान करते थे जब कि वे उसकी बुनियादों को नष्ट कर रहे थे । उन्होंने उदारवादी सुधारकों पर यह दोष लगाया कि उन्होंने शांति और व्यवस्था की गारंटियों को ऐसे समय में नष्ट किया है जब कि वे वैधानिक परिवर्तन की संभावनाओं से अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिए इनका उपयोग कर रहे थे । यद्यपि यह प्रक्रिया विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से घटित हुई, लेकिन उसका स्वरूप सर्वत्र एक-सा ही था । अमेरिका में एक उदारमना राष्ट्रपति

के शासन-काल तक में स्वतंत्र विचार-विमर्श के लिए खतरा बहुत अधिक बढ़ गया था ।^१

इस परिवर्तन के कारण बिल्कुल स्पष्ट थे । संकट-काल में पूंजीवाद उदारवादी नीति का भार वहन नहीं कर सकता था । वह लोकतंत्र के दबाव के कारण अपने कुछ बाहरी रूपों को तो त्याग सकता था, लेकिन बिना किसी संघर्ष के अपने केन्द्रीय तत्व को त्याग देना उसकी प्रकृति से परे की बात थी । तीव्र पतन के काल में सामाजिक सुधार करते जाने का अर्थ सम्पत्ति-सम्बन्धों के आधार में परिवर्तन करना था । इसका अर्थ विशेषाधिकारों को तिलांजलि देना था । इसके परिणामस्वरूप समाज के अंदर से यह प्रवृत्ति नष्ट हो जाती कि जिन लोगों के हाथों में उत्पादन के साधन हैं, उन्हीं को पूरा लाभ मिले तथा शेष व्यक्ति इसमें वंचित रह जायें । सदैव की भाँति ही जब सम्पत्ति के आधारभूत विचार के लिए खतरा पैदा हुआ, उसके स्वामी आतंकित हो गए । उन्होंने राजनीतिक लोकतंत्र को अपना शत्रु समझा क्योंकि राजनीतिक लोकतंत्र उपचारिक वैधानिक सत्ता जनता को सौंप देता है । फलतः उसके निष्कर्षों के प्रति असंतोष पैदा हो गया तथा उन पर आम चर्चा होने लगी । राजनीतिक लोकतंत्र ने बड़ी-बड़ी आशाएँ पैदा कर दी थीं, अब उनको अस्वीकार किया जाने लगा । युद्ध समाप्त होने के १५ वर्ष के पश्चात् ही सम्यता के अधिकांश भाग को लोकतंत्र का विचार जिसके लिए लाखों-करोड़ों लोगों ने अपना जीवन बलिदान किया था, अव्यावहारिक प्रतीत होने लगा । संसार के अधिकांश राज्यों ने उदारवादी सिद्धांतों को त्याग दिया और अब वे पुनः व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा में निरत हो गए ।

आज हमें अपने सामने राज्य-शक्ति को प्राप्त करने के लिए संघर्ष होता दिखाई दे रहा है । आज यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि हमारे समाज के वर्ग-सम्बन्ध सामाजिक शांति के बिल्कुल प्रतिकूल पड़ते हैं । उनके परिणाम-स्वरूप हमारी उत्पादन की क्षमता एवं वितरण की क्षमता में एक अंतर्विरोध के कारण ही हमें अमीरी के बीच गरीबी का बोलबाला दिखाई देता है । यह स्थिति हमारी जनता के लिए सर्वथा असह्य है । यदि सम्पत्ति के स्वामियों के

१. अमेरिका में नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए जो खतरा पैदा हो गया है, उसके लिए २६ अगस्त, १९३४ का सेंट लुई पोस्ट डिस्पैच (St. Louis Post-Despatch) देखिए । मैं इस संदर्भ के लिए श्री इविंग डिलिग्रांड का कृतज्ञ हूँ ।

आगे यह सवाल रक्खा जाये कि वे शांतिपूर्ण परिवर्तन स्वीकार करेंगे या युद्ध के द्वारा अपने विशेषाधिकारों की रक्षा करेंगे, तो वे पूर्वकाल की भाँति दूसरे विकल्प के लिए ही तैयार हैं। फासिस् देशों में लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं का जिस निमंम ढंग से विनाश हुआ है, अमेरिका और इंग्लैण्ड में सामाजिक बुधारों का जिस प्रकार प्रतिरोध किया जा रहा है और फ्रांस में दक्षिणपक्ष लोकतन्त्र का जिस रीति से स्पष्ट विरोध कर रहा है, उससे पूँजीपतियों के दृष्टिकोण का भलीविधि ज्ञान हो जाता है। राज्य इनमें से किसी भी देश में निष्पक्षता का बहाना नहीं कर सकता। जहाँ एक बार सम्पत्ति के अधिकारों के लिए संकट पैदा हुआ, राज्य अपने क्रिया-कलापों में बल का प्रयोग करने लगता है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि तनाव का कारण यह नहीं है कि पूँजीवादी सुधार करने के लिए तैयार नहीं हैं, प्रत्युत तनाव का कारण यह है कि सुधारक अत्यन्त तीव्र गति से एवं विशाल पैमाने पर सुधार करना चाहते हैं। लेकिन पूँजीपतियों के आज के दृष्टिकोण में और उस समय के दृष्टिकोण में जब कि आज से चौथाई शताब्दी पूर्व श्री लांयड जार्ज ने कुछ ऐसे आर्थिक सुधारों का प्रस्ताव किया था जो आज हमें बहुत ही नरम मालूम पड़ते हैं, कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। लॉर्ड-सभा द्वारा उनके बजट की अस्वीकृति कोई आकस्मिक निर्णय नहीं था। लॉर्ड बल्फोर ने अपने समर्थकों से यह कह दिया था कि “महान् यूनियनिस्ट पार्टी को, चाहे तो वह सत्तारूढ़ हो और चाहे बिरोध में हो; इस महान् साम्राज्य के भाग्य का नियंत्रण अपने हाथ में रखना चाहिए।”^१ उनका क्या मतलब था, यह उन्होंने तीन महीने पश्चात् उदारवादी सरकार के अपूर्ण शिक्षा-विधेयक (१९०६) के तृतीय वाचन के अवसर पर प्रकट कर दिया था। उन्होंने कहा था, “वास्तविक विवेचन अन्यत्र होना चाहिए।”^२ यह इस बात के लिए स्पष्ट दावा था कि सम्पत्तिशाली वर्ग को देश पर शासन करने का अधिकार है चाहे जनता की इच्छा कुछ भी हो। यदि कोई व्यक्ति बजट के सम्बन्ध में प्रख्यात पीयरों के वक्तव्यों को पढ़े, तो उसे इस बात में कोई संदेह नहीं रहेगा कि वे लोग ऐसे विधेयक का विरोध करना, जो उनके हितों के प्रतिकूल पड़ता था, अपना अधिकार समझते थे। श्री एस्क्विथ ने निर्वाचकों को यह ठीक ही चेतावनी दी थी कि लॉर्डों के दावे में क्रांति की धमकी विद्यमान है।

१. एस्क्विथ द्वारा उद्धृत : फिफटी ईयर्स आफ दि ब्रिटिश पार्लियामेंट (१९२६)।

२. हंसर्ड (चौथी माला), भाग १६२, कॉलम ५४५।

एक आलोचक ने लिखा था, "टोरी स्वयं को अपने विपक्षी के स्थान पर नहीं रख सकते। वे यह नहीं समझ सकते कि उस हथियार का उपयोग करने में जिसका अपने शत्रुओं को विजय के परिणामों से वंचित रखने के लिए अकेले वे ही उपयोग कर सकते हैं, वे न्याय से काम नहीं लेते। आधारण अंग्रेज की दृष्टि में इससे बढ़कर अन्य कोई अपराध नहीं है।" पिछले पच्चीस वर्षों में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। यह दावा अब भी किया जाता है कि लॉर्ड-सभा का कार्य देश की ऐसी श्रमिक सरकार से रखा करना है जो समाजवादी सिद्धांतों को विधान का रूप देने के लिए अब भी प्रयत्नशील हो। अनुदार दल ने लॉर्ड-सभा के सुधार के लिए जो सुझाव उपस्थित किए हैं, उनका एकमात्र उद्देश्य यह है कि श्रमिक सरकार को अपने मनोकूल विधान के निर्माण से रोका जा सके। यदि इस दृष्टिकोण की उचित व्याख्या की जावे तो इसका यही अर्थ निकलेगा कि निर्वाचकों की इच्छा उस सभा द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर ही चल सकती है जिसका संपूर्ण स्वरूप सम्पत्तिशाली वर्ग के हितों की ही अभिव्यक्ति करता है। लॉर्ड-सभा का दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से सिंडीकेलिज्म (Syndicalism) का दृष्टिकोण है। उसका अपना महत्व तो है ही; अधिक महत्व उस महत्तर मनःस्थिति का है जिसका वह व्यक्त है। यह मनःस्थिति विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होती है। यह मनःस्थिति कोयला उद्योग के स्वामियों के इस प्रयास में दिखाई देती है कि वे अपने उद्योग के राष्ट्रीयकरण का ही नहीं, प्रत्युत उसके एकीकरण का भी विरोध करते हैं। अक्षय युद्ध के पश्चात् प्रत्येक राजकीय आयोग ने इसकी सिफारिश की है। कपास उद्योग ने नई प्रतियोगी परिस्थितियों के प्रकाश में अपनी बुनियादों का पुनर्गठन अस्वीकार कर दिया है। सर जोशिया स्टाम्प ने उसके इस दृष्टिकोण को घातक बताया है।^१ यदि अधिष्ठित स्वार्थ अपने मित्रों की ही राय नहीं मानते, तो वे उन लोगों की बात तो सुनने तक को प्रस्तुत न होंगे, जिन्हें वे अपना शत्रु मानते हैं। ट्रेड्स यूनियन कांग्रेस मजदूरों की स्थिति में सुधार करना चाहती है, लेकिन सम्पत्तिशाली वर्ग उसके मार्ग में अनेक रोड़े अटकाता है। यदि इस प्रकार की चेष्टा को अधिनायकवाद की ओर बढ़ना कहा जा सकता है, तो यह स्पष्ट है कि सामाजिक संकट के युग में सामाजिक सम्बन्धों के विश्लेषण में बहुत कम सद्भाव दिखाई देता है। मेरे विचार से यह

१. एबरदीन चैम्बर आफ कॉमर्स को दिया गया भाषण, मंचेस्टर बाज़ियन, सितम्बर १०, १९३४।

कहना अनुचित नहीं^१ है कि इंग्लैण्ड का सम्पत्तिशाली वर्ग समृद्धि के लाभों में जनसाधारण के साथ हिस्सा तो बँटाना चाहता है लेकिन इस शर्त पर कि उसके विशेषाधिकारों पर कोई उँगली न उठ सके। लेकिन, हमारे आर्थिक विकास ने अब इन प्रश्नों को सामने लाकर खड़ा कर ही दिया है।

अमेरिका में भी स्थिति इससे भिन्न नहीं है। राष्ट्रपति ने पूँजीवाद का सुधार करने के लिए औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश किया है। लेकिन, अधिष्ठित स्वार्थ उनके कार्य में सहयोग नहीं दे रहे। उन्हें राष्ट्रपति की नीतियों में विश्वास नहीं है और चूँकि पूँजी बाजार (Capital Market) का उत्थान उनके विश्वास पर निर्भर है, अतः राष्ट्रपति की सफलता की एक आवश्यक शर्त अनुपस्थित है। दूसरी ओर उन्होंने संगठित श्रमिकों को मान्यता दिलाने के लिए जो प्रयास किए हैं, उनका राष्ट्रव्यापी विरोध हुआ है। सेन फ्रांसिस्को की ग्राम हड़ताल और १९३४ की शरदकालीन हड़ताल इस बात को अच्छी तरह व्यक्त करती है कि अमेरिका के व्यापारी सुधार के दबाव को रोकने के लिए पूर्णतः दृढ़प्रतिज्ञ हैं। इस दबाव के साथ ही साथ, जैसा कि मैंने कहा है, लोकतन्त्रात्मक विचारों के प्रति विरोध बढ़ता जाता है। श्री रूजवेल्ट के विरोधी स्वतंत्रता के नाम पर लड़ते हैं, लेकिन उनकी स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि उन्हें अमेरिकी समाज में उस स्थिति को बनाए रखने का अधिकार है जिसने वर्तमान संकट को जन्म दिया था।^२

वास्तविकता यह है, कि यदि हम वर्तमान परिस्थितियों में कुछ महत्वपूर्ण और स्थायी सुधार करना चाहते हैं, तो हमें पूँजीवादी व्यवस्था के सिद्धांतों के बाहर जाना पड़ेगा। पुरानी तरह की रियायतें उसी समय दी जा सकती हैं जब कि पूँजीवाद की सफलताएँ इतनी व्यापक हों कि इन रियायतों के देने से उसके सिद्धांतों को कोई हानि न पहुँच सके। आज हालत ऐसी नहीं है। अब हम आर्थिक विकास के उस चरण में पहुँच गए हैं जिसके विषय में मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों के फलस्वरूप मजदूरों की एक ऐसी श्रृंखला उठ खड़ी होगी, जिसके लिए कोई लाभकर काम न पाया जा सकेगा। शिल्पिक बेरोजगारी, वित्त-पूँजी (Finance Capital) की बढ़ती हुई शक्ति और आर्थिक साम्राज्यवाद की शक्ति—इन सभी क्षेत्रों में मार्क्स

१. ६ सितम्बर, १९३४ के आबजर्वर में सर थॉमस इस्कप का वक्तव्य देखिए।

२. दि न्यू रिपब्लिक, सितम्बर ५, १९३४, पृ० ८६।

की भविष्यवाणियाँ सत्य सिद्ध हुई हैं।^१ वर्तमान समाज-व्यवस्था के अन्तर्भव हम इनमें से किसी भी प्रवृत्ति पर नियंत्रण नहीं रख सकते। ये प्रवृत्तियाँ हमारे सामाजिक ढाँचे में ताने-बाने की तरह ग्रथित हैं। ये प्रवृत्तियाँ एक प्रकार से इस ढाँचे के लिए आवश्यक भी हैं। यदि इन प्रवृत्तियों पर धीरे-धीरे कोई आक्रमण किया जाता है जैसा कि १९२९ में श्रमिक सरकार ने किया था या जैसा कि श्री रूजवेल्ट के प्रयोगों से प्रकट होता है तो इसमें उस विश्वास को चोट पहुँचती है जिसके ऊपर वर्तमान व्यवस्था का सुचारु संचालन निर्भर है। फेबियन विचारधारा के अनुसार आक्रमण के कार्य में उन लोगों का भी सहयोग आवश्यक है जिनके स्वार्थों की यह व्यवस्था न केवल रक्षा ही करती है प्रत्युत जिनके विचार में यह व्यवस्था राष्ट्रीय कल्याण की गारंटी भी है। यदि इस प्रकार की नीति प्रतिकर की अच्छी शर्तों के द्वारा पूँजीवाद को सहमत करके संकट को टालना चाहती है, तो वह अपने लक्ष्य-सार्वजनिक कल्याण में बुरी तरह असफल होती है।

मैं पहले के एक अध्याय में यह बता चुका हूँ कि मेरे विचार से यह सहयोग क्यों संभव नहीं है। यदि हम उनकी आलंकारिता को अलग कर दें, तो राज्य की समस्त संस्थाएँ और समस्त विचारधाराएँ समन्वय की ओर नहीं प्रत्युत संघर्ष की ओर संकेत करती हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यह उन लोगों का जो सहयोग करना नहीं चाहते, नैतिक तिग्मकार नहीं हैं, जैसा कि कुछ लोग समझ लेते हैं। पूँजीवादियों की अपने से भिन्न सिद्धांतों को स्वीकार करने की असमर्थता उस स्थिति की परिणाम है जिसमें वे अपने को पाते हैं। जिस प्रकार कि एक ओसन ईराकी नागरिक मुस्लिम धर्म की सत्यता पर संदेह नहीं कर सकता, ठीक इसी प्रकार उनके लिए अपनी विश्वस्त विचारधारा को अस्वीकार करना संभव नहीं है। मनुष्यों की यह आदत नहीं है कि वे संकट के अतिरिक्त अन्य किसी समय में अपने सिद्धांतों का परीक्षण करें। यदि संकट के समय वे उनका परीक्षण करते भी हैं, तो उनके पास इतना समय नहीं होता कि वे उस पर गांठबिन्द में निष्पक्षतापूर्वक विचार कर सकें। हमें यह तथ्य मानना ही पड़ेगा कि इतिहास में सम्पत्ति के अधिकारों पर जब कभी वाद-विवाद हुआ है, उसने अन्य किसी विषय की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तेजना उत्पन्न की है। यह सर्वथा स्वाभाविक भी है क्योंकि वे जिन सम्बन्धों को जन्म देते हैं, उनसे हमारे सामाजिक जीवन की समस्त

१. मार्क्स और एंगेल्स के दृष्टिकोण के लिए जी० डी० एच० कोल कुत ह्लाद मार्क्स रिएली मेंट (१९३४) पढ़िए।

वतिविधियाँ निश्चित होती हैं। ऐसे सिद्धांत बहुत कम हैं जो आज हमें बिल्कुल गलत मान्न पड़ते हैं, लेकिन जो किसी समय अपने प्रतिपादकों को बिल्कुल सच्चे न मान्न पड़े हों। सम्राटों के ईवी अधिकार, धार्मिक असहिष्णुता का कस्तूर्य, दासता की व्यावहारिकता और युद्ध की अपरिहार्यता, इन सभी सिद्धांतों के समर्थक रहे हैं और कुछ के अब भी हैं। यह सचमुच बड़ा विचित्र होगा यदि उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व जैसा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत इस साधारण नियम का अपवाद हो।

हमें यह याद रखना है कि इसका उस वर्ग के लिए क्या अभिप्राय है जो समस्त सामान्य परिस्थितियों में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से लाभ उठाता है। स्वास्थ्य और सुरक्षा, संस्कृति तथा श्रम के उन रूपों तक पहुँच, जो न केवल आकर्षक ही होते हैं, प्रत्युत हमारे मानदंडों के अनुसार समाज में आदर की दृष्टि से भी देखे जाते हैं, ये सब उसके स्पष्ट लाभ हैं। इससे मनुष्य अपने बच्चों की स्थिति को सम्हाल सकता है। इससे उसका बुढ़ापा उन समस्त आपत्तियों से सुरक्षित रहता है जो मजदूरों के जीवन को ग्रस्त किए रहती हैं। इसका अर्थ दूसरों की सेवाओं को खरीदने की शक्ति एवं ज्ञान तथा यात्रा द्वारा जीवन की नीरसताओं को दूर करने की योग्यता है। जो व्यक्ति इन वस्तुओं के अभ्यस्त हो गए हैं, उन्हें हमारे वर्ग-संगठन का परिवर्तन एक खतरा मान्न पड़ता है। यदि हम यह आशा करें कि वे लोग इन समस्त वस्तुओं को इच्छापूर्वक त्याग देंगे, तो यह ऐसे विशाल पैमाने पर परिवर्तन की आशा करना हुआ, जो हमारी कल्पना में भी नहीं आता। यह एक ऐसी आशा भी नहीं है जिसे कि अपने सिद्धांतों के लिए धार्मिक संमोदन प्राप्त हो सके। इसके विपरीत, वह न केवल धार्मिक संमोदनों की अस्वीकृति पर ही निर्भर है, प्रत्युत उसे तो अधिकतर ऐसी धार्मिक संस्थाओं का विरोध ही सहन करना पड़ता है जो अधिकांश मनुष्यों के लिए धार्मिक भावना की बाह्य प्रतीक होती है। ईसाई धर्म ने अपने उपासकों को उनसे सामाजिक संगठन में बिना किसी आधारभूत परिवर्तन की माँग किए अनंत मोक्ष का वचन दिया था। वे व्यक्ति जो एक जीवन-रीति को कटुता से मानते हैं, सड़ाई के बिना उसे त्यागने के लिए क्षमक ही तैयार हों। जिन व्यक्तियों से त्यागने के लिए कहा जाता है, उन्हें अपनी स्थिति के कारण यह पूरा भरोसा होता है कि वह नई दुनिया जिसमें भाग लेने के लिए उन्हें आमंत्रण दिया जाता है, उस दुनिया से कहीं कम अशुभ है जिस पर उनका पहले से ही नियंत्रण है।

(२)

लेकिन, यह कहा जाता है कि परिवर्तन के पक्ष में संख्या का बल है। सम्पत्ति के स्वामी कम हैं, सर्वहारा अधिक हैं। जैसे-जैसे सर्वहारा वर्ग को अपनी शक्ति का ज्ञान होता जायेगा, वे स्थिति के नियन्ता होते जायेंगे। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में वे जब चाहें तब मतदान के द्वारा राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर सकते हैं। उस समय उनके अधिकार में वे समस्त साधन—राज्य की सशस्त्र सेनाएँ—भी आ जायेंगे जिनके ऊपर सम्पत्तिशाली वर्ग का नियन्त्रण निर्भर है। राज्य को संख्याओं की शक्ति के द्वारा विजित किया जा सकता है और संख्याओं को अनुभव के द्वारा राजी किया जा सकता है।

मैं, इस दृष्टिकोण में गर्भित मान्यताओं का कुछ सीमा तक पहले ही विवेचन कर चुका हूँ।^१ यह दृष्टिकोण ऐसे कई तथ्यों द्वारा खंडित हो जाता है जिन पर विशेष बल देने की आवश्यकता नहीं है। इस बात का बहुत कम आश्वासन है कि संख्याओं को यदि वे चाहें भी तो अपने मन की कर लेने दिया जायेगा। यदि वामपक्ष की शक्तियाँ अधिक दृढ़ संकल्प का परिचय देंगी, तो लोकतन्त्रात्मक प्रक्रिया को भंग करके उन्हें मताधिकार तक से वंचित कर दिया जायेगा। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय यूरोप एवं इटली की भाँति केवल सशस्त्र सेनाएँ ही सामाजिक परिवर्तन को ला सकेंगी।

यदि ऐसी समाजवादी सरकार सत्तारूढ़ हो जो कि क्रांतिकारी परिवर्तनों पर तुली हो, तो उसके मार्ग में भी अनेक बाधाएँ आयेंगी। यदि कोई व्यक्ति उसकी स्थिति पर विचार करे, तो वह यह समझ जायेगा कि उसे कितने बड़े संकट का सामना करना पड़ेगा। यदि वह धीरे-धीरे आगे बढ़ेगी, तो उसे ऐसी समस्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा जो पूँजीवादी सिद्धांतों के आधार पर समाज का धीरे-धीरे परिवर्तन करने वाली सरकार के सामने उठ खड़ी होती हैं। वह अपने विरोधियों को उनके विश्वास पर चोट करके क्रुद्ध करती है। चूँकि वह विश्वास को शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत नहीं कर पाती, अतः वह अपने समर्थकों को भी आकृष्ट करने में असफल रहती है। यदि वह तेजी से आगे बढ़ती है—और तेजी से आगे बढ़ने का पक्ष काफी मजबूत है, तो उसके मार्ग में अनेक बाधाएँ और प्रतिरोध आयेंगे। इस स्थिति में यह आवश्यक होगा कि केवल सेना और पुलिस ही उसका साथ न दें, प्रत्युत उसके वे समर्थक भी उसके साथ रहें जिनकी जीविका इस प्रकार की उथल-पुथल से खतरे में पड़

जायेगी ।^१

इस स्थल पर पूँजीवादी समाज के वर्ग-संगठन में गर्भित मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर विचार करना अत्यंत आवश्यक है । जब आज से नब्बे वर्ष पूर्व साम्यवादी घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ था, मार्क्स और एंगेल्स के लिए पूँजीपति एवं श्रमिक वर्गों के ऐतिहासिक विरोध पर बल देना और छोटे पूँजीपतियों को विशेष महत्व न देना स्वाभाविक ही था । उनका विचार था कि छोटे पूँजीपति तो इस बात के लिए विवश हो जायेंगे कि वे इन दो बड़े विरोधी पक्षों में से किसी एक को चुनें । अर्वाचीन आर्थिक विकास ने हमारे सामाजिक संगठन को अधिक जटिल बना दिया है । इसके फलस्वरूप यह प्रश्न भी हमारे लिए पहले की अपेक्षा अधिक दुरूह हो गया है । मार्क्स का यह कहना बिल्कुल सही था कि श्रमिक वर्ग ही ऐसा प्रगतिशील वर्ग है जो सफल होने पर पूँजीवादी समाज के वर्ग-सम्बन्धों को नष्ट कर सकता है । उसका यह कहना भी सही था कि छोटे पूँजीपति तो केवल आश्रित ही रह सकते हैं और वह कोई स्वतंत्र क्रांति-कारी कार्य नहीं कर सकते ।

लेकिन जो विश्लेषण यहाँ रुक जाता है, वह वास्तविक प्रश्न का उत्तर नहीं देता । हमारी स्थिति केवल ऐसी नहीं है जिसमें पूँजीपतियों की एक छोटी सी संख्या को श्रमिकों की एक ऐसी विशाल संख्या का सामना करना पड़ रहा हो जो बड़े कष्ट में हो तथा असह्य भार से पीड़ित होकर क्रांति की ओर बढ़ रही हो । मार्क्स ने वर्ग-चेतना के जिस भाव की कल्पना की थी, वह रूस के बाहर कहीं नहीं दिखाई दिया है । वर्गों की सीमाएँ मिली-जुली हैं और स्पष्ट नहीं हैं । पूँजीवाद के आर्थिक विकास ने मजदूरों की एक बड़ी संख्या को पूँजीवादी मनोवृत्ति का बना दिया है । इसके बड़े महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिणाम हुए हैं । बैंक के क्लर्क, दुकान के असिस्टेंट, सिविल सर्वेन्ट, छोटे टेकनीशियन, ऑफिस के कर्मचारी और सब प्रकार की व्यक्तिगत सेवाओं में लगे व्यक्ति—इन सबके ऊपर श्रमिकों की चेतना का बहुत कम असर पड़ता है । उन लोगों पर समाजवादी प्रचार का प्रभाव पड़ने से तो दूर रहा, वे लोग फासिस्ट विचारों के लिए बहुत अनुकूल भूमि सिद्ध हुए हैं । ऐसा मालूम पड़ता है कि इन लोगों के साथ आपदा के समय में, जैसा कि युद्ध के पश्चात् जर्मनी में हुआ था, वे बहुत से बेरोजगार कर्मचारी सम्मिलित हो गए हैं जिन्हें भविष्य में आशा की कोई किरण नहीं दिखाई देती ।

१. इन समस्याओं के विशद विवेचन के लिए मेरी पुस्तक, 'डिमोक्रेसी-इन क्राइसिस' (१९३३) विशेषकर पृ. १०५-११० देखिए ।

कहने का सार यह है कि हमें एक ऐसी स्थिति का सामना करना है जिसमें आपद्ग्रस्त पूँजीवाद की कठिनाइयाँ श्रमिक वर्ग को एक करने के स्थान पर उसे विभक्त करती हैं और इस प्रकार पूँजीपतियों को यह अबसर देती हैं कि वे फासिस्ट शक्तियों के साथ गठबंधन करके लोकतंत्रात्मक संस्थाओं को नष्ट कर दें और राज्य के ऊपर अपना नियंत्रण बनाए रखें। केन्द्रीय यूरोप और इटली में यही स्थिति थी। वहाँ फासिज्म की सफलता का कारण यह था कि एक ओर तो उसने छोटे और बड़े पूँजीपतियों को एक रखा और दूसरी ओर मजदूरों में फूट पैदा कर दी। मेरे विचार से यह सही है कि छोटे और बड़े पूँजीपतियों का गठबंधन स्थायी नहीं हो सकता। अधिकारवादी राज्य के सम्बन्ध में उनके जो विचार हैं, उनमें अंततोगत्वा कोई संगति नहीं है। आज-कल के विरुद्ध पूँजीवाद के लिए मैनैजमेंट के केन्द्रीकरण की आवश्यकता होती है। इसके फलस्वरूप, जैसा कि जर्मनी और इटली प्रकट कर रहे हैं, विजय के साक्षीदारों के दावों को संतुष्ट करना कठिन हो जाता है। मेरे विचार से यह भी सही है जैसा कि वेब्लेन ने बड़े विस्तार के साथ प्रदर्शित किया है कि वित्त पूँजी (Finance Capital) कुछ ऐसी आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विकास कर देती है जिनके कारण उसका टैकनीशियनों के साथ मेल असाधारण रूप से कठिन हो जाता है।^१ यदि वित्त पूँजी निरन्तर विस्तारशील बाजार नहीं पा सकती और यह आर्थिक साम्राज्यवाद की परिस्थितियों द्वारा निषिद्ध है, तो उसे अपनी नीति का आधार प्रचुरता को नहीं, प्रत्युत अल्पता को बनाना पड़ता है। यह टैकनीशियन को बुरा मालूम पड़ता है। यह छोटे पूँजीपतियों के हितों के तो बिल्कुल विरुद्ध है। इसके परिणामस्वरूप पूँजीवादी लोकतंत्र की भाँति ही औद्योगिक संकट और बेरोजगारी पैदा होती है। इनके कारण आगे चलकर वह गठबंधन नष्ट हो जाता है जो पूँजीवाद को श्रमिकों के ऊपर विजय पाने की सामर्थ्य देता है।

मेरे विचार से रूस के अनुभव से इस विश्लेषण में कोई त्रुटि नहीं आती। मेरे विचार से वहाँ पूँजीवाद नया ही पैदा हुआ था, उसकी शक्ति के स्रोत बाहर थे और उसके पास ऐसे संख्या-बल का अभाव था जिसके आधार पर कि वह इस प्रकार के किसी प्रतिरक्षात्मक संगठन का निर्माण कर पाता जिसकी कि मैंने चर्चा की है।^२ पुनश्च, रूसी पूँजीवाद को कुछ विशेष परि-

१. वि एंजोनियर्स एंड वि प्राइज-सिस्टम, (१९२१); एब्सेंटी ओनरशिप (१९२३)।

२. देखिए ट्राट्स्की कृत, हिस्ट्री आफ़ वि रशन रेवोल्यूशन (१९२०) इस पुस्तक का भाग १ और इस भाग का परिशिष्ट १ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

स्थितियों में पदच्युत किया गया था। असफल युद्ध और पार्श्वविक दुर्व्यवहार ने सेना को क्रांति का वैतालिक बना दिया था। शासन-तंत्र विस्फुल्ल छिन्न-फिन्न हो गया था। किसान ऐसी किसी भी सरकार का समर्थन करने के लिए तैयार थे जो कि उन्हें शान्ति और जमीन देने का वायदा करती। विजय की सम्भावना होने पर भी मित्यूकोव अथवा केरेंस्की सेनाओं का समर्थन नहीं पा सकते थे। जिन परिस्थितियों में फरवरी की क्रांति हुई थी, उन्होंने एक ऐसी अवस्था पैदा कर दी जो केवल एक असफल युद्ध के पश्चात् ही उत्पन्न हो सकती थी। उसने श्रमिकों की एक सशस्त्र सेना छोड़ दी। पूँजीवादी उसके जैसी प्रतिरक्षा का संगठन नहीं कर सकते थे। फिर, जब इनके साथ ही लेनिन की अन्तर्दृष्टि मिल गई, तो फिर रंगमंच ऐसी घटनाओं के लिए तैयार हो गया जिनकी यूरोप या अमेरिका की स्थिति से कोई तुलना ही नहीं की जा सकती।

मेरे विचार से, इस विवेचन में कुछ सिद्धांत स्पष्ट हो जाते हैं। छोटे पूँजीपतियों के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध मजदूरों के साथ न होकर पूँजीपतियों के साथ ही अधिक होंगे। यदि श्रमिक वर्ग टेकनीशियनों, प्रकाशकों और व्यवसायी वर्गों को अपने साथ नहीं कर सकता, तो वह वैधानिक उपायों से राज्य को नहीं जीत सकता। यदि वह अपनी माँगों को उग्रता से प्रस्तुत करेगा, तो राज्य लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं को नष्ट कर देगा। यदि मजदूर विप्लव या आम हड़ताल जैसे अवैधानिक उपायों से राज्य पर अपना अधिकार करने के प्रयास करेंगे तो उनके ये प्रयास उस समय तक सफल नहीं हो सकेंगे जबतक कि सेना वर्तमान राज्य के प्रति राजभक्त रहती है अथवा सामान्य शासन में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार के प्रयास के फलस्वरूप लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं का विनाश और फासिस्ट संस्थाओं का निर्माण हो जायेगा। यदि फासिज्म के अन्तर्विरोध छोटे पूँजीपतियों को मजदूरों का पक्ष लेने के लिए विवश नहीं कर देते, तो आगे चलकर इसका परिणाम बड़ा क्रूर तानाशाही होगी जिसकी हिटलर और मुसोलिनी ने अपने-अपने राज्यों में स्थापना की है।

छोटे पूँजीपति मजदूरों का साथ देने के लिए विवश हो जायेंगे, इसका कारण स्पष्ट है। समाज की सम्भाव्य उत्पादकता के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि छोटे निर्माता और व्यापारी समाप्त हो जायें। फासिस्ट समाज में उसकी (छोटे पूँजीपति की) विजय अव्यकाशील ही होगी। यदि आर्थिक विस्तार के साधनों को प्राप्त करना है, तो यह निश्चित है कि बड़ा

बड़े पूंजीपतियों के आश्रित हो जायेगा। लेकिन इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि यदि वह जीवित रहना चाहता है, तो पूंजीपतियों पर आक्रमण करे और इस आक्रमण में उसकी सफलता तभी सम्भव हो सकती है जब कि वह उन्हीं श्रमिकों के साथ गठबन्धन करे जिनको पराजित करने में उसने पहले सहायता दी थी। इन परिस्थितियों में श्रमिकों के साथ गठबन्धन तभी हो सकेगा जब कि वह समाज के वर्ग-सम्बन्धों को बदलने के लिए तैयार हो जयें। इन परिस्थितियों में यदि उचित नेतृत्व मिल जाये, तो श्रमिकों की विजय हो सकती है। इस स्थिति में कोई भी सरकार नागरिकों के असन्तोष को बहुत अधिक समय तक नहीं दबाए रख सकती। १८४८ की भाँति विशोभ का वातावरण इसना शक्तिशाली हो जाता है कि राज्य-शक्ति के ऊपर सरकार का नियंत्रण शिथिल पड़ जाता है। असन्तोष को विशाल पैमाने पर संगठित किया जा सकता है। उन लोगों के मन में भी सन्देह और अनिश्चितताएँ आने लगती हैं जो अपने आर्थिक स्वार्थ को पूंजीवाद के साथ संलग्न समझते थे। ऐसी स्थिति में वह कोई भी वर्ग, जिसने अपना आत्म-विश्वास खो दिया है, अपनी शक्ति को बनाए रखने की आशा नहीं कर सकता। हाँ, यह बात दूसरी है कि उसके विरोधी कुछ प्रक्षम्य भूलें कर बैठें।

एक स्थिति और ऐसी है जिस पर इस संदर्भ में विचार कर लेना आवश्यक है। हमारे विवेचन ने एक ऐसे आन्तरिक शक्ति-संघर्ष की कल्पना की है जो विदेशी संघर्ष से बिल्कुल असम्बद्ध है। लेकिन, यदि पूंजीवादी राज्य का मैंने जो विश्लेषण किया है, वह सही है, तो हम विदेशी संघर्ष को भी अपने विचार-क्षेत्र से नहीं हटा सकते। पूंजीवाद का आन्तरिक स्वरूप तो जैसा कि मैंने प्रकट किया है, ऐसा है कि वह अपने साम्राज्यवादी चरण में विदेशी युद्ध को अपनी प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग बना देता है।^१ इसका क्या परिणाम हो सकता है? मेरे विचार से हम यह कुछ विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि पराजय प्राधुनिक परिस्थितियों में क्रान्ति के लिए अनुकूल अवसर प्रदान करती है। पराजय ने ही रूस की क्रान्ति को सम्भव किया था। उसने सेना की नैतिकता को नष्ट कर दिया। फलतः, सेना राज्य की विश्वास-पात्र न रही और उसने अन्त में बोल्शेविकों का साथ दिया। सेना के असंगठन के कलस्वरूप ही अजदूर शस्त्र-सज्जित हो सके थे। इस बात का पर्याप्त साक्ष्य मिलता है कि क्रान्ति की सफलता की यह एक मुख्य शर्त थी। सेनाओं में अधुनासन नष्ट हो जाने के कारण ही मिल््यूकोव व करेंस्की किसी स्थायी

सरकार का निर्माण नहीं कर सके। इसी कारण प्रिंस ल्वाव (Prince Lvov) और कोरेन्स्की के मंत्रिमंडल अपने आदेशों का पालन नहीं करवा सके थे। सैनिक अस्त-व्यस्तता के साथ ही साथ असैनिक सत्ता आदेश के अपने अधिकार को हस्तगत करने में असफल हुई। ऐसी स्थिति में शक्ति उसी दल के हाथों में आ सकती थी जो अपने कार्यक्रम को जनता की अस्पष्ट माँगों के अनुसार निर्धारित करता। इन परिस्थितियों में यह आश्चर्यजनक नहीं है कि बोल्शेविकों की विजय हुई। आश्चर्यजनक यह है कि लेनिन को केंद्रीय समिति के अपने साथियों के साथ अन्तिम आक्रमण के अधिकार के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा था।^१

रूस के अनुभव का महत्व समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसे १९१८-१९ की जर्मन क्रांति के संदर्भ में देखें। दोनों ही देशों में राजनीतिक उथल-पुथल के पूर्व सैनिक पराजय हुई थी। रूस में बोल्शेविकों ने शक्ति हथियाने के तुरंत बाद ही अपदस्थ राज्य के वैधानिक सिद्धांतों को नष्ट कर दिया था। उन्होंने उसकी संस्थाओं को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार संशोधित कर लिया। उन्होंने ऐसे कर्मचारियों को जिनमें उनका विश्वास नहीं था, निकाल दिया। उन्होंने समस्त क्रांति-विरोधी संगठनों को कुचल डाला। उन्होंने मार्क्स की इस शिक्षा को गांठ बांध लिया था कि क्रांति के साथ क्रीड़ा नहीं की जा सकती। यदि मित्र-राष्ट्र उनके विरोधियों को आर्थिक और सैनिक सहायता न देते, तो उन्हें इतनी कठिनाइयाँ न उठानी पड़तीं। यह ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने अपने विपक्षियों के साथ उस समय तक कोई समझौता नहीं किया जबतक कि उन्होंने अपनी आंतरिक स्थिति पूर्णतः सुदृढ़ नहीं कर ली।

जर्मनी में हालत जरा भिन्न रही थी। साम्राज्य के नष्ट हो जाने के उपरान्त राज्य की शक्ति एक सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के हाथों में आ गई थी। यह पार्टी इस शक्ति का प्रयोग करने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थी। उसके पास उद्देश्य की कोई एकता नहीं थी। उसने जनता का नेतृत्व नहीं किया, प्रत्युत जनता ने उसको खदेड़ा। जब वह जनता का अनुगमन करती मालूम पड़ती थी, उसने पुरानी व्यवस्था की उन शक्तियों के साथ समझौता किया जिनके साथ कि उसका समझौता असंभव होना चाहिए था। उसने आर्थिक शक्ति

१ देखिए, लेनिन, कलैक्टेट वर्क्स, (अंग्रेजी अनुवाद), जिल्द २१, भाग २, पृ० ५७-१४५। पृ० १३३ और १४४ के पत्र विशेष रूप से देखिए। पृ० ३२६ पर मुद्रित प्रलेख भी देखिए।

बड़े-बड़े उद्योगपतियों के हाथों में रहने दी। उसने साम्राज्य-युग के दीवानी और फौजदारी कानूनों को यथापूर्व रहने दिया। उसने पुरानी न्यायपालिका को और व्याख्या करने की पुरानी परम्पराओं को भी ज्यों का त्यों बने रहने दिया। उसने मेना का संचालन ऐसे लोगों के हाथों में सौंपा जो नई व्यवस्था के बिल्कुल अनुकूल नहीं थे। उसने सिविल सर्विस की निष्पक्षता के सिद्धांत को इतना सम्मान दिया कि उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। जर्मनी में चर्च प्रतिक्रिया का गढ़ था। उसे अछूता छोड़ दिया गया एवं कुछ वर्षों के पश्चात् उसे नए राजस्व तथा नए अधिकार मिलने लगे। जर्मनी के नए शासन ने अपने विरोधियों की सम्पत्ति जब्त नहीं की। फलतः उन लोगों के पास ऐसे साधन बने रहे जिनके द्वारा उन्होंने क्रांति-विरोधी कार्यवाहियों की खुलकर सहायता की। इस शासन को पलटने की जो चेष्टाएँ हुईं, उनमें अपराधियों को बहुत हल्का दंड दिया गया। जर्मनी में लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि मजदूरों में एकता बनी रहे। नए शासन ने मजदूरों की एकता को बनाए रखने की कोई चेष्टा नहीं की। कहने का सार यह है कि वीमर गणराज्य (Weimar Republic) अपने शत्रुओं की सद्भावना को पाने के लिए इतना आतुर था कि वह अपने मित्रों पर विश्वास रखने की आवश्यकता को भूल गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्थिक कठिनाइयों एवं विदेशों के दबाव ने उसके पतन में सहायता दी, लेकिन जिस सुगमता से उसका अंत हो गया, उसके लिए उसके निर्माता ही दोषी थे। इन निर्माताओं का उस कार्य में कोई विश्वास नहीं था जिसे १९१८ में उन्होंने अपने हाथ में लिया था।

रूस और जर्मनी के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि असफल युद्ध सफल क्रांति की कोई गारंटी नहीं है। क्रांति के प्रणेताओं के लिए यही आवश्यक नहीं है कि वे राज्य के ऊपर अधिकार कर लें। उनके लिए यह भी आवश्यक है कि वे राज्य को ऐसे उद्देश्यों का साधक बनायें जिनको कि वे प्राप्त करना चाहते हैं। एबर्ट और उनके साथियों ने १९१८ में क्रांति की केवल प्रारम्भिक चेष्टा ही की थी। बाद में वे उसे पूरा करने से विरत हो गए क्योंकि उन्हें उसकी कीमत से डर लगा। उन्होंने जिस व्यवस्था का निर्माण किया था, वह पूर्णतः राजनीतिक लोकतंत्र था। उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि उन्होंने आर्थिक शक्ति के मुख्य प्रश्न को अछूता छोड़ दिया था। युद्ध से पहले के जर्मनी के वर्ग-सम्बन्धों को यथापूर्व रहने दिया गया था। राजनीतिक लोकतंत्र गम्भीर पंजीवादी संकट के समय में किसी स्थायी संतुलन

की रचना नहीं कर सका। इसके कारणों का मैं पहले ही विवेचन कर चुका हूँ।^१ युद्धोत्तर जर्मनी की अवस्था ऐसी थी कि नए शासन को या तो अपने शत्रुओं का विनाश कर देना चाहिए था, या उनके द्वारा उसका विनाश अवश्यम्भावी था। उसने स्वतंत्रता के बाह्य रूपों को मानकर लेकिन साथ ही उनके सारतत्व को अस्वीकार कर उन्हें संतुष्ट करने की कोशिश की। इसका परिणाम वीमर के मूल समझौते में निहित था। जर्मन लोकतंत्र हिटलर द्वारा १९३३ में पराजित नहीं हुआ, वह अपने निर्माताओं द्वारा १५ वर्ष पूर्व ही नष्ट कर दिया गया था। यह बीच का समय तो उन सिद्धांतों का विनाश-काल था जिनके ऊपर कि मूल अट्टालिका का निर्माण हुआ था।

निष्कर्ष यह साफ मासूम पड़ता है कि यदि क्रांति को सफल होना है, तो फिर समझौते की कोई संभावना नहीं है। राज्य-शक्ति एक ऐसी सत्ता नहीं है जो कि केवल भावों के धूमिल विश्व में रह सके। उसका मूलतत्त्व ही यह है कि वह या तो सब कुछ होगी या कुछ नहीं होगी। इसलिए यह आवश्यक है कि उसका स्वरूप एवं संगठन दोनों की दृष्टि से उन उद्देश्यों के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाये जिनको कि वह पूरा करना चाहती है। यदि ऐसा नहीं हो पाता, तो इसका परिणाम अव्यवस्था होगा। रूस में मार्च एवं नवम्बर १९१७ के बीच दोहरी शक्ति पैदा हो गई थी। ऐसी स्थिति में जो अंतिम परिणाम सामने आता है, उसके मूल में विवेक नहीं, प्रत्युत संघर्षरत शक्तियों की अन्तर्दृष्टि होती है। रूस की क्रांति ने यह सामंजस्य स्थापित कर लिया और बड़ी पीड़ा के उपरांत एक नए राज्य का निर्माण हुआ जिसने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने में सफलता प्राप्त की। जर्मनी में ऐसा नहीं हो सका था। वहाँ राजनीतिक शक्ति तो जनता के हाथों में आगई लेकिन आर्थिक शक्ति उन्हीं लोगों के पास बनी रही, जिन लोगों के पास कि वह पहले से थी। समृद्धि के युग में तो शक्ति का यह विभाजन उपयोगी हो सकता था। उस समय ती मजदूरों को ऐसी काफी रियायतें दी जा सकती थीं, जिनसे कि उनकी महत्वाकांक्षाएँ संतुष्ट रहतीं। लेकिन यह तो अवपात का समय था और पराजय की कटुता ने उसे और तीखा कर दिया था। इन परिस्थितियों में शक्ति का विभाजन अविचार्य था। इसको बनाए रखने की चेष्टा का परिणाम यह हुआ कि सर्वोच्च शक्ति ऐसे लोगों के हाथों में आगई जो १९१८ के समाजवादियों के विपरीत अपनी विजय की हर कीमत चुकाने के लिए तैयार थे। वीमर समझौते का एकमात्र परिणाम—अपरिहार्य परिणाम यह हुआ कि वह संघर्ष जिसमें एबर्ट और उनके साथियों

वे उस समय सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया, बाद के लिए स्थगित हो गया ।

यदि यह सही है, तो स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ इतिहास मनुष्यों को अवसर प्रदान करता है, उन अवसरों से लाभ उठाना मनुष्यों के ऊपर निर्भर है । रूस की क्रांति उन मनुष्यों द्वारा, जिन्होंने अवसरों से लाभ उठाने की कला में अपने को निष्णात कर लिया था, अनुकूल परिस्थितियों के सदुपयोग का उदाहरण है । जर्मनी की क्रांति अवसरों की चूक का इतिहास है । सोशल डेमोक्रेट्स राज्य-शक्ति अपने हाथों में आ जाने पर समाजवादी राज्य का तो निर्माण करना चाहते थे, लेकिन वे उस राज्य को समाजवादी उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त करने के लिए तैयार नहीं थे । उन्होंने राजनीतिक सत्ता के मुख्य साधन अपने विरोधियों के हाथों में छोड़ दिए थे । जर्मनी में प्रतिक्रांति उसी समय से प्रारम्भ हो गई थी जिस दिन कि पुराने शासन को अपदस्थ किया गया था । वीमर गणराज्य में ऐसे व्यक्ति बिल्कुल नहीं थे जो कि राजनीतिक बुनियादों को मजबूत कर सकते । वीमर गणराज्य के निर्माता इस बात के लिए अत्यधिक आतुर थे कि वे अपनी शासन-प्रणाली के लिए अपने शत्रुओं का सहयोग भी प्राप्त कर लें । वे यह बात बिल्कुल भूल गए कि उनके शत्रु उन उद्देश्यों के सदैव विरुद्ध रहे हैं, जिनको कि उनकी शासन-प्रणाली प्राप्त करना चाहती है । बर्साई के पश्चात् जर्मनी की प्रतिक्रांति के लिए केवल सफलता के अवसर की आवश्यकता थी और किसी चीज की नहीं । जब वह आई, वह आशातीत सरल सिद्ध हुई । लेकिन वास्तव में उसने आक्रमण करने की पूँजीवाद की प्रतिरोधक शक्ति को सिद्ध नहीं किया । उसने यह सिद्ध किया कि जो लोग इतिहास के अवसरों से लाभ नहीं उठाते, इतिहास उनसे बदला लेता है ।

(३)

राज्य-शक्ति को अपदस्थ करने की चेष्टा में अनुकूल अवसर का महत्व बहुत अधिक होता है । नवम्बर-विद्रोह के समय लेनिन ने बोल्शेविक पार्टी को लिखा था, “इतिहास उन क्रांतिकारियों के विलम्ब को क्षमा नहीं करेगा जो आज विजयी हो सकते हैं (और आज निश्चय ही विजयी होंगे) । यदि वे अपने प्रयत्न को कल तक के लिए टालते हैं, तो हो सकता है कि वे सब कुछ खो बैठें ।”^१ राज्य के अन्दर शक्तियों का संतुलन सदैव ही एक गतिशील मामला

१. ६ नवम्बर १९१७ का पत्र, कलैक्टेड वर्क्स, (अंग्रेजी अनुवाद) जिल्द २१, भाग २, पृ० १४४-४५ ।

होता है और उसके ऊपर सफल प्रहार एक ऐसी स्थिति में हो सकता है जब कि जनता उन वर्ग-सम्बन्धों को नष्ट करने की आवश्यकता को समझ ले, जो कि उसकी मांगों के प्रतिकूल बैठते हैं। क्रांतिकारी नेता के नाते लेनिन की सफलता का रहस्य यही था कि उसने इस स्थिति को समझ लिया था। क्रांति के समय उसने यह सबसे अधिक अच्छी तरह समझा था कि पूँजीवाद की सत्ता किस प्रकार नष्ट हो चुकी है और किसानों तथा मजदूरों के हृदय में उसके प्रति विरोध भाव कितना अधिक बढ़ गया है। लेकिन, उसने यह भी समझ लिया था कि क्रांति के युग में शक्ति के केन्द्र को अनिर्णीत छोड़ना कितना असंभव है। समाज अपनी उत्पादन-व्यवस्था की पुनर्प्रतिष्ठा के द्वारा ही जीवित रह सकता है। उसे शांति और व्यवस्था के सिद्धांतों को फिर से बनाने की बड़ी शीघ्र ही आवश्यकता हो जाती है। १९१७ में रूस की स्थिति ऐसी थी कि उस समय वहाँ केवल दो ही विकल्प रह गए थे—या तो बोल्शेविक दल सत्ता को हथिया ले या फिर एक प्रकार का सैनिक अधिनायकवाद स्थापित हो। यदि दूसरे विकल्प को अपनाया जाना, तो पूँजीवाद के वे वर्ग-सम्बन्ध फिर से उठ खड़े होते, जिन्हें कि बोल्शेविज्म दूर करना चाहता था। यदि लेनिन अपने दल को ७ नवम्बर की क्रांति के लिए राजी न कर पाते, तो रूस में पूँजीपतियों की विजय अवश्यम्भावी हो जाती।

वह रूस के हित में होता या नहीं, इसकी मुझे कोई चिंता नहीं है। इस पुस्तक का प्रयोजन समर्थन करना नहीं, प्रत्युत विश्लेषण करना है। जहाँ हम एक बार यह समझ लेते हैं कि समाज में शक्तियों का संतुलन सदैव गतिशील होता है, हमारे लिए राज्य की शक्ति पर विचार पाने का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे पुराने पूँजीवादी समाजों के सम्बन्ध में तो यह विशेष रूप से सत्य है। यहाँ यह प्रत्यक्ष है कि बड़ी घटनाओं का दबाव ही श्रमिक वर्ग को एक ओर तो अपनी एकता तथा दूसरी ओर अपने उद्देश्यों एवं पूँजीवादी वर्ग-संगठन के उद्देश्यों की प्रतिकूलता का ज्ञान कराता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पूँजीवादी व्यवस्था आशातीत अभ्युदय प्राप्त कर सकती है। यदि इस अभ्युदय में अचानक ही कोई व्यतिक्रम उपस्थित नहीं हो होता तो क्रांति का वातावरण पैदा नहीं हो सकता। उस समय मजदूरों के हृदय में ऐसा सार्वभौम संकट पैदा नहीं होता जैसा कि १९१७ में रूस में पैदा हो गया था। ऐसी स्थिति में असंतोष का भाव केवल प्रकीर्ण ही होता है, पूँजीभूत नहीं।

इस तथ्य को कि यह असंतोष प्रकीर्ण ही होता है, दूसरे महत्त्वपूर्ण

मनोवैज्ञानिक तत्वों के साथ जोड़ देना चाहिए। इंग्लैण्ड, अमेरिका और फ्रांस के मजदूर में १९१७ से पहले के रूसी मजदूर की भाँति तीव्र श्रमिक चेतना नहीं थी। उस व्यक्ति में श्रमिक-चेतना हो भी कैसे सकती है जो कि मकान, सेविंग बैंक एकाउंट, मोटरकार या छोटी सी इंड्योरेंस पॉलिसी रखता हो। उसके जीवन-स्तर में अब तक शनैः शनैः वृद्धि ही होती रही है। फलतः, वह रूसी मजदूर की भाँति यह कैसे समझ सकता है कि उत्पादन-व्यवस्था के भंग हो जाने पर उसे हानि पहुँचेगी? एंग्लो-सैक्सन देशों विशेषकर स्कैंडिनेविया में मजदूर-वर्ग लोकतन्त्रात्मक सफलता की परम्परा से अब भी बहुत प्रभावित है। उसने यह देखा है कि उसके दबाव से राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ गया है। उसकी प्रवृत्ति यह है कि वह इस दबाव को चालू रखने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करे। उसके विचार से क्रांति उन उपायों का जिनमें अपने ऐतिहासिक अनुभव के कारण वह विश्वास रखता है, विस्तार नहीं; प्रत्युत उनका अतिक्रमण है। रूसी साम्यवादी ब्रिटिश मजदूर के रूढ़िवाद को देखकर आश्चर्यचकित होता है। वह उसके दृष्टिकोण को रूसी मानदंडों के अनुसार परखता है, ब्रिटिश मानदंडों के अनुसार नहीं। वह अनुभव के प्रभाव को जाँचते समय कालक्रम की उपेक्षा कर जाता है।

मेरे विचार से यह स्थिति इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे देशों में जो काफी गंभीर है, विशेष रूप से पायी जाती है। अमेरिका में अब भी यह आम धारणा है कि समाज अपार गतिशील है, मजदूरों के पास भी काफी धन रहता है और देश में ऐसे असीम संसाधन हैं जिनका ठीक से सदुपयोग करना बाकी है। इस धारणा ने ही अमेरिका में श्रमिक संघवाद का प्रसार रोक दिया है। इसी धारणा के फलस्वरूप अमेरिका का श्रमिक संघ (American Federation of Labour) समाजवाद को अपने यहाँ के मजदूरों के लिए अनुकूल नहीं मानता। अमेरिका की भूमि में छोटे पूँजीपतियों का मनोविज्ञान कितना गहरा है, यह महान् अवपात से अच्छी तरह प्रकट हो गया है। यह स्पष्ट है कि अमेरिका में तो कोई बड़ा संकट ही इस दृष्टिकोण का शीघ्र विनाश कर सकता है। पुनश्च, अमेरिका की प्रवृत्ति ऐसी मालूम पड़ती है कि वह वर्तमान वर्ग-संगठन में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन करने की अपेक्षा फासिज्म के द्वारा उसकी रक्षा करने का ही प्रयास करेगा।

कुछ हद तक यह इंग्लैण्ड के बारे में भी सही है। वहाँ मजदूरों का वैधानिकवाद में प्रगाढ़ विश्वास है। वहाँ के श्रमिक-संघों पर पूँजीवाद की आर्थिक सफलताओं का प्रभाव पड़ा है। उनका अब भी विश्वास है कि वे

कुछ दबाव द्वारा काफी लाभ उठा सकते हैं। जर्मनी और इटली के घटना-क्रम को देखते हुए वे क्रांति के साथ खिलवाड़ करके अपनी स्थिति को खतरे में नहीं डालना चाहते। इंग्लैण्ड के दृष्टिकोण का मूल मंत्र यह है कि अनुदारवाद की निर्वाचकीय पराजय का अर्थ श्रमिक दल की विजय है। अधिकांश व्यक्तियों का विचार है कि इससे न केवल शांतिपूर्ण परिवर्तन ही संभव हो सकेगा, प्रत्युत यदि श्रमिक सरकार को अवैधानिक रूप से कोई चुनौती मिली, तो उसे राज्य-शक्ति के प्रयोग द्वारा अपनी रक्षा का अधिकार होगा।

क्रांति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसे जनता का समर्थन मिले। इंग्लैण्ड और अमेरिका में यह समर्थन नहीं है। क्रांति के प्रतिपादकों^१ का कहना है कि इंग्लैण्ड और अमेरिका में इस समर्थन के अनुपस्थित होने के दो कारण हैं—एक तो यह कि क्रांति में विश्वास न रखने वाले समाजवादी कायर हैं और दूसरे यह कि उनके पूंजीवादी विरोधी जनता को मूर्ख बनाने की कला में बड़े निपुण हैं। लेकिन यह बात सही नहीं है। इंग्लैण्ड और अमेरिका में इस समर्थन के अनुपस्थित होने का कारण यह है कि इन देशों के ऐतिहासिक अनुभव ने ऐसी परिस्थितियाँ और इसलिए ऐसा मनोविज्ञान उत्पन्न नहीं किया है जिसकी सफल क्रांति के लिए आवश्यकता होती है। यह परिस्थिति बुद्ध की पराजय से उत्पन्न हो सकती है। यह परिस्थिति जीवन-स्तर के ऐसे भयंकर पतन के फलस्वरूप भी उत्पन्न हो सकती है जो काफी समय तक चलता रहे तथा जनता को यह विश्वास दिला दे कि अब हालत नहीं सुधर सकती। इंग्लैण्ड में यह स्थिति संविधान के साथ ऐसा छल-कपट करने से पैदा हो सकती है जिससे कि मजदूरों का वैधानिकवाद में विश्वास नष्ट हो जाये। मेरे विचार से मूल बात यह है कि पूंजीवाद का शनैः शनैः विनाश इस प्रकार की कोई नाटकीय प्रक्रिया नहीं है जिसका कि थोड़े से काल में ही व्यापक प्रभाव पड़ता हो। इस दृष्टि से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि कोई व्यक्ति इन देशों में वर्तमान वर्ग-संगठन को बदलना चाहता है, तो उसे वैधानिक उपायों का अधिक उपयोग करना चाहिए।

यदि अन्य किसी नीति को अपनाया जाता है, तो संकट उठ खड़ा होगा। इन देशों में अपनी आर्थिक स्थिति के कारण श्रमिक वर्ग में ऐसी एकता नहीं

१. देखिए, आर. पाम कृत, फासिज्म एंड सोशल रेवोल्यूशम (१९३४)। इस पुस्तक में फासिज्म के उत्थान का अच्छा वर्णन किया गया है लेकिन यह नहीं बताया गया है कि मजदूरों में फूट पड़ जाने के क्या ऐतिहासिक कारण थे।

है जिससे कि वह शक्ति प्राप्त करने में अकेले समर्थ हो सके। यदि उसमें एकता होती, तब भी वह शस्त्र-प्रयोग के बिना शक्ति नहीं पा सकता। आधुनिक राज्य में वह राज्य-शक्ति की उदार सहायता के बिना हथियार नहीं पा सकता। इस उद्देश्य के लिए राज्य की सहायता पाना असंभव सा है। दूसरी ओर, यह बिल्कुल सामान्य बुद्धि की बात है कि यदि वैधानिक विजय भ्रांतिपूर्ण सिद्ध होगी, तो इस भ्रांति को प्रदर्शित करने का सबसे सरल उपाय यह है कि मजदूरों को निर्वाचन में यथासम्भव द्रुत गति से विजय दिलाई जाये। इन परिस्थितियों में इंग्लैण्ड की दशा को देखते हुए क्रांतिवादियों की सबसे अच्छी नीति यही होगी कि वे सुधारवादी नीति की विफलता को प्रमाणित करने के लिए सुधारवादियों के साथ मिलकर एक संयुक्त मोर्चे का निर्माण करें।

यहाँ इस बात का संक्षिप्त विवेचन समीचीन होगा कि युद्धोत्तर वर्षों में क्रांतिवादियों के संयुक्त मोर्चे के निर्माण का प्रयास क्यों इतनी बुरी तरह विफल हुआ है। यह समझना तो सुगम है कि फासिज्म के बल प्राप्त करने के पूर्व उसके निर्माण की गम्भीर चेष्टा क्यों नहीं की गई। तीसरी इंटरनेशनल (Third International) का यह विचार था कि युद्ध के पश्चात् विश्व-क्रांति अवश्यम्भावी है और यदि हम क्रांति की शक्तियों का सुधारवादी समाजवाद की शक्तियों के साथ संयोग करते हैं तो इससे पूंजीवाद की मरणासन्न व्यवस्था के अंत में और देरी होगी। रूस में क्रांति को जो सफलता प्राप्त हुई, उससे क्रांतिवादियों का यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि अब तो संसार में समाजवाद की विजय-दुन्दभी बजने में और अधिक बिलम्ब नहीं लगेगा।

लेकिन, जहाँ एक बार यह प्रतीत होने लगा कि पूंजीवाद ने एक नया चाहे वह भ्रांतिपूर्ण ही क्यों न हो, स्थायित्व प्राप्त कर लिया है, क्रांतिकारी नीति के सिद्धांतों में बड़े दोष दिखाई देने लगे। इन सिद्धांतों का आधार यह था कि सामाजिक लोकतंत्र सामाजिक फासिज्म है। इस दृष्टिकोण के निष्कर्षों को समझना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण का अपने उग्रतम रूप में कार्ल रेडक (Karl Radak) ने रूसी साम्यवादी दल के सत्रहवें सम्मेलन में व्यक्त किया था। उसने कहा था, “मजदूर वर्ग के लिए लेनिन के भंडे के नीचे और स्टालिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल के संघर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई संघर्ष नहीं है। जो कोई लेनिन के दल की सामान्य नीति का विरोध करता है, वह स्वतः ही स्वयं को विरोधी पक्ष में शामिल कर लेता है।” ऐसा क्यों है? क्योंकि, स्टालिन ने यह कहा था, “सामाजिक लोकतंत्र वास्तव में फासिज्म का

नरम पक्ष है। इस बात को मानने का कोई कारण नहीं है कि पूंजीवादियों का युद्धातुर संगठन सामाजिक लोकतंत्र के सक्रिय सहयोग के बिना अपने संघर्षों में अथवा देश के नेतृत्व में निर्णायक सफलता प्राप्त कर सकता है..... ये संगठन एक दूसरे का विरोध नहीं करते, प्रत्युत एक दूसरे को पूर्ण करते हैं। वे प्रतिलोम नहीं प्रत्युत जुड़वाँ हैं।”

इस दृष्टिकोण की निस्सारता स्पष्ट है। जैसा कि अनुभव ने प्रकट किया है, फासिज्म, सामाजिक लोकतंत्र की संस्थाओं—श्रमिक संघों, राजनीतिक दलों और सहकारी आंदोलन को नष्ट करके ही विजय पा सकता है। सामाजिक लोकतंत्र के सिद्धांत के विरुद्ध यही कहा जा सकता है कि वैधानिकता के प्रति उसके अत्यधिक उत्साह के कारण उसकी क्रांतिमूलक शक्ति दुर्बल हो जाती है और इस दुर्बलता के फलस्वरूप जनता फासिज्म का सफलतापूर्वक प्रतिरोध नहीं कर पाती। सामाजिक लोकतंत्रवादी दलों की शक्ति का मूल उन लोगों के ऊपर उनका नियंत्रण है जो अभी किसी क्रांतिकारी नेतृत्व का अनुसरण करने के लिए तैयार नहीं हैं। साम्यवादी इन लोगों को अपने पक्ष में कर लेना अपना एक प्रमुख कार्य समझता है। यही कारण है कि वह संयुक्त मोर्चे के सिद्धांत का प्रचार करता है। लेकिन चूँकि, उसके प्रचार का उद्देश्य उन संगठनों पर जिन्हें वह सहयोग के लिए आमंत्रित करता है, अधिकार जमा लेना है, अतः उसके आमंत्रण को निसर्गतः अस्वीकार कर दिया जाता है। संयुक्त मोर्चे का सिद्धांत जनता का अपने सामाजिक लोकतंत्रवादी नेताओं में विश्वास कम नहीं करता चाहे यह विश्वास कितना ही गलत क्यों न हो। सही हो या गलत, मजदूर अपनी संस्थाओं के विनाश में सहयोग देना अस्वीकार कर देते हैं।

इस दृष्टिकोण की अनुपयुक्तता जर्मनी के अनुभव में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वहाँ साम्यवादी दल ने इस सिद्धांत के अनुसार आचरण किया कि सामाजिक लोकतंत्र सामाजिक फासिज्म है। इस सिद्धांत के आधार पर ही उसने जर्मनी के मजदूर वर्ग की एकता को भंग कर दिया। उसने इस नीति के अनुसार ही नीचे से एक संयुक्त मोर्चे के निर्माण का प्रयास किया। उसने सामाजिक लोकतंत्रवादियों के नेतृत्व की प्रबल आलोचना की। वीमर शासन के अंतिम दिनों में उसे उसके साथ मेल की आवश्यकता थी। लेकिन, उस समय तक उन दोनों के बीच ऐसी कटुता पैदा हो गई थी कि वे हिटलर के विरुद्ध किसी भी गम्भीर प्रतिरोध का संगठन न कर सके। इस सिद्धांत ने विनाश कर दिया क्योंकि यह धारणा कि सामाजिक लोकतंत्रवादी फासिस्ट थे, गलत थी। साम्यवादी यह नहीं समझ सके, यह उस समय और भी विचित्र

मालूम पड़ता है, जब हम यह स्मरण करते हैं कि वीमर शासन के अंतिम दिनों में ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जो मजदूर वर्ग की संयुक्त कार्यवाही के बड़ी अनुकूल थीं। जब हिटलर के शक्ति प्राप्त करने के उपरांत कम्युनिस्ट इंटर-नेशनल ने अपनी सहायक संस्थाओं से यह कहा कि वे फासिज्म के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही के उद्देश्य से सामाजिक लोकतंत्रवादी दलों के साथ सहयोग करें, तब आवश्यकता से अधिक विलम्ब हो चुका था। उस समय वह सामाजिक लोकतंत्रवादी संगठनों की आलोचना से विरत होने के लिए तैयार था। लेकिन, उसने पहले के चौदह वर्षों में सामाजिक लोकतंत्रवादी दलों की जो तीव्र निंदा की थी, उसके फलस्वरूप वह विश्वास नष्ट हो गया था जो फासिज्म के प्रतिरोध को प्रभावी बना सकता था।

इस भूल का एक अन्य निष्कर्ष और आवश्यक है। पूँजीवादी लोकतंत्र और फासिस्ट राज्य में एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि पूँजीवादी लोकतंत्र में श्रमिक वर्ग की संस्थाओं को नष्ट नहीं किया जाता। जब वे अपने उद्देश्यों के ऊपर किसी आक्रमण की चेष्टा के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना कर कार्य करती है, तब उनका विनाश काफी कठिन हो जाता है। लेकिन जब उनमें न केवल फूट ही हो प्रत्युत हिटलर पूर्व जर्मनी की तरह एक दूसरे के प्रति ऐसा ही विरोध भाव हो जैसा कि उनका अपने सामान्य शत्रु के प्रति होता है तो समस्त सामान्य परिस्थितियों में उनकी पराजय अवश्यम्भावी हो जाती है। इसके कारण उनकी अपनी शक्ति तो कम हो ही जाती है; इसका एक अतिरिक्त परिणाम यह भी निकलता है कि उनके वाद-विवाद से मजदूरों की एक बहुत बड़ी संख्या उनसे विमुख हो जाती है और वह यह समझने लगती है कि उनमें से कोई भी उनके विश्वास का अधिकारी नहीं है। यदि ये लोग हजारों जर्मन मजदूरों की भाँति फासिज्म के आकर्षक नारों से प्रभावित नहीं होते, तो ये लोग राजनीति से उदासीन अवश्य ही हो जाते हैं और इस प्रकार परोक्ष रीति से फासिज्म को शक्ति प्रदान करते हैं। इसलिए, जब फासिज्म पूँजीवादी लोकतंत्र पर आक्रमण करता है, इस आक्रमण का प्रतिकार करने के लिए प्रतिरोध की शक्ति को पूँजीभूत करना असंभव हो जाता है। सामाजिक फासिज्म के सिद्धांत के अनुसार, यदि किसी समाज के कर्मठ श्रमिक वर्ग में गम्भीर फूट होती है, तो इस वर्ग की पराजय लड़ाई प्रारम्भ होने के पूर्व ही निश्चित हो जाती है।

इस प्रकार के दृष्टिकोण का औचित्य केवल यही सिद्धांत हो सकता है कि फासिस्ट राज्य का एक ऐसा आवश्यक अनुभव है जिसे श्रमिक वर्ग को अपने विरोधियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के उद्देश्य से अवश्य ही प्राप्त

करना चाहिए। कहने का सार यह है कि उसे फासिज्म द्वारा क्रांतिकारी कार्यवाही की आवश्यकता की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। लेकिन, यह तो प्रायः ऐसी ही भूल है जिसके लिए लेनिन ने मेन्शेविकों को दोषी ठहराया था। उनका कहना था कि यदि रूस समाजवाद को प्राप्त करना चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह पहले पूंजीवाद को प्राप्त कर ले। वे यह नहीं समझ सके कि रूस में ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जो फरवरी-क्रांति से नवम्बर-क्रांति का मार्ग बिल्कुल सीधा और सरल कर रही थीं। क्रांति के दौरान में वास्तविक प्रश्न शक्तियों के उचित उपयोग का होता है। जर्मनी में संयुक्त श्रामिक वर्ग मार्च १९३३ में पराजित हो सकता था। लेकिन यदि वह लड़ने की स्थिति में होता और यदि उसे उचित नेतृत्व मिल जाता, तो वह हिटलर की सफलता की संभावना को नष्ट कर सकता था। यह बात ऐसे प्रत्येक पूंजीवादी लोकतंत्र के विषय में कही जा सकती है जिसने कि आपसी मतभेदों के द्वारा अपनी शक्ति को पहले से ही नष्ट न कर लिया हो। लेकिन, इस मतभेद के बीज उस समय सबसे अधिक पड़ते हैं जब कि श्रमिक वर्ग का पर्याप्त अंश सामाजिक फासिज्म के सिद्धांत को स्वीकार कर लेता है। यह प्रकट करता है कि सामाजिक लोकतंत्रवादी उस समय भी वैधानिकवाद में विश्वास रखते हैं जबकि यह विश्वास उनके विरोधियों द्वारा बिल्कुल निष्फल प्रमाणित कर दिया गया हो। यह क्रांतिकारी उपायों में साम्यवादी के विश्वास को ऐसी ही दृढ़ता के साथ पुष्ट करता है जैसी दृढ़ता के साथ सामाजिक लोकतंत्रवादी वैधानिकवाद का प्रचार करता है। उनके बीच मतभेद तीव्र होता जाता है और इसके फलस्वरूप फासिज्म की विजय सुगम हो जाती है।

इस विवेचन की सत्यता क्रांति के दौरान में उस समय की लेनिन की नीति से स्पष्ट हो जाती है जब कि कोर्निलोव ने सत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया था। उस समय लेनिन स्वयं छिपा हुआ था; ट्राट्स्की एवं बोल्शेविक दल के दूसरे नेता जेल में थे। यही नहीं। लेनिन को करेन्सकी जिसके विरुद्ध कोर्निलोव विद्रोह कर रहा था उस पूंजीवादी शासन का प्रतीक मालूम पड़ता था जिसको नष्ट करने के लिए वह विकल था। लेकिन, लेनिन ने अपने दल से निस्संकोच यह प्रार्थना की कि उसे करेन्सकी की पूरी सहायता करनी चाहिए। उसने यह समझ लिया था कि उनके मतभेद बोल्शेविकों के भविष्य के लिए आवश्यक हैं। वह करेन्सकी की सरकार का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं था, लेकिन वह यह समझता था कि यदि कोर्निलोव ने उसे नष्ट कर दिया,

तो श्रमिक वर्ग की विजय की संभावना बहुत कम हो जायेगी। उसके विचार से श्रमिक वर्ग की विजय तभी हो सकती थी जब कि कोर्निलोव नष्ट हो जाता। कोर्निलोव की विजय के परिणामस्वरूप तो फरवरी-क्रांति भी समाप्त हो सकती थी। इससे क्रांति का सम्पूर्ण घटना-चक्र ही बदल सकता था और रूस के पूँजीपति अपनी सत्ता की पुनर्प्रतिष्ठा कर सकते थे।

पूँजीवादी लोकतंत्र में भी यही होता है, जबतक उसकी संस्थाएँ विद्यमान हैं, श्रमिक वर्ग एकता बनाए रखने पर ऐसी स्थिति में होते हैं कि वे पहल कर सकें। जहाँ एक बार इटली और जर्मनी की भाँति ये संस्थाएँ नष्ट हुईं, आक्रमण करने की शक्ति उनके विरोधियों के हाथों में आ जाती है। इसलिए श्रमिक वर्गों में फूट डालने का अर्थ उनको भ्रमित कर देना है। सामाजिक लोकतंत्र के साथ उस ढंग से लड़ने का परिणाम जिस ढंग से साम्यवादी लड़े हैं, यह होता है कि मजदूरों का समाजवाद में विश्वास कम हो जाता है लेकिन वे साम्यवाद के अनुयायी नहीं बन पाते। यदि साम्यवादी समाजवादी मोर्चे के साथ बने रहते, तो श्रमिक आन्दोलन के दोनों पक्ष अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध कोई संयुक्त कार्यवाही कर सकते थे। वर्तमान स्थिति में उनमें से प्रत्येक दो मोर्चों पर लड़ रहा था और उसे यह ज्ञान नहीं था कि उसका कौनसा विरोधी वृणा का सर्वश्रेष्ठ पात्र था। एकता का एकमात्र मार्ग सामाजिक फासिज्म के सिद्धांत को त्याग देना था। इससे सामाजिक लोकतंत्र और साम्यवाद-दोनों ही अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध मिलकर लड़ सकते थे। संकट का समय आने पर साम्यवादी जनता को सक्रिय नीति के पक्ष में कर सकते थे। लेकिन उनकी नीति ने सक्रियता की संभावना को आवश्यक होने के पूर्व ही नष्ट कर दिया था। उनके सामाजिक लोकतंत्र सम्बन्धी सिद्धांत ने उस विश्वास को नष्ट कर दिया था जो सहयोग का वास्तविक आधार है। जब कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने १७ मार्च, १९३३ को अपने सम्बद्ध दलों से यह कहा कि वे फासिज्म के विरुद्ध सामाजिक लोकतंत्रवादियों के साथ मिलकर काम करें, तब चौदह वर्षों की देरी हो चुकी थी।

मेरा विचार है कि उक्त विवेचन का निष्कर्ष स्पष्ट है। रूसी क्रांति की सफलता रूसी क्रांति की परिस्थितियों में ही दुहराई जा सकती है। यदि ये परिस्थितियाँ नहीं हैं तो श्रमिक वर्ग तभी शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जबकि वे अपने समस्त मतभेदों के बावजूद एकता के सूत्र में ग्रथित रहें। कारण यह है कि उनकी वास्तविक शक्ति उनकी एकता में है। जहाँ वे अपनी यह एकता खो देते हैं, उनके विरोधी उनके मतभेदों से लाभ उठा कर उन्हें

पराजित कर सकते हैं। यदि वग़न पेपेन के विरुद्ध १९३२ में एक जोरदार आम हड़ताल हो जाती, तो वह उसे अपदस्थ तथा उसके साथ ही साथ हिटलरवाद का विनाश कर सकती थी। लेकिन आम हड़ताल की अपील साम्यवादियों ने की थी और यद्यपि वह एक सही नीति थी लेकिन सामाजिक लोकतंत्रवादियों ने उसकी निंदा की क्योंकि उन्हें साम्यवादियों में बिल्कुल विश्वास नहीं था यद्यपि सामाजिक लोकतंत्र के सामान्य अनुयायी इस प्रकार की कार्यवाही के लिए तय्यार थे, लेकिन इस तथ्य ने कि उसका आवाहन साम्यवादियों की ओर से आया था, उन्हें अपने नेताओं का दृष्टिकोण मानने के लिए प्रेरित कर दिया। वे इसके अतिरिक्त और सोच भी क्या सकते थे जबकि साम्यवादी नेताओं ने स्वयं ही यह बार-बार कहा था कि दोनों दलों के नेतृत्व में कुछ आधारभूत अन्तर हैं, उनमें कभी मेल नहीं हो सकता, और हम “सामाजिक लोकतंत्रात्मक नीति, सामाजिक लोकतंत्रात्मक दल एवं उसके प्रतिनिधियों के विरुद्ध संघर्षरत हैं।”

संकट बड़ा विकट है। जबतक राज्य का संगठन बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाता, श्रमिक वर्ग अपनी संस्थाओं की अखंडता को बनाए रखकर ही शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन यदि उनके अन्दर ऐसे मतभेद रहते हैं जो रूसी क्रांति के पश्चात् साम्यवाद ने उत्पन्न कर दिए हैं, तो वे यह नहीं कर सकते। इसलिए, श्रमिक वर्ग की एकता को कायम रखने का एकमात्र उपाय यह है कि इन संस्थाओं की हर मूल्य पर रक्षा की जाये और घटनाओं के दबाव का कुछ इस प्रकार उपयोग किया जाये कि वे संतोषप्रद नीति का पालन कर सकें। यदि इसके अतिरिक्त अन्य कोई पद्धति अपनाई जाती है तो वह क्रांति के साथ खिलवाड़ करना होगा जिसके सम्बन्ध में मार्क्स ने श्रमिक वर्ग को बड़े नपे-तुले शब्दों में चेतावनी दी थी। संकट के काल में पूँजीवादी लोकतंत्र का संतुलन ही कुछ ऐसा अस्थायी होता है कि उसका सुगमता से नाश किया जा सकता है। पूँजीवादी लोकतंत्र के विनाश में सबसे अधिक कारगर मजदूरों की यह अनिश्चितता होती है कि हम किस दिशा में कार्य करें। जहाँ एक बार ऐसा हुआ, वह सेना की भाँति ही आत्म-विश्वास खो देती है। वह कार्य करने के उचित अवसर को चूक जाती है। उसकी शक्ति उसी समय अवरुद्ध हो जाती है जब कि उसे इस शक्ति की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। चूँकि राज्य का मुख्य तत्व उसके उद्देश्यों के क्रियान्वीकरण को रोकने के लिए शक्ति का उपयोग करना है, अतः फूट के द्वारा उसके संकल्प-नाश का परिणाम स्वयं उसका विनाश है। आस्ट्रिया का उदाहरण यह प्रकट करता है कि १९१७ की सी अराजकता

की स्थिति न होने पर सशस्त्र मजदूरों की सफलता की संभावना कितनी कम हो जाती है। लेकिन, आस्ट्रिया में, श्रमिक दल में कम से कम एकता तो थी। लेकिन, जब जर्मनी की भाँति आंतरिक संघर्ष आत्म-विश्वास को नष्ट कर देता है, मजदूरों की पराजय लड़ाई प्रारम्भ होने के पूर्व ही निश्चित हो जाती है।

(४)

इतिहास से यह प्रकट हो जाता है कि राज्य पर अधिकार प्राप्त करना एक दुस्तर कार्य है। इस कार्य की सफलता के लिए आक्रामक शक्तियों में ऐसी एकता होनी चाहिए जिसे न तो व्यक्ति ही और न सिद्धांत ही नष्ट कर सकें। क्रॉमवेल की क्रांति का इतिहास यही बताता है। जहाँ एक बार उसके समर्थकों में मतभेद पैदा हुआ, चार्ल्स द्वितीय के वापस आने का मार्ग तैयार हो गया। फ्रांस की क्रांति में भी यही हुआ था। नैपोलियन उसका उत्तराधिकारी बना क्योंकि अभिजात-वर्गीय विशेषाधिकार नष्ट हो जाने के पश्चात् क्रांति के प्रेरणाओं में मतैक्य नहीं रह गया था। हमारे काल में भी आधारभूत परिवर्तन की परिस्थितियाँ उपस्थित हैं परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि हम उनका सदुपयोग नहीं कर पायेंगे। इसका कारण यह नहीं है कि हम में उद्देश्यों के बारे में कोई मतभेद है। इसका वास्तविक कारण यह है कि हम में उन उपायों के सम्बन्ध में मतभेद है जिनके द्वारा हम इन उद्देश्यों को प्राप्त कर सकते हैं।

मेरा कहना है कि वे परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जो आधारभूत परिवर्तन करती हैं। हमारे समाज के वर्ग-सम्बन्ध ऐसे हो गए हैं कि हम उत्पादन की समस्त क्षमताओं का पूरा सदुपयोग नहीं कर सकते। भूतकाल में इस प्रकार की स्थिति से सदैव ही आगामी आधारभूत परिवर्तन की सूचना मिली है। हमारे साहित्य ने अब एक ऐसे दौर में पदार्पण किया है जहाँ परम्परागत मूल्यों का आलोचनात्मक परीक्षण होता है। रिफॉर्मेशन और रोमांटिक आंदोलनों के समय में यह स्थिति सदैव ही संक्रांति की वैतालिक हुई थी। हमारे शासक-वर्ग का अपने आप पर विश्वास नहीं रहा है। जो व्यवस्था अपने आपको सुरक्षित अनुभव करती है, उसमें सहिष्णुता की प्रवृत्तियाँ होती हैं। वर्तमान व्यवस्था में ये प्रवृत्तियाँ एक पीढ़ी पूर्व अवश्य पायी जाती थीं; आज नहीं पायी जातीं। उन्नीसवीं शताब्दी में लोग अपने मतभेदों को विवेक की शक्ति द्वारा न्यायपूर्वक सुलझाने के लिए जिस प्रकार उत्सुक रहते थे, आज नहीं हैं। चूँकि, विचारों को अपने आप पर भरोसा नहीं होता, अतः वह बड़ी शीघ्रता से शस्त्र धारण करने लग जाते हैं। आज

अस्वीकृतिवाली शक्तियाँ स्वीकृतिवाली शक्तियों से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई हैं। हमारा विज्ञान की शक्ति में विश्वास था लेकिन अब यह प्रकट हो गया है कि यदि विज्ञान को उन प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाता जिन पर मनुष्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एकमत है, तो वह एक सामाजिक संकट सिद्ध हो सकता है। एक समय धर्म बांधनेवाली शक्ति था। लेकिन एक ओर तो विज्ञान की खोजों ने और दूसरी ओर उसकी विशेषाधिकारसम्पन्न व्यक्तियों के प्रति आश्रितता ने मनुष्यों का उसके अंदर विश्वास घटा दिया है। हमें भरोसा था कि ऐश्वर्यपरायण समाज इतना धन उपार्जित कर सकता है कि विभाजन का कोई संतोषप्रद सिद्धांत निकल सके। हमने खोज केवल यह की है कि ऐश्वर्यपरायण समाज में विभाजन का ऐसा कोई न्याय्य सिद्धांत नहीं निकल सकता जिसे कि जनसाधारण न्याययुक्त समझेंगे। हमने इस बात का प्रयास किया था कि हम जनसाधारण को रियायतें दे देकर न्याय की मुद्रा बनाए रखें लेकिन हम यह समझ गए हैं कि हमारी व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि हम अपने युग के आधारभूत प्रश्न को अधिक समय तक नहीं टाले रख सकते।

इस प्रश्न को सरल ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। थोड़े से व्यक्तियों के विशेषाधिकारों पर आधारित विषम समाज अपनी सत्ता को या तो सहमति द्वारा या शक्ति द्वारा ही बनाए रख सकता है। वह सहमति उसी समय प्राप्त कर सकता है जब कि वह उन व्यक्तियों को जो विशेषाधिकारों से वंचित हैं, निरंतर यह आशा दिला सके कि वह उनकी दशा में सुधार कर सकता है। उन व्यक्तियों को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि हम सुरक्षा और आशा दोनों ही प्राप्त कर सकते हैं। जब विशेषाधिकारों का शासन विस्तार करता है, यह प्रक्रिया संभव हो सकती है। इस शासन के परिणामों को इसलिए चुनौती नहीं मिलती क्योंकि नागरिकों के विशाल समुदाय को उसकी सफलताएँ उसके अचित्य को स्वतःसिद्ध करती प्रतीत होती हैं।

लेकिन जैसे ही यह शासन एक ऐसे चरण में पदार्पण करता है जहाँ संकट के कारण न तो आशा ही रहे और न सुरक्षा, वहाँ यह अपरिहार्य है कि कुछ गम्भीर कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। मनुष्य उसकी सफलताओं को भूल जाते हैं क्योंकि वे उनके स्थगित हो जाने पर क्रुद्ध होते हैं। वे बुनियादों का परीक्षण करने लगते हैं। वे उन नियमों और विचारों के लिए युक्तियाँ माँगने लगते हैं जो तर्कसंगत अथवा न्यायपूर्ण होने की अपेक्षा अभ्यासजन्य ही अधिक होती हैं। शिकायतें बढ़ जाती हैं और उग्र हो जाती हैं। लोग यह माँग करने लगते

हैं कि वे रियायतें जो भूतकाल में बिना किसी संकोच अथवा प्रयास के दी जा सकती थीं, चालू रहनी चाहिए। लेकिन संकट के युग में इन रियायतों को स्वीकार करने का अर्थ विशेषाधिकारसम्पन्न व्यक्तियों से इच्छापूर्वक अपने विशेषाधिकारों को त्यागने के लिए कहना है। पहले जो युक्तिसंगत मालूम पड़ता था, वह अब विनाशकारी मालूम पड़ने लगता है। पहले जो एक विचारणीय प्रश्न मालूम पड़ता था, वह अब शांति और व्यवस्था के लिए खतरा मालूम पड़ने लगता है। जिन लोगों की इस शासन में तूती बोलती है, वे प्रस्तुत की गई माँगों को पूरा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करने लगते हैं। वे सुधारकों को क्रांतिकारी मानने लगते हैं; वे कहते हैं कि क्रांतिकारी समाज के शत्रु हैं। वे अपने विरोधियों को नष्ट करने के लिए राज्य की बलप्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करते हैं। सत्ताधीश व्यक्ति भयभीत हो जाते हैं और जब लोग एक बार डर जाते हैं तो वे, केवल अतिवादी लोगों की बातों की ओर ही ध्यान देते हैं। ऐसी स्थिति में विशेषाधिकारसम्पन्न व्यक्ति उन लोगों का सहारा पकड़ते हैं जो क्रांतिकारी कार्यवाही के द्वारा राज्य की परम्परागत शक्ति को प्रतिष्ठित करने का वचन देते हैं। उग्रवाद से उग्रवाद पैदा होता है और शक्तिशाली विरोधियों के संघर्ष में युक्तिसंगत समझौते की संभावना नष्ट हो जाती है।

मेरे विचार से हमारे सामने यही स्थिति है। हम पिछली तीन शताब्दियों से एक ऐसे राज्य का निर्माण करते आ रहे हैं जो एक ऐश्वर्य-परायण समाज के प्रयोजनों को पूरा करता है। इन प्रयोजनों ने उसकी समस्त संस्थाओं को आच्छादित कर रखा है। इन प्रयोजनों ने ऐसे वर्ग-सम्बन्धों को उत्पन्न कर दिया है जिनकी रक्षा करने के लिए उसके धर्म, उसके कानून, उसकी सशस्त्र सेनाएँ, उसकी सिविल सर्विस, उसकी विधान-प्रक्रिया, उसकी शिक्षा-संस्थाएँ—ये सभी समान रूप से प्रयत्नशील हैं। लेकिन, इन वर्ग-सम्बन्धों की सीमाओं में अब उन व्यक्तियों की आकांक्षाएँ पूरी करना संभव नहीं है जो केवल अपने परिश्रम की कमाई से जीवित रहते हैं। जब हमारा पूँजीवादी समाज अपने विस्तार की अवधि में था, इन लोगों को रियायतें देकर संतुष्ट किया जा सकता था। आज इन लोगों की माँगें इतनी बढ़ी हुई हैं कि यदि उनकी पूर्ति कर दी जाती है तो सत्ताधीश व्यक्तियों की सत्ता को ही चोट पहुँचेगी। अपने अधिकारों की रक्षा करने के विचार से सत्ताधीश व्यक्ति उन संस्थाओं की बुनियादों पर आक्रमण करने लगते हैं जिनके माध्यम से भूतकाल में रियायतें दी जा सकती थीं। पूँजीवादी व्यवस्था के सामने यह संकट खड़ा हो जाता है कि उसे इन दो मार्गों में से एक अपनाना

पड़ता है—या तो उसे समतायुक्त समाज की ओर आगे बढ़ना होता है या उसे एक ऐसी समाज-व्यवस्था की ओर पीछे लौटना पड़ता है जिसमें कि जनसाधारण को अपने व्यक्तित्व की गरिमा से हाथ धोना पड़ता है ।

इस संकट में सम्पत्ति के स्वामी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए राज्य की शक्ति का आश्रय लेते हैं । वे ऐसा क्यों न करें ? तीन सौ वर्षों के इतिहास ने उन्हें यही सिखाया है कि है वे ऐसा करने के अधिकारी हैं । उन्होंने भूतकाल में युद्ध और क्रांति के द्वारा सत्ता प्राप्त की थी । नैतिकता की दृष्टि से उन्हें अपने पक्ष की सत्यता में कोई संदेह नहीं था । उनकी दृष्टि में यह चुनौती औसत, असफल, अयोग्य, अर्द्धजीवित और रूढ़िवादी व्यक्तियों की चुनौती है । और, यह चुनौती किनके लिए है ? यह उनके लिए है जिन्होंने समाज में अपना स्थान अपनी योग्यता, शक्ति और पुरुषार्थ के द्वारा बनाया है । कानून उनके पक्ष में है । वे मनुष्यों को यह मानने के लिए प्रेरित करना अपना अधिकार समझते हैं कि भूतकाल की प्रवृत्तियों में एक शाश्वत व्यवस्था के नियम निहित हैं । वे अज्ञात और अपरीक्षित के उस भय की दुहाई दे सकते हैं जो दुर्बल और जड़ व्यक्तियों की निष्ठा जाग्रत करने में कभी असफल नहीं हुआ है । उनमें आदेश देने की वह शक्ति है जो वर्षों के अनायास अभ्यास से उत्पन्न होती है । वे यह जानते हैं कि वह शासन-प्रणाली जिसके मनुष्य अभ्यस्त हो जाते हैं ऐसा घनिष्ठ और प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न कर देती है, जिससे उन्हें सुगमता अलग नहीं किया सकता । वे जनसाधारण की अनुभवशून्यता देखते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जिस असंतोष का उन्हें सामना करना पड़ रहा है वह उन दुष्ट और ईर्ष्यालु व्यक्तियों का कार्य है जिन्हें किसी भी उचित अवसर पर कठोर कार्यवाही के द्वारा नष्ट किया जा सकता है । वे यह नहीं मानते कि उनका समय व्यतीत हो चुका है । उनके विचार से संकट अस्थायी है और उसे थोड़े से प्रयत्नों द्वारा दूर किया जा सकता है । उनका कहना है कि हमारी व्यवस्था तो बिल्कुल ठीक है, उसमें केवल जहाँ-तहाँ थोड़े से सुधार करने की आवश्यकता है ।

पुरातन शासन-व्यवस्था के अंतिम दिनों में लुई सोलहवें का यही विचार था । जार-वंश के अंतिम समय में निकोलस तृतीय की यही धारणा थी । लेकिन दोनों ही गलती पर थे । वे यह नहीं समझ सके कि उनकी शासन-व्यवस्था उस आधारभूत परिवर्तन के मार्ग में एक रोड़ा थी जो अब अपरिहार्य हो गया था । आंदोलनकर्त्ता जनता को उस समय तक प्रभावित नहीं कर सकता जबतक कि उसकी शिकायतें ऐसी शिकायतें न हों जिन्हें दूर करने के लिए

जनता विशेष रूप से उत्सुक हो। शिकायतें उस समय तक हिंसा का आश्रय नहीं लेतीं जबतक कि वे जनता के कष्ट-सहन का परिणाम नहीं होतीं। शिकायतें दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि अनवरत सुधार की नीति अपनाई जाये। लेकिन यदि इस नीति का व्यय और विस्तार शासन-व्यवस्था के प्रतिकूल पड़ता है, तो उस पर आचरण नहीं हो सकता। हम सामंतवादी राज्य से उन्नीसवीं शताब्दी की स्वतंत्र वाणिज्य-व्यवस्था के लिए आवश्यक सुधार नहीं पा सकते थे क्योंकि एक के निष्कर्ष दूसरे की आवश्यकताओं के बिल्कुल प्रतिकूल पड़ते थे। प्रकट ऐसा होता है कि हम पूंजीवादी समाज से उन सिद्धांतों की स्वीकृति नहीं पा सकते जो समाजवाद की स्थापना के लिए आवश्यक हैं। इस मांग का अर्थ तो पूंजीपतियों से अपने पैरों पर अपने आप कुल्हाड़ी मारने के लिए कहना है। पश्चिमी सभ्यता में कोई भी वर्ग उन विशेषाधिकारों को त्यागने के लिए प्रस्तुत नहीं है जिनकी रक्षा के लिए उसने राज्य का संगठन किया है।

वह ऐसा क्यों करे, जब कि उसे अपनी न्यायपरायणता में पूरा विश्वास है? हिटलर और मुसोलिनी, अमेरिकी आर्थिक साम्राज्य के महान् नियंता, इंग्लैण्ड के औद्योगिक स्वामी—इन सभी का यह दृढ़ विश्वास है कि यदि वे अपनी सत्ता को त्याग देते हैं, तो इससे समाज को अपरिमित हानि पहुँचेगी। उनके हृदय में बहुमत के शासन के प्रति कोई सम्मान नहीं है। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि उसका निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है। वे विवेक के परिणामों का मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे इस बात का आग्रह करते हैं कि उन्हें उन सीमाओं को निर्धारित करने की शक्ति है जिनके अंदर विवेक का संचरण होना चाहिए। वे इन सीमाओं को कुछ इस प्रकार निर्धारित करते हैं जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर उनकी वैधता के परीक्षण को रोकने के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सके। कहने का सार यह है कि वे एक ऐसा खेल खेलते हैं जिसके नियमों को निश्चित करने का अधिकार स्वयं उन्हीं को है। वे इन नियमों को कुछ इस रीति से निश्चित करते हैं जिससे कि उन व्यक्तियों को जो इन नियमों पर संदेह करते हैं, खेल से वंचित किया जा सकता है।

पूंजीपतियों के लिए राज्य-शक्ति के अधिकार का यह अर्थ है। यदि उनके किसी विशेषाधिकार को चुनौती मिलती है, तो वे उसकी रक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। यदि कभी कोई हड़ताल होती है जैसी कि १९३४ की शर्द्ध ऋतु में अमेरिका में वस्त्र-उद्योग के मजदूरों ने की थी तो स्थानीय

नेताओं को गिरफ्तार करके जिससे कि श्रमिक संघों और उसके सदस्यों में सम्पर्क टूट जाये, उसे रोका जा सकता है।^१ यदि मजदूर युद्ध के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, तो कानून कहता है कि ऐसे शब्दों का उच्चारण जिससे कि शत्रु को सहायता और आराम पहुँचता हो, एक अपराध है। इस सूत्र के अन्तर्गत विरोध करने वाले व्यक्तियों को जितना चाहे, दंड दिया जा सकता है। वे खेल के नियमों का ही निर्माण करने में राज्य की शक्ति का प्रयोग नहीं करते। उनका समाचार-पत्रों पर नियंत्रण होता है और समाचार-पत्रों पर नियंत्रण रखने की शक्ति का बड़ा व्यापक प्रभाव है। ब्रॉडकास्टिंग का नया हथियार भी उनके हाथों में रहता है। संकट के दिनों में वे उसका विशेष रूप से उपयोग कर सकते हैं। उनका विद्यालयों पर भी अधिकार होता है। इसके द्वारा वे नई पीढ़ी के मस्तिष्क को उन सिद्धांतों को स्वीकार करने के लिए तैयार कर सकते हैं, जिनको वे आरोपित करना चाहते हैं।

इन परिस्थितियों में, केवल दो दशाओं को छोड़कर, उनकी सत्ता को जोरदार चुनौती मिलने का खतरा बहुत कम है। एक तो यह चुनौती युद्ध की असफलता के पश्चात् मिल सकती है जब कि पराजय और निराशा ने राज्य के प्रति सामान्य आदर घटा दिया हो। दूसरे यह उस समय मिल सकती है जब कि राज्य ने लोगों की परम्परागत प्रत्याशाओं को इस प्रकार भंग कर दिया हो कि उनकी उसमें निष्ठा न रहे। इन स्थितियों के अतिरिक्त एक सरकार, जो प्रत्येक मूल्य पर राज्य-शक्ति को बनाए रखने के लिए दृढसंकल्प है, यदि वह नीति विषयक कोई महाभयंकर भूल नहीं करती, तो अवश्य ही ऐसा कर सकती है। यह बात पिछले तीन सौ वर्षों की अपेक्षा आज हमारे युग में अधिक सत्य है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि आधुनिक राज्य के पास एक संगठित सेना होती है जो किसी भी संघर्ष में असंगठित जनता की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगी। इसका दूसरा कारण यह है कि जो लोग राज्य पर अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, उनके पास क्रांति के आवश्यक उपकरण, हवाई जहाज, विपाक्त गैसों, गोला-बारूद और मशीन गनों आदि आवश्यक मात्रा में नहीं हैं। आस्ट्रिया और स्पेन का अनुभव यह स्पष्ट कर देता है कि कोई भी क्रांति उस समय तक सफल नहीं हो सकती जबतक कि राज्य की सेनाएँ या तो उसकी ओर न हों, या वे बिल्कुल निष्पक्ष न रहें।

इन कारणों से मुझे यह निष्कर्ष ठीक ही मालूम पड़ता है कि वह वर्ग, जिसके हाथ में राज्य की शक्ति है, उसे नहीं त्यागेगा यदि उसके त्यागने का अर्थ

विशेषाधिकारों को त्यागना होता है। आवश्यकता पड़ने पर वह सुधार अवश्य करेगा लेकिन सुधारों से भी उसके विशेषाधिकारों के ऊपर कोई आघात नहीं पहुँचना चाहिए। वह सुधार भी उस समय करेगा जब कि रियायतें बिना किसी विशेष त्याग के दी जा सकती हैं। अन्यथा, शासक-वर्ग लड़ेगा और वह इस विश्वास के साथ लड़ेगा कि न्याय उसके पक्ष में है। यदि यह संघर्ष पूँजीवादी लोकतंत्र के अन्दर होता है और लोकतंत्रात्मक व्यवस्था पूँजीवाद की बुनियादों के साथ हस्तक्षेप करती है, तो आर्थिक शक्ति के स्वामी लोकतंत्रात्मक व्यवस्था को कुचल डालेंगे। और, जैसा कि मैंने संकेत किया है, कुछ असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर, वे उसे कुचलने के अपने इस प्रयास में सफल ही होंगे।

उक्त विवेचन का यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि सहमति द्वारा शासन का विकल्प नग्न अधिनायकवाद है। मुझे यह मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि वह काफी समय तक नहीं रहेगा। मैं यह नहीं समझ सकता कि जो लोग अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को खोने के लिए तय्यार हो जायेंगे, वे आधुनिक परिस्थितियों में उसकी विजय के लिए अपने को किस प्रकार संगठित कर सकते हैं। यह ठीक है कि अधिनायकवाद आगे चलकर अपनी जनता को संतुष्ट नहीं कर सकता और इस प्रकार अपने आपको नष्ट कर लेता है, लेकिन यह तो काफी समय बीतने पर ही होता है। यह सही है कि हमारे समय में जर्मनी अथवा इटली जैसे वे स्वेच्छाचारी राज्य जो पूँजीवाद के वर्ग-संगठन को बनाए रखना चाहते हैं, उग्र विदेश नीति का आश्रय लेते हैं। इसका परिणाम युद्ध होता है। लेकिन जहाँ असफल होने के कारण अधिनायकवाद को नष्ट कर दिया जाता है, युद्ध के परिणामस्वरूप लोकतंत्र की स्थापना नहीं होती और श्रमिक अधिनायकवाद की तो कदापि नहीं।

युद्ध के परिणामस्वरूप लोकतंत्र की स्थापना इसलिए नहीं होती क्योंकि स्वेच्छाचारी शासन के नष्ट हो जाने के कारण जो अस्त-व्यस्तता फैल जाती है, उसे लोकतंत्र के उपायों द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। रूस, स्पेन, आस्ट्रिया और जर्मनी सबकी यही शिक्षा है। अधिनायकवाद के पतनोपरांत जो शिथिलता आ जाती है, उसके निवारण के लिए एक वैकल्पिक शक्तिशाली शासन की आवश्यकता होती है। अधिनायकवाद की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह समझौते और सहयोग की उन प्रवृत्तियों को नष्ट कर देता है जिनके ऊपर लोकतंत्र का सफल संचालन निर्भर है। यदि कहीं स्पेन और जर्मनी की भाँति लोकतंत्र की स्थापना भी होती है, तो उसकी अविच्छिन्नता की शर्त यही है कि वह परराज्यतन्त्र आशाओं को विशेष चोट पहुँचाए बिना

ही ऐसी समृद्धि प्राप्त करे जिससे कि बड़े-बड़े सुधार हो सकें। यदि ऐसा नहीं होता जैसा कि जर्मनी और स्पेन में नहीं हुआ था, तो वे वर्ग जिनके व्यय पर बड़े-बड़े सुधार होते हैं, समय व्यतीत होने के साथ ही साथ धैर्यहीन होते जाते हैं। वे अपनी हानि के लिए लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था को दोषी ठहराने लगते हैं। फलतः, लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था कुछ के लिए तो घृणा की और कुछ के लिए उपेक्षा की पात्र बन जाती है। यह प्रति-क्रांति का सीधा मार्ग है। तब संकट का एक ऐसा वातावरण पैदा होने लगता है जिसमें असाधारण विधान आवश्यक हो जाता है। यदि उसे प्रभावी किया जाता है, तो शासन के कट्टर विरोधी निराश उपायों का आश्रय लेते हैं। यदि उसे प्रभावी नहीं किया जाता तो, तो भी उससे लोकतन्त्र की दुर्बलता प्रकट हो ही जाती है और उसके विरोधियों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे उसको नष्ट करने के अपने प्रयत्न तीव्र कर दें। मेरे विचार से वीमर गणराज्य की दुर्बलता ने उसके संगठित विरोधियों को यह विश्वास दिला दिया था कि उसकी बुनियादें इतनी कमजोर हैं कि उन्हें नष्ट किया जा सकता है। यदि एवर्ट और उसके साथी दक्षिण-पक्ष के समर्थकों के साथ भी इतनी ही कठोरता का व्यवहार करते जितनी कठोरता का उन्होंने वामपक्ष के समर्थकों के साथ किया था, तो जर्मन फासिज्म का इतिहास बिल्कुल भिन्न होता।

युद्ध के परिणामस्वरूप श्रमिक अधिनायकवाद की भी स्थापना नहीं हो सकती। सामाजिक विकास में श्रमिक अधिनायकवाद एक आवश्यक चरण नहीं है। वह केवल कुछ विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियों का ही परिणाम नहीं होता, वह लेनिन जैसे महान् नेताओं का भी परिणाम नहीं होता है जो देश-काल-पात्र के अनुसार अपनी नीति का संचालन कर सकते हैं। आधुनिक शासन के संचालन की प्राविधिक परिस्थितियाँ कुछ ऐसी होती हैं कि युद्ध के परिणामस्वरूप श्रमिकों की विजय के साथ ही साथ बर्बरता के प्रत्यावर्तन की भी संभावना रहती है। श्रमिकों की विजय कई परिस्थितियों पर निर्भर होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक वर्ग के पास हथियार हों। उसका नेतृत्व एक ऐसे क्रांतिकारी दल के हाथ में रहना चाहिए जो अपने कार्य के लिए सब प्रकार से सक्षम हो। उसे इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि वह न केवल अपने विरोधियों के ऊपर ही जय पा सके प्रत्युत विदेशी हस्तक्षेप के दबाव को भी सह सके। उसे खाद्य-सम्भरण का अभाव नहीं रहना चाहिए। उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह नागरिक प्रशासन का पुनर्निर्माण कर सके। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाये, यह एक बहुत भारी

कार्य है और इसकी सफलता किसी चमत्कार से कम नहीं है। यदि कोई व्यक्ति रूसी क्रांति के इतिहास पर विचार करे तो वह यह निष्कर्ष अवश्य निकालेगा कि वहाँ श्रमिक अधिनायकवाद की स्थापना के दो मुख्य कारण थे। पहला कारण तो यह था कि रूस का पूँजीपति-वर्ग दुर्बल था। फलतः, वह क्रांतिकारी श्रमिक वर्ग का दृढ़ता से सामना नहीं कर सका। यदि क्रांति अन्य किसी महत्त्वपूर्ण देश में होती, तो उसका प्रतिरोध अधिक सबलता से हो सकता था। दूसरा कारण लेनिन था। वह न केवल शक्ति-संघर्ष का सबसे बड़ा नीति-विशारद ही था, प्रत्युत उसने श्रमिकों की शक्ति को सबसे अधिक दृढ़ भी किया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि क्रांतियाँ प्रथम कोटि के व्यक्तियों को सामने ला खड़ा करती हैं। लेकिन आधुनिक इतिहास में एक भी ऐसा व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ है जो अपनी व्यापक और विकट समस्याओं को हल करने में लेनिन की तरह सक्षम हो।^१

(५)

तब फिर, इस सबका निष्कर्ष क्या है ? मैंने जो कुछ विश्लेषण किया है उससे मुझे यह प्रतीत होता है कि आधुनिक राज्य में सफल क्रांति का होना कठिन है। कुछ असाधारण परिस्थितियों की बात छोड़कर वर्ग-सम्बन्धों में परिवर्तन तभी हो सकता है जब कि जनता इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता को मुक्त कंठ से स्वीकार करती हो। जबतक इस प्रकार की स्थिति नहीं है (जिसका इतिहास में एकमात्र उदाहरण रूस है) जहाँ घटनाक्रम ने विरोधी वर्ग को कार्यवाही की उत्प्रेरणा दी हो, इस प्रकार का परिवर्तन केवल एक ऐसी सरकार के द्वारा ही किया जा सकता है जिसकी पीठ पर प्रबल एवं दृढ़संकल्प लोकमत हो। इस पर भी, साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि उसे चुनौती मिलेगी और यदि उसे चुनौती मिलती है तो वह लोकतंत्र की परम्परागत प्रक्रिया द्वारा अपनी शक्ति को शायद ही बनाए रख सके। यदि उसके ऊपर कोई आक्रमण होता है, तो उसे अपनी जीवन-रक्षा के लिए निश्चिततः नियंत्रणों और दमन चक्रों का आश्रय लेना पड़ेगा।

इसलिए, यदि कोई दल समाज की आर्थिक बुनियादों को बदलना चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह जितने अधिक समय तक

१. इस विवेचन के लिए रेमांड पोस्टगेट द्वारा लिखित 'हाउ टु मेक ए रिबोल्यूशन' (१९३४) पुस्तक देखिए। इस सम्बन्ध में इस पुस्तक के दूसरे और दसवें अध्याय विशेष उपयोगी हैं।

के लिए हो सके, एक ऐसी वैधानिक व्यवस्था बनाए रखे जो उसे शक्ति-संग्रह का सुअवसर दे। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसे जर्मनी की भाँति एक ऐसे षड्यंत्र का रूप धारण करना पड़ेगा जिसमें सफलता की संभावनाएँ अनिश्चित होती हैं और उस राज्य के विनाश पर निर्भर रहती हैं जो उसे गुप्त रूप से कार्य करने के लिए विवश कर देता है। वैधानिकवाद की सीमाओं के अंदर उसकी सफलता जितनी द्रुत होगी, उतनी ही शीघ्रता से उसके विरोधी उस पर आक्रमण करने के लिए तत्पर होंगे। वे व्यक्ति जो अपनी किसी विश्वस्त व्यवस्था की बुनियादों के लिए कोई खतरा देखते हैं, ईमानदारी से यह मान लेते हैं कि यदि वे उसकी रक्षा के लिए कोई क्रांतिकारी कार्यवाही करते हैं तो ठीक ही करते हैं। इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध होने के पूर्व ग्यारह वर्ष तक चार्ल्स का वैयक्तिक शासन रहा था। होमरूल विधेयक के खतरे ने तुरन्त ही अल्स्टर-स्वयंसेवकों (Ulster Volunteers) को पैदा कर दिया था। सम्पत्तिशाली वर्ग का यह सामान्य इतिहास रहा है कि उसने अपनी रक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन आक्रमण को माना है। और, चूँकि, पूँजीवादी समाज में राज्य की शक्ति सम्पत्तिशाली वर्ग के हाथों में रहती है, अतः वह अपने विशेषाधिकारों को चुनौती देने वाले लोकतंत्र को नष्ट करने के लिए बड़ी सुगमता से उतारू हो सकता है।

इस विश्लेषण के अनुसार स्वतंत्रता का जिसकी मनुष्य इतनी अधिक उपासना करते हैं, शिथिल स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक समाज में स्वतंत्रता सुरक्षा का परिणाम होती है। जहाँ सुरक्षा को खतरा होता है वर्तमान व्यवस्था के पक्षपाती उसके अतिक्रमण को शिरोधार्य करने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करते। यदि कोई व्यक्ति फ्रांस की १७८९ और १७९२ की अवस्थाओं की और इंग्लैण्ड में पिट एवं सिडमाउथ के शासन-कालों की तुलना करे या आधुनिक अधिनायकवादी राज्यों में चाहे वे श्रमिक हों या फासिस्ट हों, स्वतंत्रता के प्रति अवज्ञा की भावना पर ध्यान दे, तो उसे मेरे कथन की सत्यता का ज्ञान हो जायेगा। स्वतंत्रता की रक्षा तभी हो सकती है जब कि प्रस्तावित परिवर्तन या तो सब की स्वीकृति से हों या वे इतने सीमित हों कि उनसे प्रभावित होने वाले व्यक्ति यह समझें कि शांति संघर्ष से श्रेयस्कर है। छोटे-छोटे सुधारों के सम्बन्ध में जिनका परिणाम सीमित होता है, उन्होंने यही समझा है। लेकिन उन परिवर्तनों के सम्बन्ध में जो वर्ग-सम्बन्धों के सम्पूर्ण आधार को ही बदलना चाहते हैं, उन्होंने यह शायद ही कभी समझा हो।

इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि चूँकि स्वतंत्रता सुरक्षा के ऊपर निर्भर है, अतः परिवर्तन के समर्थकों को, यदि वे स्वतंत्रता के लिए उत्सुक हैं, उसका

मूल्य अंदाज़ करना चाहिए। इसका अर्थ यह हो जाता है कि उस वर्ग को, जिसके हाथों में उत्पादन के साधन हैं उस समय तक अपने विशेषाधिकारों को बनाए रखने का अधिकार होना चाहिए जबतक कि वह नई समाज-व्यवस्था के अनुकूल न हो जाये। लेकिन, यह कोई ऐसा वचन नहीं है जिसे कि सुगमता से दिया जा सके। इसके कारण प्रतिधारकों (retainers) का एक ऐसा वर्ग-उठ खड़ा होता है जिसका राष्ट्रीय आय में अपने अंश के प्रति दावा राज्य के सद्विश्वास द्वारा स्वीकृत होता है। जबतक राष्ट्रीय स्वामित्व पुनर्गठन के लाभों को प्रकट नहीं करता, इसके परिणामस्वरूप राज्य द्वारा नियंत्रित उद्योग के मजदूरों की दशा में कोई सुधार नहीं हो सकता। यदि उनकी दशा में कोई सुधार किया भी जाता है, इसका व्यय-भार करदाताओं अथवा उपभोक्ताओं की क्षमता में सामान्य नागरिक समुदाय को ही सहन करना पड़ेगा। यदि अपनी सम्पत्ति के समपहरण (confiscation) के कारण पूंजीवादी वर्ग लड़ने के लिए तैयार हो जाता है, तो इस नीति का पालन ठीक नहीं है। अच्छा तो यही है कि यदि पूंजीवादी वर्ग स्वेच्छा से नई समाज-व्यवस्था स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो जाये, तो उसे काफी प्रतिकर दे दिया जाना चाहिए। लेकिन इस प्रतिकर को चुकाने की समस्या का समाधान बड़ा कठिन है। इससे एक ओर तो पूंजीवादी वर्ग के विशेषाधिकार बहुत कुछ यथापूर्व ही बने रहेंगे और दूसरी ओर नए शासन के ऊपर बहुत सा भार आ पड़ेगा। इसलिए, इस स्थिति में संभावना यही है कि इस समस्या के संतोषजनक समाधान का कोई आधार नहीं निकल सकेगा।

अतः, मेरा विचार है कि हमें एक ऐसे युग की प्राक्कल्पना कर लेनी चाहिए जिसमें हमारा स्वतंत्रता के प्रति उत्साह जो उन्नीसवीं शताब्दी की पाश्चात्य सभ्यता और विशेषकर ब्रिटिश सभ्यता का एक विशेष लक्षण है, शिथिल पड़ जायेगा। यह एक कठु सत्य है। स्वतंत्रता के प्रति हमारे दृष्टिकोण ने सहिष्णुता और अन्याय के प्रति रोष की भावना उत्पन्न की थी। यह मानव अंतरात्मा की बहुत बड़ी सफलता थी। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होंगे जो बायरन और शैली, हीन तथा विक्टर ह्यूगो के उस काव्य से जिसमें उन्होंने मानव-जाति को बंधनमुक्त होने का संदेश दिया है, प्रभावित न हो सकें। ऐसे व्यक्ति और भी कम होंगे जिन्होंने यह अनुभव न किया हो कि आस्ट्रिया के चंगुल से इटली की स्वतंत्रता, टर्की के अत्याचारों के विरुद्ध मुक्ति-आंदोलन, अमेरिका में दास-प्रथा का अंत और कॉमन-सभा में श्रमिक सदस्यों के प्रवेश जैसी घटनाओं ने सभ्यता की रत्न-मञ्जूषा में श्रीवृद्धि की है। लेकिन, फिर भी, हमारे युग में

यह बात स्पष्ट है कि उन मनुष्यों की ही संतानें जिन्होंने इन घटनाओं को बड़े उत्साह के साथ स्वीकार किया था, सम्पत्ति के अधिकारों के नाम में अपनी प्रगति के समस्त लाभों को नष्ट करने के लिए प्रस्तुत हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि हमारे स्वभाव में एक ऐसी नई बर्बरता आ गई है, जिसे हम अपने प्रिय सिद्धांतों के नाम में प्रदर्शित करते हैं। रूस, जर्मनी या अन्यत्र अधिनायकों द्वारा उन दलों का दमन जो उनकी विचारधारा को स्वीकार नहीं करते, जर्मनी में यहूदियों का दासत्व की स्थिति तक पहुँच जाना, राजनीतिक मतभेदों के परिणामस्वरूप होने वाला कल्पनातीत अत्याचार, और यह सब भी इतनी सुगमता से कि इसके विरोध में कोई शक्तिशाली आवाज तक न उठ सके; राज्यों की ऐसे भयंकर शस्त्रास्त्रों के सम्बन्ध में प्रतियोगिता जो कि मानव-जीवन की श्रेष्ठताओं के बिल्कुल विरुद्ध है—ये सब बातें एक ऐसे तमोयुग के आगमन की सूचना देती हैं जिसमें शायद शक्ति-प्रयोग के ऊपर ऐसे कोई नैतिक प्रतिबंध नहीं रहेंगे जिन्हें हम मानव-जाति की सुनिश्चित प्रवृत्ति का एक आवश्यक अंग मानने लग गए थे। मुसोलिनी के संकेत पर मैटियोटी (Matteotti) की हत्या हुई थी; लेकिन इससे इटली के अधिनायक के विरुद्ध केवल क्षणिक आक्रोश ही पैदा हुआ था। हिटलर ने अपने कुछ प्रमुख साथियों को बिना किसी अभियोग के मौत के घाट उतार दिया था। लेकिन कुछ प्रतिष्ठित न्यायशास्त्रियों ने इसे न्याय का साक्षात् रूप बताया और इसका समर्थन किया। आज पश्चिमी राज्यों के शासक खेद की बिना भावना के जान-बूझकर ऐसी सरकारों का संगठन कर रहे हैं जिन्हें हम ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्व के तानाशाहों अथवा मध्ययुगीन इटली के अत्याचारी शासकों के साथ समीकृत करते आये हैं। आतंकवाद शक्ति के राजमार्ग के रूप में समर्थित होता है और शक्ति को इतनी बड़ी अच्छाई समझा जाता है कि उसको प्राप्त करने के साधन चाहे कितने बर्बर हों, लोग उनका विरोध नहीं करते।

जब विचार संघर्ष के लिए शस्त्र-सज्जित हो जाते हैं, विवेक की आवाज सुनाई नहीं देती। जब शस्त्रों की झनझनाहट में विवेक की आवाज डूब जाती है, मनुष्य स्वतंत्रता की दलील को कभी नहीं सुनते। उस समय सहमति द्वारा शासन की प्रक्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। जो विजय प्राप्त करते हैं, उनके पास हथियार होते हैं और यह सदैव ही आवश्यक नहीं है कि हथियारों का होना श्रेयस्कर सिद्ध हो। जब किसी समाज-व्यवस्था का अंतकाल आ जाता है, उसकी यही स्थिति होती है। पुरानी व्यवस्था अपनी रक्षा के लिए बड़ी भयंकरता से लड़ती है और वह संघर्ष के परिणामों की ओर कोई ध्यान नहीं

देती। प्राचीन रोम में पैगनों (Pagans) ने ईसाइयों से इसी प्रकार युद्ध किया था; सोलहवीं शताब्दी के यूरोप में कैथोलिकों ने प्रोटेस्टेंटों से इसी प्रकार युद्ध किया था; अमेरिका के गृह-युद्ध में दक्षिणी अमेरिका ने उत्तरी अमेरिका से इसी प्रकार लड़ाई की थी; क्रांति के पूर्व रूस में ज़ारों ने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों का इसी प्रकार विरोध किया था। वे सत्ताधीश व्यक्ति जो अच्छाई के सम्बन्ध में किसी विचार के अभ्यस्त हो जाते हैं, उस विचार की रक्षा के लिए लड़ने को तो सदैव तैयार रहते हैं लेकिन वे यह कभी नहीं मानते कि उनका विचार आधुनिक समय की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं रहा है।

वे यह हीनता अथवा अरक्षा की भावना के कारण नहीं करते। वे यह इसलिए करते हैं क्योंकि अच्छाई और बुराई के सम्बन्ध में उनके विचार उनके वातावरण के परिणाम होते हैं। इस वातावरण में वे बाहरी विचारों को अपनी उन बुनियादों के लिए एक खतरा समझते हैं जिनको वे अपने अनुभव के कारण अपरिहार्य समझते हैं। जब बाहरी विचार उनकी बुनियादों के लिए कोई खतरा नहीं होते, वे सहिष्णु और उदार तक होते हैं। जब ये विचार उनकी बुनियादों के लिए एक खतरा होते हैं, वे अपनी रक्षा के लिए विचार-विमर्श के स्थान पर दमन का आश्रय लेना अधिक उपयुक्त समझते हैं। रेगिस्तान बना देना और फिर उसे शांति कहना, यह एक संश्लिष्ट समाज-व्यवस्था की सदैव ही नीति रही है। जिस साधन के द्वारा रेगिस्तान बनाया जाता है, वह सदैव ही राज्य की शक्ति रहा है।

यही कारण है कि समताहीन समाज में राज्य की शक्ति सदैव ही उन लोगों का दमन करती है जो कि उसके विशेषाधिकारों से वंचित होते हैं। यही कारण है कि जो वंचित होते हैं वे सदैव ही इस शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं जिससे कि उन्हें भी विशेषाधिकारों का लाभ मिल सके। लेकिन, इतिहास में अब तक ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें कि वंचित लोगों ने राज्य की शक्ति केवल वैधानिक उपायों द्वारा प्राप्त की हो। राज्य की संस्थाओं ने सदैव ही उन लोगों का हित-साधन किया है जिनके हाथों में उत्पादन के साधन रहते हैं। राजनीतिक संस्थाएँ सदैव ही एक ऐसी ढाल के समान रही हैं जिसके द्वारा सम्पत्तिशाली वर्ग ने अपने विशेषाधिकारों की रक्षा का प्रयास किया है। जब कभी राजनीतिक संस्थाओं ने सम्पत्तिशाली वर्ग के अधिकारों को चोट पहुँचाई है, इस वर्ग ने उनको अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल संशोधित करने का प्रयास किया है। उसने सदैव ही ऐसे तर्क उपस्थित किए हैं जिनके आधार पर इस प्रकार की चेष्टा को उचित सिद्ध किया जा सकता

है। उसने यह दिखाने का प्रयास किया है, जैसा कि हिटलर ने जर्मनी में किया है कि इस प्रकार के संशोधन से सम्पूर्ण समाज का भला होता है। जहाँ यह संशोधन सफलतापूर्वक हो जाता है जैसा कि जर्मनी और इटली में हुआ है, वहाँ यह स्पष्ट होता है कि चाहे जो कुछ कहा जाये और जितनी भी ईमानदारी से कहा जाये, समाज के परम्परागत वर्ग-सम्बन्ध यथापूर्व कायम रहते हैं।

इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय यह रहा है कि राज्य का प्रमुख कार्य सदैव ही एक दी हुई व्यवस्था के वर्ग-सम्बन्धों की रक्षा करना होता है। जहाँ समाज आर्थिक वर्गों में विभाजित होता है और ये वर्ग उत्पादन-साधनों के स्वामित्व के विचार से एक दूसरे से भिन्न होते हैं, राज्य वर्गों को अंत करने के मार्ग में एक बाधा बन जाता है। पूँजीवादी सम्यता में राज्य का सिद्धांत यह हो जाता है कि उत्पादन के साधनों पर समाज का नियंत्रण न होने पाये। जहाँ यह सम्यता धनी अथवा विस्तारशील होती है, वह जनता को ऐसी रियायतें दे सकती है जिनसे कि विभिन्न स्वार्थों का विरोध-भाव दूर हो जाये। लेकिन जब सम्यता आधुनिक युग की भाँति संकटग्रस्त होती है, वर्गों का विरोध-भाव नग्न रूप में सामने आ जाता है और राज्य पूँजीवाद की बुनियादों की रक्षा करने लगता है।

मैंने यह निवेदन किया है कि जो लोग ऐसा करते हैं, वे केवल स्वार्थवश ही ऐसा नहीं करते। अपने विरोधियों की भाँति उनका भी यह विश्वास होता है कि हम समाज की भलाई के लिए कार्य कर रहे हैं। उनके सिद्धांतों का एक दूसरे से विरोधी होने का कारण यह है कि उनके अनुभव और वातावरण एक दूसरे से भिन्न होते हैं और वे सामाजिक हित के सम्बन्ध में एक दूसरे से भिन्न विचार रखते हैं। सामाजिक विकास में जब यह मतभेद उग्र हो जाता है, समाज के सदस्यों के सामने केवल दो ही विकल्प रह जाते हैं—या तो वे झुकें या लड़ाई के लिए तैयार रहें। अब तक का इतिहास यही प्रकट करता है कि यदि किसी वर्ग ने राज्य में अपनी स्थिति की आधारभूत पुनर्व्यवस्था करनी चाही है, तो उसने अपने उद्देश्य को सदैव ही हिंसक क्रांति द्वारा प्राप्त किया है। मैंने यहाँ, यह निवेदन किया कि आधुनिक युग में ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि हमारा अनुभव भूतकालीन अनुभवों से किसी प्रकार भिन्न होगा।

मैंने यहाँ यह अस्वीकार किया है कि हिंसक क्रांति के परिणामस्वरूप उस पक्ष की विजय अवश्यम्भावी है जो कि एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहता है। मेरा विचार है कि इस पक्ष की विजय केवल कुछ असामान्य

परिस्थितियों में ही संभव है, लेकिन वर्तमान काल में इस प्रकार की परिस्थितियाँ बहुत कम दिखाई देती हैं। मैंने विशेष रूप से यह प्रकट करने का प्रयास किया है कि पूँजीवादी समाज का लोकतन्त्रात्मक राज्य के साथ सहयोग इस बात की कोई निश्चित संभावना प्रदान नहीं करता कि पूँजीवाद के संकट-काल में लोकतन्त्रात्मक विचार की निश्चिततः रक्षा हो सकेगी। यह संयोग कुछ विशेष आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। इंग्लैण्ड और फ्रांस में सामन्तवादी राज्य को मध्यवर्ग एवं श्रमिक वर्ग के सहयोग द्वारा ही नष्ट किया जा सका था। इस सहयोग के लिए मध्यवर्ग को लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं की कीमत चुकानी पड़ी थी। विस्तार के एक लम्बे काल ने दोनों मित्रों के विरोधों को छिपा दिया था। चूँकि अब संकुचन का समय आ गया है, अतः दोनों वर्गों का अन्तर्विरोध दिन-प्रति-दिन स्पष्ट होता जा रहा है। चूँकि राजनीतिक लोकतन्त्र आर्थिक क्षेत्र में अनुपस्थित होने के कारण अधूरा है और आर्थिक क्षेत्र ही वास्तविक शक्ति का एवं मध्यवर्ग की प्रधानता का क्षेत्र है, अतः पूँजीवाद और लोकतन्त्र का सहयोग अब समाप्त होता जा रहा है। संक्षेप में, एक ऐश्वर्य-परायण समाज में जो अब पूँजीवाद के विकास के फलस्वरूप अस्तित्व में आ गया है, लोकतन्त्रात्मक राज्य धनिक लोगों और उनके आश्रितों की शक्ति का आवरण बन जाता है तथा ये लोग उसे अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए विशेष उपयोगी नहीं पाते। कोई भी राजदर्शन ऐसी राज्य-शक्ति के सिद्धांत के साथ नहीं निभ सकता जिसे कि समाज के सर्वांगीण हित का एक साधन माना जाये। जबतक राज्य आर्थिक वर्गों में विभक्त समाज का प्रतिनिधान करता है, वह सदैव ही उस वर्ग का अनुचर होता है जिसके हाथों में उत्पादन के साधन होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी राज्य उस समय तक सम्पूर्ण समाज का भला नहीं कर सकता जबतक कि उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का नियंत्रण नहीं होता। ऐसा होने पर ही राज्य की शक्ति समाज के प्रत्येक सदस्य के स्वार्थों की निष्पक्ष रीति से रक्षा कर सकती है। इस स्थिति में ही उसकी आवश्यकताओं पर वर्गगत आधार पर नहीं, प्रत्युत मानवीय आधारों पर विचार किया जा सकता है और उन्हें पूरा किया जा सकता है। वास्तव में, ऐसा ही समाज एक समतायुक्त समाज हो सकता है। इस समाज में व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति उनकी सत्ता के आधार पर नहीं होती प्रत्युत इस आधार पर होती है कि वे समाज की कहाँ तक सेवा कर सकते हैं। एक समतायुक्त समाज अपने जीवन का संगठन कुछ इस रीति से कर सकता है कि वह अपने उत्पादन के साधनों से अधिकतम लाभ उठा सके। अन्य किसी प्रकार

के समाज में राज्य का स्वरूप इस उद्देश्य की प्राप्ति में बाधा बन जाता है।

हीगेल ने लिखा था, “एक सच्चे राज्य और सच्चे शासन का निर्माण तभी होता है जब कि समाज में वर्गों के बीच अंतर होता है, अमीरी और गरीबी दोनों बहुत अधिक होती हैं और स्थिति ऐसी हो जाती है कि वे लोग जो अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के अभ्यस्त होते हैं, भविष्य में ऐसा नहीं कर पाते।” स्पष्ट है कि ऐसा राज्य अपनी उत्पत्ति के कारण वर्गों के इस अंतर का अतिक्रमण नहीं कर पाता। वस्तुतः, वह तो अपनी उत्पत्ति के कारण निर्धनों के विरुद्ध धनिकों की रक्षा में प्रवृत्त हो जाता है। प्रो० जीज़ ने लिखा है, “इतिहास से प्रकट होता है कि प्रत्येक सामाजिक वर्ग राजनीतिक शक्ति का स्वामी बनते ही उसे अपने विशिष्ट स्वार्थों के पक्ष में प्रयुक्त करने लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह इस कार्य को सद्भावना के साथ करता है। यही कारण है कि वह अपने स्वार्थ को सम्पूर्ण समाज का स्वार्थ कहता है।” जो राज्य लोकतन्त्रात्मक नहीं है, उसमें यह बिल्कुल स्पष्ट है। यह बात सही लोकतन्त्रात्मक राज्य के बारे में भी है। लेकिन यहाँ यह वैशिष्ट्य है कि जिन लोगों के हाथों में उत्पादन के साधन नहीं हैं, वे अपने दावों को अन्य किसी राजनीतिक व्यवस्था की अपेक्षा अधिक प्रबलता के साथ प्रस्तुत कर सकते हैं।

यही कारण है कि राज्य के चाहे दावे कुछ भी हों, वह एक ऐसी बलप्रवर्ती सत्ता प्रतीत होता है जो कि आर्थिक शक्ति के स्वामियों की सेवा करता है। यदि यह शक्ति हमारी तरह केवल थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होती है, तो राज्य की शक्ति भी उन्हीं व्यक्तियों का हित-साधन करती है। यह शक्ति समाज के वर्ग-सम्बन्धों को निश्चित करती है और यह तय करती है कि आर्थिक प्रक्रिया द्वारा किए गए उत्पादन में मनुष्यों का क्या उचित अंश हो। संक्षेप में, कोई भी राज्य अपने आर्थिक सिद्धांतों के निष्कर्षों का अतिक्रमण नहीं कर सकता। ये सिद्धांत उसकी समस्त कार्यवाहियों का स्वरूप निश्चित करते हैं। वास्तविक जीवन में राज्य का व्यवहार इन्हीं सिद्धांतों के अनुसार संचालित होता है। जबतक समाज के आर्थिक सिद्धांतों में कोई परिवर्तन नहीं होता, राज्य के व्यवहार में भी कोई परिवर्तन संभव नहीं है।

सामाजिक इतिहास में यह परिवर्तन सबसे जटिल और कठिन होता है। यह मनुष्य की गहनतम भावनाओं से सम्बन्ध रखता है। यह उनकी मूलभूत प्रवृत्तियों, सुरक्षा के भाव और अच्छाई के सम्बन्ध में उनके विचारों को जिनके वे दीर्घकाल से अभ्यस्त हो गए हैं, स्पर्श करता है। इस परिवर्तन को संकट-काल

में शांतिपूर्ण रीति से करने के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि भावनाओं पर बुद्धि की विजय हो। इतिहास में इस प्रकार के अनुभव दुर्लभ ही होते हैं। संभवतः हमें यह अनुभव प्राप्त नहीं हो सकेगा क्योंकि इस परिवर्तन से समस्त सामाजिक सम्बन्धों के मूलतत्त्व पर प्रभाव पड़ता है। संस्थाओं का शांतिपूर्ण विकास तभी हो सकता है जब कि मनुष्य अपने उद्देश्यों के सम्बन्ध में सहमत हो सकें। उनकी दृढ़ता इसी सहमति का परिणाम है। यह सहमति केवल शाब्दिक ही नहीं होनी चाहिए। यह औसत स्त्री-पुरुष के जीवन में उतरनी चाहिए। हमें चारों ओर इस बात के संकेत दिखाई दे रहे हैं कि यह सहमति अब संभव नहीं है। हम इतिहास के एक ऐसे कठिनकाल में पहुँच गए हैं जब कि हमें सामाजिक नीति की पुनर्व्याख्या करनी है। भूतकाल की परम्परागत आदतें हमारी आँखों के सामने नष्ट हो रही हैं और उनके नष्ट होने के साथ-ही-साथ उन सामाजिक सम्बन्धों को भी एक भयंकर चुनौती मिल रही है जिनके ऊपर कि वे आधारित थीं।

आधुनिक इतिहास में ऐसे दो युग हो चुके हैं जब कि मानव-जाति को एक ऐसी चुनौती का सामना करना पड़ा था। धर्म-सुधार-आंदोलन ने मध्ययुग के एक ईसाई-राष्ट्रसंघ के सिद्धांत को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और उसके विनाश के उपरांत समाज में धर्म के स्थान पर लौकिकता की प्रधानता हुई। यह परिवर्तन नए वर्ग-सम्बन्धों का सूचक था। इन वर्ग-सम्बन्धों की उत्पत्ति का कारण यह था कि सामंतवादी व्यवस्था समाज की छिपी हुई उत्पादन-शक्ति का पूरा सदुपयोग नहीं कर सकती थी। धर्म-सुधार-आंदोलन ने जिस राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना की थी, उसमें उसने पूँजीपतियों को अच्छा स्थान दिया। लेकिन अभी पूँजीपति-वर्ग अपने उद्देश्य को पूरी तरह से प्राप्त नहीं कर सका था। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की राज्य-क्रांति ने मध्यवर्ग को अपना मुक्ति-आंदोलन पूरा करने दिया। प्रत्येक स्थिति में नवीन आर्थिक आवश्यकताओं ने समस्त सामाजिक मूल्यों को बदला। प्रत्येक स्थिति में प्राचीन और नवीन के बीच घनघोर संघर्ष हुआ था, तब कहीं जाकर उद्देश्य सिद्ध हो सका था। आज हम जिस व्यवस्था के अंग हैं, उसे प्राचीन व्यवस्था के जाल से पूरी स्वतंत्रता प्राप्त करने में तीन शताब्दियों से अधिक का समय लग गया।

अब हम एक बार फिर अपने सामने नई व्यवस्था का प्रारम्भ देख सकते हैं। अब एक बार फिर आर्थिक प्रक्रिया का उन राजनीतिक संस्थाओं के साथ निर्वाह नहीं हो सकता जिनमें वह बँधी हुई है। अब हमने एक बार फिर वर्तमान तथ्य एवं ऐतिहासिक विचार के संघर्ष को प्रारम्भ कर दिया है जिसके

परिणामस्वरूप शासन-सिद्धांतों का पुनर्निर्माण हुआ करता है ।

ऐसी स्थिति में राजनीतिक दर्शन का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह राज्य के सैद्धान्तिक स्वरूप का नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक स्वरूप का भी परीक्षण करे । राज्य का वास्तविक स्वरूप उसकी घोषणाओं से नहीं, प्रत्युत उसकी क्रियाओं से ज्ञात होता है । अब तक राजनीतिक दर्शन ने व्याख्या कम की है, समर्थन अधिक किया है । वह भविष्य की मुक्ति का पथ प्रशस्त करने की अपेक्षा भूत-काल की रक्षा करने में अधिक दत्तचित्त रहा है । अब तो उपयुक्त राजदर्शन का आधार यह होना चाहिए कि राज्यों की आर्थिक शक्ति हमारी आवश्यकताओं के विश्व आर्थिक तंत्र के बिल्कुल प्रतिकूल है । उसे यह प्रकट करना चाहिए कि राज्य उन वर्ग-सम्बन्धों का संरक्षक है जो हमें एक समृद्धतर सम्यता से वंचित करते हैं ।

इन विचारों को निर्णायक रूप देने में काफी समय लगेगा और यह एक कठिन कार्य सिद्ध होगा । उन समस्त संस्थाओं में जिनका भूतकाल गौरवपूर्ण रहा है, अपने पतन-काल में भी यह सामर्थ्य होती है कि वे अपने उत्तराधिकारियों के आगमन में देरी लगा दें । चूंकि हम इन संस्थाओं के दीर्घकाल से अभ्यस्त रहे हैं, इसलिए वे हमें बहुत घनिष्ठ और प्रिय लगने लगी हैं । यदि हम उनसे बिछुड़ते हैं, तो हमें क्लेश-सा होता है । उनसे दूर हटने के लिए जिस साहस की आवश्यकता है, वह भी दुर्लभ है । लेकिन प्रगति का एकमेव मार्ग यही है कि हम उनसे दूर होने का प्रयास करें । मानव की जययात्रा को सृजनात्मक गौरव देने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

